डॉ० शिवप्रसाद सिंह

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

प्रथम संस्करण : अक्तूबर १९५८ ई०
मूल्य : १२.५०

भारत-सरकार द्वारा प्रदत्त शोध छात्रवृत्ति (स्कालरि
इन ह्यूमैनिटीज़—१९५४–५६) के अन्तर्गत निर्मि
और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की १९५७ ई०
पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व ब्रजभाषा के उन अज्ञात लेखकों की स्मृति में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन के निर्माण के लिए नींव में दब गईं।

भूमिका

सूरदास के मनोहर काव्य से हिंदी का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है। सूरदास और
समकालीन भक्तों ने बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित ब्रजभाषा का प्रयोग किय
निस्संदेह उन्होंने ऐसी काव्य-भाषा का एकाएक आविष्कार नहीं किया होगा। उसमें
लिखने की परंपरा बहुत पुराने काल से चली आती रही होगी। केवल काव्य-भाषा के
में ही वह पुरानी परंपरा का वाहक नहीं रही होगी, उसमें छंद, अलंकार और रस-
ग्रंथ भी बन चुके होंगे। जिन लोगों ने हिंदी भाषा के स्वरूप पर विचार किया है वे मा
कि साहित्य के उत्तम वाहन के रूप में ब्रजभाषा सूरदास से बहुत पहले ही चल निकली
परन्तु उस पुरानी भाषा का क्या स्वरूप था, उसमें कैसे काव्यरूप प्रचलित थे, अपभ्र
प्राप्त रचनाओं से उस पुरानी भाषा का क्या संबंध था इत्यादि बातों पर अभी तक व्य
और प्रामाणिक रूप से विचार नहीं हुआ। एक तो ब्रजभाषा के क्षेत्र में लिखी गई
प्राचीन रचना का पता नहीं चलता, दूसरे जो कुछ सामग्री मिलती है उसकी प्रामा
संदेह से परे नहीं है। इस विषय में इसीलिए कोई महत्त्वपूर्ण विवेचन नहीं हो सका।

इधर जब से विश्वविद्यालयों में व्यवस्थित रूप से शोधकार्य होने लगा है तब से
सामग्रियों की खोज भी प्रगति कर रही है। काशी नागरी प्रचारणी सभा लगभग ६० व
अप्रकाशित हिन्दी पुस्तकोंकी खोज का महत्त्वपूर्ण कार्य करती आ रही है। इधर उत्तर प्र
सिवा राजस्थान, बिहार आदि राज्यों में भी खोज का कार्य आरंभ हुआ है। अपभ्रं
पुरानी हिंदी के अनेक दुर्लभ ग्रंथों के सुसंपादित संस्करण भी प्रकाशित होते जा रहे हैं
समय देश के विभिन्न केन्द्रों से उत्साह-वर्धक समाचार मिल रहे हैं। जो लोग पुरानी हि
विविध पक्षों का अध्ययन कर रहे हैं वे अब उतने असहाय नहीं हैं जितने आज से कु
पूर्व के विद्वान थे।

था, यह तो सभी मानते आए हैं पर उसका प्रामाणिक और व्यवस्थित विवेचन नहीं हुआ था। जिस समय मैंने शिवप्रसादजी को यह काम करने को दिया था उस समय कई मित्रों ने आशंका प्रकट की थी कि इस संबंध में सामग्री बहुत कम मिलेगी। परन्तु मैंने उन्हें साहस पूर्वक काम में लग जाने की सलाह दी। शिवप्रसादजी लगन और उत्साह के साथ काम में जुट गए। शुरू शुरू में ऐसा लगा कि मित्रों की आशंकाएँ ही सही सिद्ध होंगी, परन्तु जैसे-जैसे काम बढ़ता गया, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता गया कि आशंकाएँ निराधार थीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी का यह कार्य विद्वज्जन को सन्तोष देने योग्य सिद्ध हुआ है। इस कार्य को पूरा करने में कई कठिनाइयाँ थीं। विभिन्न ज्ञात-अज्ञात भांडारों से पूर्व-सूर्य ब्रजभाषा की सामग्री ढूँढ़ना और फिर उसका भाषा और साहित्य शास्त्र की दृष्टि से परीक्षण करना एक अत्यन्त श्रम-साध्य कार्य था। शिवप्रसादजी ने केवल नई सामग्री ही नहीं ढूँढ़ निकाली है, पुराने हिंदी साहित्य और भाषा-विषयक अध्ययन को नया दृष्टिकोण भी दिया है। उन्होंने युक्ति और प्रमाण के साथ यह सिद्ध किया है कि १००० ईस्वी के आसपास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्म-भूमि में जिस ब्रजभाषा का उदय हुआ, आरंभ में, उसके सिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परंपरा तथा अन्य सामाजिक तत्वों का ओज और बल था। यह भाषा चौदहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश-बहुल संज्ञा शब्दों और प्राचीन काव्य प्रयोगों के आवरण से ढँकी रहने के कारण परवर्ती ब्रजभाषा से भिन्न प्रतीत होती है पर भाषा वैज्ञानिक कसौटी पर यह निस्संदेह उसी का पूर्वरूप सिद्ध होती है। कभी-कभी इन तद्भव शब्दों और प्राचीन प्रयोगों के कारण भ्रम से इस भाषा को 'डिंगल' मान लिया जाता है। इस प्रसंग में डिंगल और पिंगल भाषाओं के अन्तर को स्पष्ट करने में भी शिवप्रसादजी ने बहुत सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उन्होंने प्राकृत पैंगलम्, पृथ्वीराज रासो और औक्तिक ग्रंथों में प्रयुक्त होनेवाली ब्रजभाषा के विभिन्न स्वरूपों का बहुत अच्छा विवेचन किया है। औक्तिक ग्रंथों की भाषा का विश्लेषण करने के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इन ग्रंथोंकी भाषा लोकभाषा की आरंभिक अवस्था का अत्यन्त स्पष्ट संकेत करती है। *इस भाषा में वे सभी नये तत्व : तत्सम प्रयोग, देशी क्रियाएँ, नये क्रिया-विश्लेषण, संयुक्तकालादि के क्रिया रूप अपने सहज ढंग से विकसित होते दिखाई पड़ते हैं। यह भाषा १४वीं शती के आस-पास मुसलमानों के आक्रमण और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के दोहरे कारणों से नई शक्ति, और संघर्ष से उत्पन्न प्राणवत्ता लेकर बड़ी तेजी से विकसित हो रही थी, १४वीं के आस-पास इसका रूप स्थिर हो चुका था।*

मैंने 'हिंदी साहित्य का आदि काल' में लिखा था कि 'सही बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश भाषा के उस रूप का प्राधान्य रहा है जिनमें

तद्भव शब्दों का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली-सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शांकर मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जो मंथन किया है उससे यह व्यक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्‌बोधक परिचय दिया है। इस निबंध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये ब्रजभाषा-साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की ब्रजभाषा की त्रुटित शृंखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबंध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का ब्रजभाषा-काव्य सूरदास के पूर्व आरंभ हो चुका था जिसका संकेत प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रंश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम-परक प्रसंगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओं से मिलता है। जैन-काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा के जैन-काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

ब्रजभाषा के साहित्य-रूप ग्रहण करने और विभिन्न भौगोलिक और साहित्यिक क्षेत्रों में उसके प्रतिष्ठित होने का इतिहास भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिवप्रसादजी ने अनेक प्रकार के काव्यरूपों के उद्भव और विकास की बात युक्ति और प्रमाणों के बल पर समझाई है। चरित, कथा, वार्ता, रासक, बावनी, लीला, बिवाहलो, वेलि आदि अत्यन्त प्रसिद्ध काव्यरूपों का विस्तृत अध्ययन करके उन्होंने मध्यकालीन काव्यरूपों के अध्ययन को नई दिशा प्रदान की है। अब हम सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा के निश्चित रूप को अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकते हैं। परिशिष्टमें इस साहित्य की जो बानगी दी गई है वह स्पष्ट रूप से सूर-पूर्व ब्रजभाषा-साहित्य की समृद्ध परंपरा की ओर इंगित करती है।

इस प्रकार डॉ० शिवप्रसाद सिंह द्वारा प्रस्तुत यह प्रबन्ध सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का बहुत सुन्दर विवेचन उपस्थित करता है। मेरे विचार से यह निबंध हिन्दी के पुराने साहित्य और भाषा रूप के अध्ययन का अत्यन्त मौलिक और नूतन प्रयास है। इससे लेखक की सूक्ष्मदृष्टि, प्रौढ़ विचारशक्ति और मौलिक अन्वेषण प्रतिभा का परिचय मिलता है।

मुझे इस निबंध को प्रकाशित देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। मेरा विश्वास है कि सहृदय विद्वान् इसे देखकर अवश्य प्रसन्न होंगे। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि आयुष्मान् श्री शिवप्रसाद अधिकाधिक उत्साह और लगन के साथ नवीन अध्ययनों द्वारा साहित्य को समृद्ध करते रहें।

काशी
दीपावली, सं २०१५

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यंत अस्पष्ट और कुहाच्छन्नप्राय रहा है। सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रेमी चित्त को उल्लास और गर्व का अनुभव भले ही होता हो, जो स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवेशी और भाषा-विकास के अनुसंधित्सु निरंतर उस टूटी हुई शृंखला के संधान की आशा से परिचालित होते रहे हैं जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलवती नहीं हुई क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक के ब्रज-साहित्य का संधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात-अविज्ञात भांडारों में ही हो सकता था जो अद्यावधि अव्यवस्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय में अकल्पनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५३ में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूर-पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के संधान का यह कार्य मुझे सौंपा तो मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय में किंचित् आशान्वित जरूर था; किन्तु अपनी सीमित शक्ति और भांडारों में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुटकों में से सूर-पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न-भिन्न लिपियों में लिखे इन अवाच्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकीलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह-हीन हो पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्व मंदिर के सम्मान्य संचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के संचालक श्री अगरचन्द नाहटा, श्रीकुंज मथुरा के श्री ब्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भांडारों के उत्साही जनों ने यदि मेरी सहायता न की होती, तो ब्रजभाषा की इस त्रुटित कड़ी को जोड़ने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी संभव न हो पाता।

हस्तलेखों में प्राप्त सामग्री के अलावा सूर-पूर्व ब्रजभाषा से संबद्ध प्रकाशित सामग्री का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना संभव नहीं है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप-निर्धारण के समय परवर्ती ब्रजभाषा से उसके संबंधों का निरूपण करते समय डा० धीरेंद्र वर्मा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र करने में अन्य भी कई सज्जनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

बिरंचिकुमार बरुआ ने शंकरदेव के 'बरगीतों' के विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातें बताईं। कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी के अधिकारियों ने डा० जे० आर० बैलन्टाइन के अप्राप्य ब्रजभाषा व्याकरण की प्रतिलिपि करने की आज्ञा प्रदान की। मुनिजिन विजय जी ने कई ज्ञात-अज्ञात कर्तृक-औक्तिक-रचनाओं के हस्तलेख और छपे हुए मूल-रूप (जो तब तक प्रकाशित नहीं थे) भेजकर लेखक को प्रोत्साहित किया है इन सभी सज्जनों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस ग्रंथ प्रणयन के समवाय कारण रहे हैं। उनके स्नेह-सौजन्य के लिए धन्यवाद देना मात्र औपचारिक अथच अक्षम्य धृष्टता होगी।

दो शब्द प्रबंध के विषय में भी कहना अप्रासंगिक न होगा। नाम से लगता है कि यह प्रबंध दो भागों में विभाजित होगा, भाषा और साहित्य। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रबंध भाषा और साहित्य के दो अलग-अलग खंडों में विभाजित नहीं है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा और इसके साहित्य का क्रमबद्ध धारावाहिक विवरण और विवेचन इस प्रबंध का उद्देश्य रहा है, इसलिए विषय के पूर्ण और सांग अवगमन के लिए दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा साहित्य को तीन भागों में बांट दिया गया है। उदय काल, संक्रान्ति काल और निर्माण काल। दसवीं शताब्दी से पहले की मध्यदेशीय भाषाओं का अध्ययन ब्रजभाषा के रिक्थ-क्रम के रूप में उपस्थित किया गया है। कालानुसारी क्रम से कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय यथास्थान दिया गया है, तथा वहीं उनके काल-निर्णय और जीवन-वृत्तादि के विषय में विचार किया गया है। आवश्यकतानुसार स्फुट रूप से उनकी भाषा के बारे में भी यत्किंचित संकेत दिया गया है। इन तीन स्तरों में विभक्त सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का कालक्रम से विश्लेषण देने के साथ ही उनके परस्पर सम्बन्धों और तन्निहित एकसूत्रता को दर्शाने का प्रयत्न किया गया है। अध्याय तीन और चार में ब्रजभाषा के उदय और संक्रान्तिकालीन अवस्था का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अध्याय छह में १४वीं से १६वीं शताब्दी के बीच लिखित हस्तलेखों के आधार पर आरंभिक ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप का विवेचन है। अन्त के दो अध्यायों में सूर-पूर्व ब्रजभाषा की प्रमुख काव्य-धाराओं और काव्य रूपों का आकलन और मूल्याङ्कन उपस्थित किया गया है।

इस प्रबंध के प्रकाशन में श्री कृष्णचन्द्रबेरी ने जो तत्परता दिखाई है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। भारतीय ज्ञानपीठ के व्यवस्थापक श्रीबाबूलाल जी जैन फागुल्ल ने मुद्रण में असाधारण धैर्य और उत्साह का परिचय दिया है इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियाँ, काफी सावधानी के बावजूद, रह गई हैं, आशा है उन्हें विज्ञ पाठक सुधार लेंगे।

हिन्दी विभाग
का० वि० वि० वाराणसी
२६ अक्टूबर १९५८

शिवप्रसाद सिंह

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

"इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांग पूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियाँ सूर का जूठी सी जान पड़ती हैं अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य-प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (Dialectos Praecipua) कहा है। इसे वे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं।[1] अष्टछाप के कवियों की रचनाओं का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए। डा० चाटुर्ज्या ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के उत्तर एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक कौतूहल का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक

---

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the dialectos praecipua and may well be considered as typical of Midland Language on the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP. 13

प्रयोग की भाषा बन गई। यदि हम उत्तर भारत के उस काल की किसी भाषा को 'बादशाही बोली' कहना चाहें तो वह निश्चय ही ब्रजभाषा होगी।'[1] इस प्रकार ब्रजभाषा भक्त कवियों की वाणी के रूप में जन-सामान्य के लिए आदर और श्रद्धा की वस्तु बनी तो साथ ही अपनी मधुरिमा और संगीतमयता के कारण वह अकबर जैसे राजपुरुषों को आकृष्ट करके उच्च वर्ग के लोगों से भी सम्मान पा सकी। यह ब्रजभाषा का अपूर्व प्रभाव था कि पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यदेश और बंगाल के कवियों ने समान रूप से इसमें रचनाएँ कीं। इसका एक मिश्रित रूप ब्रजबुलि के नाम से पूर्वी प्रदेशों में साहित्यिक भाषा के रूप में बहुत दिनों तक प्रचलित रहा। बंगाल के गोविन्ददास और ज्ञानदास जैसे मध्यकालीन कवियों ने तो इस भाषा में कविताएँ लिखीं ही, परवर्ती काल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसके माधुर्य से आकृष्ट हुए बिना न रहे, उन्होंने 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' नाम से ब्रजबुलि के पदों का एक संग्रह प्रस्तुत किया। डा० चाटुर्ज्या इस ब्रजबुलि के बारे में लिखते हैं कि 'ये कविताएँ इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि एक कृत्रिम भाषा को समूचे लोग काव्य-लेखन का माध्यम बना सकते हैं। बंगाल में इस भाषा की स्थिति की तुलना मध्यदेश के बाहर प्रचलित शौरसेनी अपभ्रंश और पिंगल से की जा सकती है।'[2] यह था ब्रजभाषा का प्रभाव १७ वीं शताब्दी में जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत को कृष्ण काव्य की एक नई चेतना से परिस्फूर्त कर दिया था।

§ २. १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विकसित होने वाली ब्रजभाषा का आरम्भ सूरदास के प्रादुर्भाव के साथ ही माना जाता है। सामान्यतः सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि कहा जाता है। इस प्रकार विक्रमी १५८० के आसपास से हम ब्रजभाषा का आरम्भ मानते रहे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूरसागर की भाषा के प्रसंग में इस मान्यता पर कुछ संकोच और द्विविधा व्यक्त की है। उन्होंने लिखा कि 'इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।'[3] शुक्लजी के मन में सन्देह स्पष्ट है। वे प्रमाणों के अभाव में सूरसागर को ब्रजभाषा की पहली रचना मानने के लिए विवश थे किन्तु इतनी परिमार्जित भाषा को इतनी उत्कृष्ट रचना का आकस्मिक उदय स्वीकार करना उन्हें उचित न लगा। परिणामतः उन्हें एक गीत-काव्य-परम्परा—भले ही वह मौखिक रही हो—की कल्पना करनी पड़ी। यह उनकी विवशता थी; किन्तु इसके पीछे उनका प्रबल सत्याभिनिवेश तो प्रकट होता ही है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने आदिकाल की यत्किंचित् प्राप्त सामग्री का विवेचन किया और ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस सामग्री का परीक्षण करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल से हमें कोई ऐसी विश्वस्त सामग्री नहीं मिलती जो

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४ पृ०, ९०

2. Origin and Development of Bengali Language, Calcutta, 1926, PP 103-4

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवां संस्करण, २००९ पृ० १६५

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।[1] वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वीराज-रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं; जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'संदेहात्मक और विवादग्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्तन की व्यवस्था करने का संकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'[2] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,'[3] हालां कि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकांश भाग में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हदतक पञ्जाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'[5] डा० ग्रियर्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्दबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिल्कुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।'

§ ३. उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४. आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-संकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध थी, इसलिए उसके परीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिश्रित,' 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा-परम्परा छान्दस् या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अपभ्रंश तक प्रायः अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस महती परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

१. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० २०
२. वही पृ० २१-२२
३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १२५
४. वही पृ० १८६
5. Linguistic Survey of India, Vol IX Part I P. 71-73

गौरवमयी परम्परा की शृंखला बीच में खंडित और त्रुटित रूप में प्राप्त होती है। मेरा विचार है कि ऐसी बात नहीं है। परिश्रम किया जाय तो इस भूले हुए इतिहास का पुनर्गठन सम्भव है। इस निबन्ध में इसी त्रुटित शृंखला को जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा का अर्थ १०००–१६०० विक्रमी की आरम्भिक ब्रजभाषा से है। वैसे सूरदास का आविर्भाव १६वीं शती के उत्तरार्ध में हुआ। किन्तु जैसा डा० दीनदयाल गुप्त ने ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर सिद्ध किया है कि अष्टछाप के कवियों की स्थिति श्रीनाथजी के मन्दिर में १६०६ से १६३५ तक थी[1] इसलिए सूर-पूर्व का अर्थ साधारणतः १६०० के पहले ही समझना चाहिए।

§ ५. उत्तर भारत की प्रायः सभी साहित्य-भाषायें मध्यदेश (देखिये § १८) की ही बोलियों का परिष्कृत रूप थीं : वैदिक भाषा खास तौर से ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा तथा संस्कृत, प्राकृत काल की मुख्य भाषा पाली जो मगध की नहीं बल्कि मध्यदेशीय शौरसेनी का ही एक रूप थी (देखिये §§ २६–२७) पश्चात् शौरसेनी प्राकृत जो अपने परवर्ती विकसित रूप महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में (देखिये § २८) समूचे देश की साहित्य भाषा हो गई थी। बाद में इसी प्रदेश की शौरसेनी अपभ्रंश ने गुजरात से बंगाल तक की शिष्ट भाषा का स्थान प्राप्त किया। शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप अवहट्ठ तथा पिङ्गल नाम से सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित था। इन तमाम भाषाओं की उत्तराधिकारिणी हुई ब्रजभाषा।

§ ६. नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का काल १० वीं से १४ वीं शताब्दी के बीच माना जाता है। चार सौ वर्षों का यह समय सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में अत्यन्त उथल-पुथल और संक्रमण का रहा है। यद्यपि भारत में विदेशी जातियों का आक्रमण बहुत पहले शुरू हो गया था किन्तु ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से जो आक्रमण शुरू हुए उनका कुछ भिन्न रूप रहा। १४ वीं तक ये आक्रमण किसी-न-किसी रूप में अनवरत होते रहे। कुछ विद्वान मुसलमानी आक्रमण को नव्य आर्यभाषाओं के क्षिप्रगामी विकास में सहायक बताते हैं। डा० चाटुर्ज्या के मतानुसार 'यदि भारतीय जीवन की धारा पूर्व-निर्मित दिशा में ही बहती रहती और उस पर बाहर का कोई *भीषण आक्रमण न हुआ होता* तो संभवतः नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का श्रीगणेश तथा विकास दो एक शताब्दी पश्चात् ही होता।'[2] हालांकि भाषाशास्त्रियों का एक संप्रदाय (साम्यवादी) इस प्रकार की धारणा का विरोध करता है क्यों कि *उनके मत से राज्य-क्रान्तियाँ, आक्रमण या विप्लव* सामाजिक ढांचा बदलने में तो सहायक होते हैं किन्तु वे भाषा के ढांचे में परिवर्तन नहीं ला सकते क्योंकि भाषा समाज के ढांचे का अंश नहीं आच्छादन (Super structure) है।[3] फिर भी मुसलमानी आक्रमण से समाज के निचले स्तर पर अलक्ष्य रूप से विकसमान भाषा-तत्व जो अपनी सहजगति से नया रूप ग्रहण करते, वे उथल-पुथल और उद्वेलन के कारण ऊपरी सतह पर आ गए और भाषा-परिवर्तन कुछ तीव्रता से हुआ। मुसलमानी आक्रमण से इन नव्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को नुकसान भी हुआ। अर्धविकसित या अविकसित भाषाओं में लिखे गए साहित्य की सुरक्षा के एक सबल आधार तत्कालीन रजवाड़े ही थे जो इस आक्रमण के बाद नष्ट हो

१. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, प्रयाग, संवत् २००४ पृ० १६

२. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १०६

ए। मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण १३ वीं
ताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा खड़ी-
ोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा फारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिन्दवी' के नाम
े चल पड़ी। किन्तु उस नई भाषा को परम्पराप्रिय जनता की ओर से कोई बड़ा प्रोत्साहन न
मेला। हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानी प्रभाव से अस्पृष्ट अन्य बोलियों द्वारा
ी होता रहा। ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों
ारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक
ेन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती
ी, नष्ट हो गई। ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा
ं लिखा हुआ साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा
कता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
े ठीक ही लिखा है कि 'इस अंधकार युग को प्रकाशित करने वाली जो भी सामग्री मिल जाये
से सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है। क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर
ाई है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन ही नहीं, केवल सुशिक्षित
ित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को
द्भासित करने की क्षमता छिपी होती है।'[1]

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकांश पश्चिमी अपभ्रंश का
। १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात
श की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धों के गानों (दोहों में नहीं) की
ाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी ६०० से
२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है।
िनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास-बिन्दु पा सकते हैं।
हुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही
जभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वों
ी दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधार कहा जायेगा। आगे
स पर विस्तार से विचार किया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण
मचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दोहे हैं। गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी
त्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दोहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य फुटकल दोहों
संकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरी जी ने जब इस संग्रह को
तुत किया था तब इनके आधार ग्रन्थों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक संपादन हुआ था
र न तो इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई विवेचन ही किया गया था।
ेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दोहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्वों को ढूँढ़ने का
त्न किया। अपभ्रंश की जो भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गंभीर अध्ययन
होने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दोहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० २५

बताने तथा हिन्दी की ओर इनकी उन्मुखता प्रमाणित करने का साधार प्रयत्न किया।[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा 'पुरानी हिन्दी' में संकलित दोहों की भाषा को हिन्दी की अपेक्षा राजस्थानी से अधिक सम्बद्ध मानते हैं। वर्मा जी ने लिखा है कि 'इनकी (दोहों की) भाषा प्रधानतया प्राकृत के अन्तिम रूपोंसे मिलती-जुलती है तथा उसमें आधुनिकता बहुत कम मिलती है, जहाँ-तहाँ प्राप्त आधुनिकता का पुट (जैसे स भविष्य, मूर्धन्यध्वनियों का विशेष प्रयोग) हमें आधुनिक *भारतीय आर्य भाषाओंके मध्यवर्ग की अपेक्षा पश्चिम वर्ग का अधिक स्मरण दिलाता है।*'[2] वर्माजी इन अपभ्रंश दोहों से मध्यदेश की भाषाओं का भी सम्बन्ध मानते हैं किन्तु कम। प्राकृत का प्रभाव इन दोहों पर स्पष्टतः ही दिखाई पड़ता है। हेमचन्द्र ने प्राकृत की अन्तिम अवस्था के उदाहरणों के रूप में ही इनका संकलन भी किया था, परन्तु इनमें सुबन्त और तिङन्त दोनों ही रूपों में नई पीठिका के बीजांकुर वर्तमान है। ध्वनि तत्त्व, रूपतत्त्व के (संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग, *क्रियापद और वाक्य-विन्यास के) आधार पर इन दोहों की भाषा का ब्रजभाषा से पूर्ण* सम्बन्ध दिखाई पड़ता है (देखिये §§ ५१–८१) हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश का प्रतिनिधि रूप मानी जाती है। शौरसेनी अपभ्रंश का उद्गम स्थान ब्रजभाषा प्रदेश ही था। हेमचन्द्र ने किन किन प्राचीन ग्रन्थों से ये दोहे चुने इनका कोई संधान नहीं मिलता, कुछेक का संधान मिलता भी है (देखिये §§ ४८–४९) तो वहाँ भी मूल रचनाकार का पता नहीं चल पाता, इसलिए इन रचनाओं के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनका निर्माण कहाँ हुआ। इस प्रश्न पर विस्तृत विचार 'ब्रजभाषा का उद्गम : शौरसेनी अपभ्रंश' शीर्षक अध्याय में किया गया है। हेमचन्द्र के दोहों को *डा०चाटुर्ज्या ब्रजभाषा की अधिकतम समीपस्थ पीठिका बताते हैं। डा० चाटुर्ज्या ने कई दोहों* का हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किया है और उनके मत से पश्चिमी अपभ्रंश (हेमचन्द्र-प्रणीत व्याकरण में उदाहृत दोहे) को एक तरह से ब्रजभाषा और हिन्दुस्थानी की उनके बिल्कुल पहले की ही पूर्वज कहा जा सकता है।[3] पश्चिमी अपभ्रंश के साथ ब्रजभाषा का इतना अधिक लगाव देखकर ही तो डा० ग्रियर्सन ने इसे मध्यदेशीय भाषावर्ग की प्रतिनिधि भाषा कहा था। शौरसेनी अपभ्रंश की तो बात ही क्या है, हेमव्याकरण के प्राकृत भाग में भी बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो ब्रजभाषा के विकास को समझने में सहायक हो सकते हैं। नवीन शोध के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि महाराष्ट्री प्राकृत या प्रधान प्राकृत शौरसेनी का ही अग्रसरीभूत रूपान्तर थी (देखिये §§ २८–२९)। हेमचन्द्र के *प्राकृत व्याकरण में जिस प्राकृत का विवरण* है वह शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्वज थी, इसलिए उस में ब्रजभाषा के तत्वों की उपलब्धि असंभव नहीं है।

§ ७. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का अन्तिम स्तरीय विकास अपभ्रंश तक पहुँचता है जिसके बाद नव्य भाषाओं का उदय होता है। १२ वीं से १४ वीं शताब्दी का काल मध्यकालीन भाषाओं से नव्य भाषाओं के रूप ग्रहण करने का समय है। इसे संक्रान्तिकाल कहा जा सकता है क्योंकि इस काल की जो भाषा उपलब्ध होती है उसमें न तो पुरानी भाषा के सब लक्षण लोप

१. पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २००५ पृ० ८

२. ब्रजभाषा,प्रयाग, १९५४ पृ० ११

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १८८

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के सभी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्‌भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसीतोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ठ और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक कनिष्ठ रूप प्रचलित था जिसकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कतिपय गीतों की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ और पिंगल व्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्ति-कालीन व्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ठ शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ठ चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ठ व्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ठ की रचनाओं में प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिलता, नेमिनाथ चौपई, थूलिभद्दफागु आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में व्रजभाषा के बीजांकुर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गृहीत होते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छप्पयों की भाषा तथा परवर्ती संस्करणों की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध व्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

§ ८. संक्रान्तिकाल (१२वीं–१४वीं) में उपर्युक्त अवहट्ठ और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त व्रजभाषा के बोलचाल के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ठ जन-सामान्य की भाषायें नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ठ उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। व्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली व्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १६वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्ति-ग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनायें संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा-रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध की गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के संतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक व्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की व्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती व्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

शैली। कुम्भनदास आदि भक्त कवियों की भाषा पिङ्गल या अवहट्ठ शैली से विकसित नहीं हुई, बल्कि उसका विकास औक्तिक ब्रज से हुआ। नरहरि भट्ट, गङ्ग, भूषण आदि की शैली में चारण या पिङ्गल शैली का विकास दिखाई पड़ता है। प्राप्त औक्तिक ग्रन्थों के आधार पर मैंने ब्रजभाषा के अनुमानित औक्तिक रूप की कल्पना की है (देखिये §§ १५१–१५२)।

§ ९. विक्रमाब्द १४०० तक ब्रजभाषा का एक स्पष्ट और व्यवस्थित रूप निर्मित हो चुका था। विक्रमी १४०० से १६०० (अर्थात् सूरदास के रचनाकाल तक) के बीच लिखी हुई विपुल सामग्री भांडारों में दबी पड़ी है। राजस्थान के जैन भांडारों में इस प्रकार की सामग्री सुरक्षित हैं, किन्तु हस्तलेखों की न तो वैज्ञानिक सूची बनी है और न तो इस सामग्री को ऐतिहासिक कालानुक्रम में अलग ही किया गया है। एक-एक गुटके (संग्रह ग्रंथ) में कई कवियों की रचनायें संकलित हैं, जिनका अलग-अलग न तो विवरण दिया गया है न तो रचनाओं का परिचय ही। भाषा पर विचार करके विभाजन करना तो एक भारी काम है ही। इसी तरह के अव्यवस्थित भांडारों में मुझे प्राचीन ब्रजभाषा की कोई बीस रचनाओं का पता चला है जिनका रचनाकाल निश्चित है। १६ वीं १७ वीं के लिपिकाल वाले गुटकों में ऐसे कवियों की संख्या भी बहुत लम्बी है जिनका रचनाकाल मालूम नहीं, किन्तु लिपिकाल के आधार पर उनके पुराने होने का अनुमान किया जा सकता है। इस निबन्ध में ऐसी रचनाओं का विवरण नहीं दिया गया है क्योंकि इनकी संख्या बहुत लम्बी है और इनका परिचय-परीक्षण तथा तिथि-निर्धारण एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय हो सकता है। ब्रजभाषा की सबसे पुरानी ज्ञात कृति 'प्रद्युम्नचरित' है जो आगरा में संवत् १४११ (१३५४ ईस्वी) में लिखा गया। संवत् १४२३ (१३६६ ईस्वी) में जाखू मनियार ने हरिचन्द पुराण लिखा। प्राचीन ब्रजभाषा के सबसे प्रसिद्ध कवि विष्णुदास थे जिन्होंने १४९२ संवत् यानी १४३५ ईस्वी में 'स्वर्गारोहण' की रचना की। इनकी लिखी हुई रचनाओं में 'रुक्मिणी मंगल, 'महाभारत' तथा 'सनेह लीला' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सनेह लीला हिन्दी का संभवतः सबसे प्राचीन भ्रमरगीत परम्परा का काव्य है। विक्रमी १५१६ (१४५९ ईस्वी) में कवि दामो ने लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा की रचना की। डूँगर कवि की बावनी (१५३८ विक्रमी) मानिक कवि (१५४६ विक्रमी) की वैतालपचीसी, कवि ठक्कुरसी (१५५० विक्रमी) की पञ्चेन्द्रिय वेलि, नारायणदास (१५५० विक्रमी) की छिताईवार्ता, कवि थेघनाथ (१५५७ विक्रमी) की गीता भाषा, चतरुमल (१५७० विक्रमी) का नेमीश्वरगीत, १६वीं शताब्दी में रचित 'विरहसत', धर्मदास (विक्रमी १५७८) का 'धर्मोपदेश' तथा कवि छीहल (१५७८ विक्रमी) की पञ्चसहेली, बावनी आदि तथा वाचक सहजसुन्दर (संवत् १५८१) का रतनकुमार रास इस काल की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

§ १०. इस काल की अप्रकाशित रचनायें भाषा और साहित्य दोनों ही के अध्ययन तथा उनके परवर्ती विकास को समझने में सहायक हैं। १४वीं–१६वीं शताब्दी की सबसे प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति निर्गुण सन्त-काव्य की रही है। अभाग्यवश सन्तों की रचनाओं को लेकर सैद्धान्तिक ऊहापोह तो बहुत हुई है किन्तु इनकी भाषा और साहित्य के वास्तविक रूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। संतों की भाषा को ही लिया जाये। प्रायः इनकी भाषा को खिचड़ी, सधुक्कड़ी, पञ्चमेल आदि विशेषण देकर भाषाविषयक अध्ययन की

इयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिलसिले में इस 'सधुक्कड़ी' शब्द को बार-बार प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसन्त-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।'[1] मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा स्थिति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर ब्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा गृहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।'[2] वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तासी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन ब्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबी के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के संमिश्रण से 'रेख़्ता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, खिचड़ी, या सधुक्कड़ी विशेषण 'रेख़्ता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खड़ी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेख़्ता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी ब्रजभाषा का साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. ब्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त-साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। संतों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुरुग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुरुग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ संकलित हैं। ब्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं में ब्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की ब्रजभाषा सूरदास की ब्रजभाषा से स्पष्टतः पुरानी मालूम होती है। बहुत से विद्वान् संतों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सूरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् ब्रजभाषा की मौलिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।'[3] नामदेव की भाषा को सूरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौलिक परम्परा की कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वि० सं० १९५४, पृ २१०

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४९ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ १६

डा० गुप्त ने ब्रजभाषा की वास्तविक स्थिति को भुला दिया है। नामदेव या किसी सन्त कवि का पिंगल या ब्रजभाषा में काव्य करना ज्यादा स्वाभाविक और कम आश्चर्यजनक है, क्योंकि ब्रजभाषा की एक सुनिश्चित और विकसित काव्य-परम्परा थी, जो गुजरात से बङ्गाल तक के कवियों द्वारा समान रूप से गृहीत हुई थी। फिर इस भाषा के नामदेव कृत न होने का प्रमाण भी क्या है? इसके विपरीत नामदेव के पदों की प्राचीनता सिद्ध है क्योंकि १६६१ में लिखित गुरुग्रन्थ में ये संकलित हैं। मौखिक परम्परा से भ्रष्टता या रूपान्तर कहाँ उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि सन्तों की भाषा में परिवर्तन होने की आशंका है तो सूरदास की भाषा में भी यह आशंका रह ही जाती है। सूरसागर की कौन-सी प्रति गुरुग्रन्थ से पुरानी है। सन्तों के ब्रजभाषा के सम्यक् अध्ययन के बिना सूरदास तथा अन्य कवियों के भाषा-साहित्य का पूर्ण परीक्षण नहीं किया जा सकता।

§ १२. सन्तों ने एक ओर जहाँ ब्रजभाषा को सहज प्रेम, अहेतुक आत्मनिवेदन, निष्कपट रागबोध की पवित्र भावनाओं से सुसंस्कृत किया वहीं तत्कालीन संगीतज्ञ गायक कवियों ने इस भाषा में गेयता, मधुरता और संगीत की दिव्यता उत्पन्न की। खुसरो, गोपाल नायक, बैजूबावरा, हरिदास और तानसेन जैसे गायकोंने उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण भी किया। इनकी रचनायें नवीन आह्लादकारी लयमयता से परिप्लुत हो उठीं। इस प्रकार १४ वीं से १६ वीं के ब्रजभाषा-साहित्य को जैन कवियों, प्राचीन कथा-वार्ता के लेखकों, प्रेमाख्यानक-रचयिताओं, सन्तों तथा गायक कवियों ने अपनी साधना से नई भास्वरता प्रदान की। सूरदास इसी साधना के उत्तराधिकारी हुए, उनके काव्यको विक्रमाब्द १००० से १६०० तक की ब्रजभाषा की सारी उपलब्धियाँ सहज रूप में प्राप्त हुईं। न केवल मध्यदेश में रचित साहित्य की परम्परा ही उनको विरासत में मिली बल्कि गुजरात के मालण (१५ वीं शती), महाराष्ट्र के नामदेव, त्रिलोचन, पंजाब के गुरु नानक तथा सुदूर पूरब में असम के शंकरदेव की ब्रज-कविताएँ भी ज्ञात-अज्ञात रूप से उनकी भाषा को शक्तिमत्ता प्रदान करने में सहायक हुईं।

ब्रजभाषा सम्बन्धी कार्य

§ १३. ब्रजभाषा के शास्त्रीय अध्ययन का यत्किंचित् प्रयत्न बहुत पहले से होता रहा है। अब तक के उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों में सबसे पुराना व्याकरण मिर्ज़ा खाँ का है जो उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तुह्फ़त-उल-हिन्द' का एक अंश है। वैसे नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का स्वरूप बोध कराने वाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, किन्तु इनमें किसी निश्चित भाषा का पता नहीं चलता। औक्तिक ग्रन्थकार भी अपनी भाषा को उक्त अपभ्रंश या देशी अपभ्रंश ही कहते हैं।[1] इस तरह एक *निश्चित भाषा पर लिखा हुआ* सबसे प्राचीन व्याकरण मिर्ज़ा खाँ का ही कहा जा सकता है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इस ग्रन्थ की भूमिका में ठीक ही लिखा है 'कि अब तक प्राप्त साहित्य में मिर्ज़ा खाँ का 'तुह्फ़त' नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का सबसे प्राचीन व्याकरण कहा जा सकता है।'[2] मिर्ज़ा खाँ का 'तुह्फ़त-उल-हिन्द' १६७५ ईस्वी के कुछ पहले का लिखा हुआ ग्रन्थ है जिसमें ब्रजभाषा के छन्दशास्त्र, अलंकार,

1. उक्तिव्यक्ति प्रकरण में भाषा को अपभ्रंश ही कहा गया है
2. A Grammar of the Brajbhakha, shantiniketan, 1934, foreword PP. xi.

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय संगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ फारसी संगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी-फारसी के तीन हजार शब्दों का कोश प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का संक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपस्थित किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों को दृष्टि में रखकर मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढंग से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खाँ का श्रम प्रशंसनीय है, किन्तु जैसा डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खाँ 'द' को दाल-इ-खफ़ीफ़ अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल-इ-सकील यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल-इ-मुश्किला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ढ' को डाल इ-अस्कल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनिश्चित और अनिश्चित मात्रा-बोध कराते हैं। फिर भी मिर्जा खाँ का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि-तत्व के अध्ययन में बहुत बड़ा योग-दान है। मिर्जा खाँ ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए करतब (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविक्त (Future) किया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण बाबू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखी देव जे हैं से पूजनीय
देव को नमत पूजें देवन के प्रति सित
देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमें मन
देव को सुदीनों चित्त देवन को गृह वित
देव तें न दूजो साथी देवन सों बड़ो हू न
देव को रसिक दास देवन कौन गुन हित
देव में विरति नति देवन में सतगति
करो कृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की बारीकी नहीं है। फिर भी १९ वीं शताब्दी में लिखे होने के कारण इस व्याकरण का महत्व निःसंदिग्ध है।

§ १४. ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईसी में लल्लू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक-विभक्तियों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-क्षेत्र की भी चर्चा हुई। लल्लू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर रियासत,

अन्तर्वेद, बुन्देलखण्ड आदि स्थानों में बोली जानेवाली भाषा का नाम है। लल्लू जी लाल कृत ब्रजभाषा व्याकरण का हिन्दी अनुवाद हाल ही में आगरा हिन्दी विद्यापीठ से प्रकाशित हुआ है। इस व्याकरण को देखने से इतना स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने बहुत सरसरी तरीके से विदेशी लोगों के लिए इस व्याकरण का निर्माण किया है। १८४० में गार्सां द तासी ने 'हिन्दुई भाषा के कुछ उदाहरण' (Rudiments de la langue Hindui) नाम से पुस्तक लिखी जिसमें ब्रजभाषा पर किंचित् विचार किया गया। तासी की एक और रचना 'हिन्दी, हिन्दुई मुन्तख़बात' १८४६ में पेरिस से निकली जिसमें हिन्दुई यानी ब्रजभाषा का कुछ विवरण प्रस्तुत किया गया है। १८२७ में कलकत्ता से भी डब्लू० प्राइस ने हिन्दी और हिन्दुस्तानी का एक संकलन प्रकाशित कराया जिसकी भूमिका में हिन्दी और ब्रजभाषा के व्याकरण पर कुछ विचार मिलता है। जे० आर० बैलन्टाइन ने १८३६ में 'हिन्दी और ब्रजभाषा व्याकरण (Hindi and Brajbhakha Grammar) का प्रकाशन कराया। यह पुस्तक हेलिबरी (Hailybury) के ईस्ट इंडिया कालेज के लिए प्रस्तुत की गई जिसका मुख्य उद्देश्य भारत में कार्य करने के इच्छुक लोगों के लिए हिन्दी भाषा का परिचय देना था। ब्रजभाषा का परिचय देने की जरूरत इसलिए हुई 'क्योंकि इस भाषा के प्रयोग प्रेमसागर में बहुतायत से मिलते हैं।'[1] इस प्रकार इस पुस्तक में ब्रजभाषा का गौण रूप से ही विचार किया गया। संज्ञा, विभक्ति, सर्वनाम, क्रिया आदि के विवरण में अलग-अलग स्थानों में हिन्दी और ब्रजभाषा के रूपों को एकत्र किया गया है। कहीं-कहीं लेखक ने ब्रजभाषा के बारे में कुछ विशेष विचार पाद टिप्पणियों में दिये हैं। ऐसे विचार काफी महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए आदरार्थक आज्ञा के अर्थ में लेखक ने ब्रज और खड़ीबोली दोनों ही स्थानों में 'चलिये' लिखा है। ब्रज में 'चलियौ' भी दिया है जिसको पाद टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए लिखा गया है 'ब्रजभाषा रूप चलियौ (ye shall go or may ye go) केवल मध्यमपुरुष बहुवचन में ही चलता है'[2]। बैलन्टाइन ने एक और पुस्तक लिखी है 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण, ब्रजभाषा और दक्खिनी बोली के संक्षिप्त विवरण के साथ'[3]। यह पुस्तक लंदन से १८४२ ईस्वी में प्रकाशित हुई। इसमें ब्रजभाषा-अंश प्रायः वैसा ही है जैसा पहली पुस्तक में।

ब्रजभाषा सम्बन्धी संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित अध्ययन जार्ज ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया के ६ वें जिल्द में प्रस्तुत किया। ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के विविध रूपों का विवरण दिया। उन्होंने बताया कि अन्तर्वेदी, कन्नौजी, जादोवाटी, सिकरवारी, भैंथोरिया, डांगी, डांगभाग, कालीमल और डुंगवारा आदि बोलियां ब्रजभाषा की ही स्थानीय रूपान्तर हैं। उन्होंने ब्रजभाषा के साथ साथ कन्नौजी और बुन्देली के भी व्याकरण की खास-खास बातें (Skelton Grammar) अलग करके प्रस्तुत कीं। इस प्रकार ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के अध्ययन की ठोस भूमिका स्थापित की, जो उनके व्यापक सर्वेक्षण से उपलब्ध आंकड़ों पर

---

1. Hindi and Brajbhakha Grammar, London, 1839 Advt. p. I.

२. वहीं, पृ० २८

3. J. R. Ballentyne: A Grammar of the Hindustani language with brief notes of the Braj and Dakhini Dialects

प्रकाशित की। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इंडो-आर्यन वर्नाक्युलर्स' में भी ब्रजभाषा पर प्रसंगवश कहीं कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई यूरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अलग-अलग रूप से, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के सिलसिले में ब्रजभाषा पर विचार किया। बीम्स ने अलग से पृथ्वी-राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।[1] जिसमें ब्रजभाषा के प्राचीन स्वरूप पर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हार्नले, टेसीटोरी आदि ने भी ब्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलाग ने हिन्दी व्याकरण में ब्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलाग के ब्रजभाषा अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जी लाल की 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रही हैं। ब्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलाग ने इन्हीं पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलाग ने परसर्गों, क्रियाओं, सर्वनामों और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। १८७५ ईसवी में केलाग का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जो आजतक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में ब्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विभिन्न रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु ब्रजभाषा के समुचित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'बिहारीरत्नाकर' में कविवर रत्नाकर ने ब्रजभाषा की कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'ब्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्वपूर्ण और काम की चीज है। ब्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए ब्रजभाषा पर 'ला लांग ब्रज' नाम से प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। ब्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में कुछेक को छोड़कर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें *मध्यकालीन ब्रजभाषा (१६वीं–१८वीं)* तथा आधुनिक मौखिक ब्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से ब्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक ब्रज और बोलचाल की ब्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में संकलित बोलियों के उदाहरणों और अन्त में संलग्न विस्तृत शब्द-सूची का महत्व निर्विवाद है।

ब्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का ... जाता है कि सूरदास
के पहले ब्रजभाषा का ... तो यह निश्चय
ही टूटी हुई ... की ब्रजभाषा के
अध्ययन का

1873.

§ १७. बारहवीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी के बीच प्राप्त होने वाले ब्रजभाषा साहित्य का सम्यक् परीक्षण नहीं हो सका है। इस काल के कुछेक प्रमुख कवियों के बारे में छिट-पुट सूचनाएँ छपती रही हैं, खास तौर से सन्तों भक्तों के बारे में, किन्तु यहाँ भी साहित्यिक सौष्ठव या काव्योत्कर्ष दर्शाने का प्रयत्न कम किया गया है, इनकी प्रामाणिकता अथवा ऐतिहासिकता की [illegible]। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश और वीरगाथा काल—दोनों ही युगों के साहित्य पर अत्यन्त [illegible] से विचार किया है। फिर हिन्दी-साहित्य के उस इतिहास ग्रन्थ में इस युग के ब्रज साहित्य की पूरी परम्परा को दृष्टि में रखकर विचार करने का अवसर भी न मिला। [illegible] ही से लेकर आलोचना ग्रन्थ बना रहा इसलिए छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं के काव्य रूपों (Poetic forms) के अध्ययन का कोई प्रयत्न नहीं हुआ, जो आवश्यक और महत्त्वपूर्ण था। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में हिन्दी के आरम्भिक काल पर विस्तार से लिखा और साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। वर्मा जी के ग्रन्थ में सिद्ध साहित्य, डिंगल साहित्य, जैन साहित्य आदि विभागों पर अत्यधिक प्राप्त सामग्री का संकलन किया गया, जो प्रशंसनीय है, किन्तु अपभ्रंश, डिंगल और ब्रज हिन्दी के साहित्य की अन्तर्वर्ती धारा के विकास की एकसूत्रता को पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया गया है अर्थात् सिद्धों और सन्तों के तथा वैष्णव भक्तों के साहित्य की सम विषम प्रवृत्तियों का तारतम्य और प्रसार नहीं दिखाया गया, उसी प्रकार प्राचीन-साहित्य के रास, विलास, चरित, पुराण, पवाड़ा, फागु, बारहमासा, षट्ऋतु, वेलि, विवाहलो आदि काव्य रूपों के उद्भव और विकास की दिशाएँ भी अपरिचित ही रह गईं। इसका मुख्य कारण इन इतिहास-ग्रन्थों की सीमित परिधि ही है, इसमें सन्देह नहीं।

ईसवी सन् की दसवीं से १४वीं शती के साहित्य का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'आदिकाल' में दिखाई पड़ता है। द्विवेदी जी ने आदिकाल की अल्प प्राप्त सामग्री का परीक्षण किया, उसकी मुख्य प्रवृत्तियों को सोचा-विचारा और उन्हें वृहत्तर हिन्दी साहित्य की सही पृष्ठभूमि के रूप में स्थापित भी किया। उन्होंने रासो आदि ग्रन्थों का वास्तविक मूल्यांकन उपस्थित किया। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से और उनके वस्तु-सौन्दर्य, कथानक रूढ़ियों, तथा तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना के प्रतिफलन के प्रश्न को दृष्टि में रखकर। अन्त में उन्होंने रास, आख्यायिका, कहानी, सबदी, दोहरा, फागु, वसन्त आदि काव्य रूपों का परिचय भी दिया जो हिन्दी में इस प्रकार का पहला प्रयास था। इसलिए यहाँ भी काव्यरूपों के विकास का दिशा-संकेत मात्र ही हो पाया है, पूर्ण विवेचन नहीं। ब्रजभाषा साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके पदों और गानों की संगीतमयता है। सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य को समृद्ध बनानेवाले संगीतज्ञ कवियों की रचनाओं का अब-तक सम्यक् अध्ययन नहीं हो सका है—सूर और अन्य ब्रज कवियों ने संगीत को साहित्य का एक अविच्छेद्य अङ्ग बना दिया था। इस तथ्य को समझने के लिए गोपाल नायक, बैजू बावरा, आदि गीतकारों की रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है (देखिये §§ २३८-४४)। इसी सिलसिले में मीर अब्दुल वाहिद के 'हकायके हिन्दी' का भी उल्लेख होना चाहिए। इस ग्रंथ में लेखक ने हिन्दी के

ध्रुपद और विष्णुपद वालों में लौकिक शृंगार के वर्ण्य विषयों को आध्यात्मिक ढंग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिये §२८५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।[1]

§ १६. १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोह के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध-सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा संत-साहित्य, हठयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सौ तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूत पूर्व विकास शौरसेनी अपभ्रंश में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्धकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्य संतों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव को ढूँढने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन संतों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अवधी काव्य लगाया जाने लगा है। अवधी में भी प्रेमाख्यानक का क्षेत्र सूफी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमाख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूफी संतों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जायसी के पहले के कई प्रेमाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छिताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००–१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली-शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रूढ़ियाँ और तत्र्यहीत लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्वर्ती वस्तु-तत्त्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल बिवाहलो, वेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस टूटी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की त्रुटियाँ सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अष्टछाप के कवियों की लौकिक प्रेमव्यञ्जना और दोहे

---

१. हकायके हिन्दी, अनुवाद : सैयद अतहर अब्बास रिजवी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१४

चौपाई वाली शैली की पृष्ठ-भूमि तलाश करने में कठिनाई होती है। डा० दीनदयाल गुप्त ने सूफी प्रेमाख्यानकों की वस्तु और शैली दोनों को दृष्टि में रखकर लिखा है कि 'अष्टछाप काव्य पर उस भारतीय प्रेम-भक्ति परम्परा का प्रभाव है जो भारतवर्ष में सूफियों के धर्म-प्रचार के पहले से ही चली आती थी, जिसको अष्टछाप ने अपने गुरुओं से पाया... हाँ इन प्रेम-गाथाओं, दोहा-चौपाई की छन्द शैली का नमूना अष्ट भक्तों के सम्मुख अवश्य था जिसका प्रभाव नन्ददास की दशमस्कन्ध की भाषा, रूपमञ्जरी आदि की शैली पर माना जा सकता है।'[1] राधाकृष्ण के लोकरञ्जक प्रेम का स्वरूप निश्चय ही भारतीय परम्परा से प्राप्त हुआ, और वह गुरुओं से ही नहीं मिला बल्कि ब्रजभाषा प्रेमाख्यानकों से भी मिला। उसी प्रकार यदि हमारे सामने थेघनाथ की गीता भाषा (१५५७ विक्रमी) अथवा विष्णुदास का स्वर्गारोहण और महाभारत कथा (१४९२ विक्रमी) तथा मानिक की बैतालपचीसी जैसे दोहे चौपाई में लिखे ब्रजभाषा ग्रन्थ रहते तो नन्ददास को इस शैली के लिए सूफियों का मुखापेक्षी न बनना पड़ता। इस तरह की कई समस्यायें साहित्य के अन्वेषियों और विद्वानों के सम्मुख उपस्थित होती हैं, जिनका सही समाधान प्रस्तुत करने में हम विवशता का अनुभव करते हैं।

भाषा और साहित्य की ये समस्यायें वस्तुतः इस मध्यान्तरित कड़ी के टूट जाने से ही उत्पन्न हुई हैं। ब्रजभाषा की एक पुष्ट, उन्नत और सर्वतोमुखी प्रगति की अविच्छिन्न साहित्य परम्परा रही है। इस परम्परा की विस्मृत कड़ियों का संधान और उनका यथास्थान निर्धारण इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

---

1. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० १०

ब्रजभाषा का रिक्थ :

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यप्रदेश[1] ब्रजभाषा की उद्गम-भूमि है। गंगा-यमुना के काठे में अवस्थित यह प्रदेश अपनी महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है।[2] भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

---

१. मध्यदेश मूलतः गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पिटक, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कजंगल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुड़ पुराण (१।५५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वकूट, कुल्य, कुंतल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलक और वृक सम्मिलित किये गए हैं।

(घ) सूत्र-साहित्य के उल्लेखों के विषय में द्रष्टव्य डा० कीथ का वैदिक इंडेक्स।

(ङ) कामसूत्र की जयमंगला टीका में टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गंगायमुनयोरन्तरमित्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अलबेरूनी तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, संख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित।

२. (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ [मनु० २।२०]

रूप बहुत स्पष्ट हो गया है। ईसा पूर्व १००० के आसपास सम्पूर्ण उत्तर भारत में भारतीय आर्यों के आगमन होने के समय से आर्यावर्त मध्यदेश की भाषा सम्पूर्ण देश के शिष्ट जनों के विचार-विनिमय का स्वीकृत माध्यम रही है। समय और परिस्थिति के अनुसार इस भाषा के आन्तरिक विकास के कारण मध्यदेशीय भाषा ने कई रूप ग्रहण किये, वैदिक या छान्दस के बाद संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश आदि इस प्रदेश की भाषाएँ हुईं, किन्तु यह रूप परिवर्तन भाषा भेद नहीं, बल्कि प्राचीन आर्य भाषा के विकास की अटूट शृंखला मात्र है। ग्यारहवीं शती के आसपास इस प्रदेश की जनभाषा के रूप में ब्रजभाषा का विकास हुआ, अपनी शैशवावस्था में, मुसलमानी आक्रमण के काल में, यह उत्तर की सांस्कृतिक और साहित्यिक भाषा के रूप में मध्यदेशी रचनाओं में व्यक्त हुई, परन्तु एक ओर जहाँ पौरुष और शौर्य के भावों से परिपूर्ण होकर इस भाषा में नई शक्ति का संचार हुआ, वहीं दूसरी ओर भक्ति-युग के भक्ति आन्दोलन के प्रमुख माध्यम के रूप में इसे शक्ति और मधुर भाषा की प्रतिष्ठा भी मिली, किन्तु इसके वैभव और समृद्धि का सबसे बड़ा कारण वह विरासत थी जो इसे अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं से रिक्थ-क्रम में प्राप्त हुई। वैदिक भाषा से शौरसेनी अपभ्रंश तक की सारी शक्ति और गरिमा इसे स्वभावतः अपनी परम्परा के दायरूप में मिली। अतः ब्रजभाषा के उद्भव और विकास का सही अध्ययन बिना इस परम्परा और विरासत के समुचित आकलन के अधूरा ही रहेगा।

§ १६. भारतीय आर्यभाषा का इतिहास आर्यों के भारत प्रदेश के साथ ही आरम्भ होता है। आर्यों के आदिम निवास-स्थान के बारे में मतभेद हो सकता है, बहुत से विद्वान् उन्हें कहीं बाहर से आया हुआ स्वीकार नहीं करते, किन्तु यहाँ हम विवाद से हमारा कोई सीधा प्रयोजन नहीं है। ईसी पूर्व १५०० के आस पास बोली जाने वाली आर्यभाषा का रूप हमें ऋग्वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होता है। ऋग्वैदिक भाषा आश्चर्यजनक रूप से पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान में बसे हुए तत्कालीन कबीलों की बोली से साम्य रखती है। ईसी सन् १६०७ में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ह्यगो विंक्लर ने एशिया माइनर के बोगाज़कुई स्थान में बहुत से पुरालेखों का पता लगाया जिनमें आर्य देवताओं इन्द्र (इन्-द्-अ-र) सूर्य (शु रि-य-स) मरुत (मरु-त्तश) वरुण (उ-रु-व-न) आदि के नाम मिलते हैं। बोगाज़कुई ईसा पूर्व तेरहवीं शताब्दी में हत्ती साम्राज्य की राजधानी था, ये लेख इसी साम्राज्य के पुराने रेकर्ड्स् हैं जिन्हें मिट्टी की पटरियों पर कीलाक्षरों में लिखा गया है। हत्ती के इन पुरालेखों में शालिहोत्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसमें उपर्युक्त आर्य देवताओं के नामों का प्रयोग हुआ है। इन आधारों पर आर्य जाति के प्राचीन कबीलों का सम्बन्ध एशिया माइनर की प्राचीन

---

(२) मध्यदेश्या आर्यप्रायाः शुद्धपुरुषाराः [कामसूत्र २।५।२१]
(३) बाल रामायण, १०।८
(४) काव्यमीमांसा, अ० ७
(५) यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः [का० मी० १०]
(६) प्रबन्ध चिन्तामणि, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुवाद पृ० ४५ तथा ८०
(७) देसनि की मणि यहि मध्यदेस मानिये—केशव, कविप्रिया

मितानी जातियों और उनके जनों के साथ स्थापित किया जाता है।[1] हत्ती भाषा वस्तुतः मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इंदो-आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफ़ग़ानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सों में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरथोस्त्र धर्म के प्राचीन मंत्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफ़ग़ानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।[2] ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुभा और स्वात नदियों से लेकर पूरब में गंगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मंत्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पंचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मंत्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।[3] किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मंत्र निःसन्देह गंगा-यमुना के काँठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक धर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमबद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मंत्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आभिजात्य राजन्यों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस-पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तहज़ीब और सभ्यता को पूरब में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'[4] मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है[5] किन्तु यह बाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का संकेत है। वस्तुतः वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।[6] यह मान्यता साधार भी कही

---

1. H. R. Hall: Ancient History of Near East, 1913 pp. 201, and Cambridge History of India vol. I, chapter III.
२. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मन्त्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्दो आर्यन एँड हिन्दी, पृ० ४८,५६ तारापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१-२४, ए० वी० डब्ल्यू जैक्सन कृत अवेस्ता ग्रेमर'
३. अवेस्ता के ईरानी आर्य-मन्त्रों और ऋतुओं या उत्सवों पर गाये जाने वाले वैदिक सूक्तों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'एसे आन दी सेक्रेड लैंग्वेज, राइटिंग्स एँड रिलीजन्स आव पारसीज़ एँड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य
4. Origin and Development of Bengali Language, 1926 P. 39.
५. यजुः संहिता २।२०
६. तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उदञ्च एव यन्ति वाचम् शिक्षितम् यो वा तत् आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति (सांख्यायन या कौषीतकि ब्राह्मण ७।६)।

जा सकती है। मध्यदेशीय आर्यों को इस प्रदेश में बसने के लिए अनार्य जातियों से विकट संघर्ष लेना पड़ा था। कोल, द्राविड़ और अन्य जातियों ने पद-पद पर उन आक्रमणकारी आर्यों का सामना किया। पराजय इनकी अवश्य हुई, किन्तु विजेता की संस्कृति और भाषा इनकी गौरवमयी संस्कृति और भाषा से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। आर्य भाषा के अन्दर स्थानीय जातियों की भाषा के बहुत से तत्व सम्मिलित हो गए।[1] विजित अनार्य जातियों के लोग न केवल आर्य परिवारों में दास-दासियों के रूप में घुल मिल गए बल्कि साथ साथ उनकी बोलियों के भी बहुत से शब्द आर्यों की भाषा में मिश्रित हो गए।

§ २०. हार्नले ने आर्यों के भारत-आगमन की अवस्थाओं के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि आर्यों के विभिन्न दल भारत में दो समूहों में प्रविष्ट हुए। प्रथम समूह के आर्य गंगा के काठे में आबाद हुए जिसे हम मध्यदेश कहते हैं। आर्यों के दूसरे समूह ने पहले से मध्यदेश में बसे हुए इन आर्यों को इधर-उधर बिखरने के लिए बाध्य किया। प्रथम समूह के ये आर्य अपने स्थान को छोड़कर पूरब, पश्चिम और दक्षिण की ओर फैल गए, बिहार, बंगाल, गुजरात आदि प्रदेश इनके निवास-स्थान बने। दूसरे समूह के आर्य मध्यदेश में आबाद हुए, इन्हीं भीतरी या अन्तर्वर्ती आर्यों ने अर्थात् दूसरे समूह के आर्यों ने वैदिक संस्कृति और ब्राह्मण-धर्म का विकास और प्रचार किया।[2] हार्नले के इस मत को जार्ज ग्रियर्सन ने और अधिक पल्लवित किया और उन्होंने इसी के आधार पर आर्य भाषा को अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती इन दो श्रेणियों में विभक्त किया। पश्चिमी हिन्दी या ब्रजभाषा अन्तर्वर्ती आर्य भाषा की वर्तमान प्रतिनिधि कही जाती है। जबकि पूर्वी हिन्दी, बंगाली, गुजराती आदि भाषायें बहिर्वर्ती श्रेणी में रखी जाती हैं।[3] ग्रियर्सन की इस मान्यता के पीछे भाषा सम्बन्धी कुछ खास विशिष्टतायें कारण रूप में वर्तमान थीं। उन्होंने पश्चिमी हिन्दी और उपर्युक्त अन्य भाषाओं के भाषा-रूपों में ऐसी विषमतायें देखीं जो एक समूह की भाषाओं में नहीं होतीं। ग्रियर्सन ने यह भी बताया कि पश्चिमोत्तर भारत की दर्दी भाषा बहिर्वर्ती भाषाओं से कई बातों में साम्य रखती है। इस प्रकार ग्रियर्सन के मत से आर्यभाषा की दो श्रेणियाँ हुईं। मध्यदेशीय या शौरसेनी प्रकार जिसके अन्तर्गत संस्कृत भी परिगणित की गई और दूसरी श्रेणी में अ-संस्कृत भाषायें, मागधी आदि अहिन्दी अन्य नव्य आर्य भाषायें तथा सिंहली आदि गिनी गईं। डा० ग्रियर्सन ने अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती भाषा-शाखाओं के विभाजन के लिए भाषा सम्बन्धी जो तर्क उपस्थित किये, वे विचारणीय हैं। इन तथ्यों से मध्यदेशीय (ब्रजभाषा) भाषा की कुछ विशिष्टतायें भी स्पष्ट होती हैं। डा० चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की इस मान्यता का विरोध किया,[4] किन्तु ग्रियर्सन की स्थापनायें एकदम अविचारणीय नहीं हैं।

---

१. पी० टी० श्रीनिवास आइयंगार, लाइफ इन एन्सिएन्ट इंडिया इन दी एज आव मन्त्राज़, मद्रास, १९१२, पृ० १५

2. A. R, Hoernle and H. A. Stark: History of India, Calcutta, 1904. pp. 12 13

3. Grierson. B. S. O. S. Vol. 1, NO. 3 P. 32.

४. ग्रियर्सन और चाटुर्ज्या के इस मतभेद का पूरा विवरण 'ओरिजिन एंड डेवलप्मेंट आव बेंगाली लेंग्वेज, कलकत्ता १९२६, के पृ० १५०–१६६ पर देखा जा सकता है। इसका संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद डा०. उदयनारायण तिवारी के 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' पृ० १६२–१०९ पर उपलब्ध है।

१. बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर-पश्चिमी तथा पूरब की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए
तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे
काश्मीरी अछि, सिंधी अखि, बिहारी आँखि किन्तु हिन्दी आंख। २–बहिर्वर्ती भाषाओं
विशेषतर पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं।
३–अइ>ऐ तथा अउ>ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विकृत 'ए' तथा 'ओ' के
रूप में दिखाई पड़ते हैं। ४–संस्कृत के च् ज् पूर्वी भाषाओं में त्स–स् तथा द्ज़–ज़ में बदल
जाते हैं। ५–र् ल्, तथा ड, ड़ के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहिः शाखाओं में स्पष्ट
मालूम हो जाती है। ६–पूरब तथा पश्चिम की बहिः भाषाओं में द् ड् परस्पर विनिमेय है
किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७–बाहरी भाषाओं में म्व>म तथा भीतरी में म्व>वँ में बदलता
है। ८–र् का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९–
स्वर मध्यग स्>ह् में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पड़ता है। १०–श्, ष्, स्>श् के रूप
मागधी में दिखाई पड़ता है। ११–महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन के आधार पर
भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२–द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूरक
दीर्घीकरण के आधार पर भी यह भेद दिखाई पड़ता है। रूप तत्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट
करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१. बाहरी भाषायें पुनः संश्लिष्ट हो रही है जब कि भीतरी भाषाओं में संश्लिष्टता
दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियाँ और परसर्ग के, का, ने, में आदि संज्ञा
शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बंगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप संश्लिष्टता व्यक्त
करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है।[1] क्रियारूपों पर
विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी
ऐसी बोली से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तज रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का
सम्भवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित हैं, जिनमें
इसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिंदी में
कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता।
मैंने-हमने मारा, तूने-तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के
साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तर्वर्ती भाषाओं के व्याकरण बाहरी भाषाओं के
व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और संक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के
मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई
प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध
करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की
महत्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का संकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात
प्रांत की भाषा को अन्तर्वर्ती कहा है। उन्होंने इस भाषाको मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा
स्वीकार किया है। यह मान्यता ब्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा की
दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तज रूपों और विश्लिष्टता सम्बन्धी प्रवृत्ति के संकेत भी मध्यदेशी

---

1. क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया भाग १ खंड
१ में देखा जा सकता है।

भाषा के अध्ययन में सहायक हो सकते हैं। [illegible] से भी [illegible] बोलियों में पश्चिमी भाषाओं की अपनी विशेषताएँ बता है।[1]

§ २१. वैदिक का अध्ययन करने के बाद में इस विषय पर आते हैं। यहाँ संक्षेप रूप में वैदिक भाषा के स्वरूप और उसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जो किसी न किसी रूप में मध्यकालीन या आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के विकास में सहायक हुई हैं। प्राचीन आर्य भाषा में कुल तेरह स्वर ध्वनियों का प्रयोग होता था। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ, ऐ और औ। प्रातिशाख्यों में अन्तिम दो ध्वनियों को समानाक्षर और अन्तिम चार स्वरों को सन्ध्यक्षर कहा गया है। उत्तरकालीन भारतीय भाषा में ऐ, औ इन दो संध्यक्षरों (Diphthongs) का एकदम अभाव हो गया था, मध्यभाषा में ओ और ए दोनों ध्वनियाँ प्रयुक्त भाषा में प्राप्त होती हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में स्वर परिवर्तन की प्रक्रिया को संस्कृत वैयाकरणों ने स्पष्ट किया था। इस काल की भाषा में स्वर विकार के मुख्य पाँच प्रकार दिखाई पड़ते हैं। (१) स्वरयुक्त प्रकृत स्वर ए, ओ, अर्, अल्, का स्वरहीन ह्रस्वीभूत इ, उ, ऋ, लृ में परिवर्तन। इसी प्रकार प्रकृत वृद्ध स्वरों ऐ, औ, आर्, आल्, का ह्रस्वीभूत स्वरों में परिवर्तन यथा दिदेश (उसने बताया) दिष्ट (बताया हुआ) अध्येमि (मैं याद करता हूँ) अधीमः (हम याद करते हैं) वर्धते (वृद्धि) और 'वृधः' आदि इसके उदाहरण हैं। (२) स्वरयुक्त (Accented) प्रकृत संप्रसारण-स्वरों य, व, र का स्वर हीन ह्रस्वीभूत स्वरों इ, उ, ऋ में परिवर्तन इयज (मैंने यज्ञ किया) का इष्टं, उश्मि (वह इच्छा करता है) उश्मसि (हम इच्छा करते हैं) जग्रह (मैंने पकड़ा) जगृहुः (उन्होंने पकड़ा) (३) ह्रस्वीभूत क्रम में अ का लोप हो जाता है: घ्नन्ति (मारते हैं) घन+अन्ति। वृद्ध स्वर आ का ह्रस्वीभूत क्रम में या तो लोप हो जाता है या अ रह जाता है जैसे पाद का 'पदा' रूप (तृतीया में) दधाति (रखता है) दध्मसि (हम रखते हैं) (४) ह्रस्वीभूत क्रम में ऐ (जो स्वरों के पूर्व 'आय' एवं व्यञ्जनों के पूर्व आ हो जाता है) का रूप ई हो जाता है यथा गायन्ति (गाता है) गाय (गान) और गीत (गाया हुआ)। इसी प्रकार औ का ह्रस्वीभूत क्रम में ऊ हो जाता है धौतरी (कंपित) धूति (कम्पित करने वाला) एवं धूम (धूआँ)। (५) पदों में स्वर परिवर्तन होने पर समास में द्वित्व (Reduplication) की अवस्था में तथा सम्बोधन में ई, ऊ, ईर्, ऊर् का परिवर्तन इ, उ, ऋ में होता है यथा हूति (पुकार) का आहुति, दीव्य (बलाओ) का दीदिव; कीर्ति का चकृषे। देवी (कर्ता कारक) देवि (सम्बोधन)।[2] स्वर विकार की यह अवस्था अनार्य जातियों की भाषाओं के सम्पर्क के कारण और तीव्रतर होती गई और इस भाषा में कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण ध्वनि परिवर्तन हुए जो बाद की भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। इसमें स्वर भक्ति वाले परिवर्तन विशेष संलक्ष्य हैं। छन्दों के कारण शब्दों में इस तरह की स्वरभक्ति दिखाई पड़ती है। ऋक् संहिता में इन्द्र का उच्चारण इन्दअर होता था। स्वरभक्ति के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। दर्शत>दरशत; इन्द्र>इन्दर; सहस्रयः>सहस्रियः स्वर्ग>सुवर्ग (तैत्तिरीय संहिता ४।२।३) तन्वः>तनुवः; स्वः>सुवः (तैत्तिरीय आरण्यक

1. Origin and Development of Bengali Language. P. 165.

२. डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास, पृ० ३५-३६

४। १२। १; ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य भाषाओं में दिखाई पड़ती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (ब्रज, अवधी) में इनकी संख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पड़ता है जैसे प्रगल्भ>पगल्भ (तैत्तिरीय संहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय>पिय; चन्द्र>चन्द आदि रूप।[1] ब्रजभाषा में प्रहर>पहर; प्रमाण>पमान; प्रिय>पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमशः र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी। शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है। श्रीर, श्रील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।[3] र और ल ब्रजभाषा में परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक>भल्ला>भला। चत्वारिंशत>चालीस, पर्यंक>पलंग; घूर्ण>घोल आदि तथा व्याकुल>बाउल>बाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य-विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की स्वाभाविक भाषा है जिसके वाक्य-विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते हैं : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अपवाद भी मिलते हैं।'[4] वैदिक भाषा में क्रिया पदों में उपसर्गों को जोड़कर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पड़ती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। संस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती हैं। सविभक्तिक प्रयोग संस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है। गुलेरी जी ने निर्विभक्तिक पदों के ऐसे प्रयोगों को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को 'वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी मिली'[5] वस्तुतः वैदिक भाषा परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से संपृक्त थी।

---

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं।
२. याधो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३९८
३. रलयोरभेद : पाणिनीय
4. Vedic Grammar, IV Edition, 1955, London p. 234.
५. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण संवत् २००५, पृ० ६

४२६१

§ २३. ईसापूर्व १००० के आसपास वैदिक भाषा सारे उत्तर भारत में फैल गई। अनार्य और स्थानीय जातियों के संघर्ष और भाषा के स्वाभाविक और अनियमित प्रवाह के कारण इसमें निरन्तर मिश्रण और विकास होता गया। आर्यों के पवित्र मंत्रों की यह भाषा सर्वत्र मिश्रित और अशुद्ध भाषा का रूप धारण करने लगी, मध्यदेश के रक्त-शुद्धता के अभिमानी ब्राह्मण और राजन्य भी अपनी भाषा को एकदम शुद्ध न रख सके। अपनी भाषा की शुद्धि के चिन्तित आर्यों ने मध्यदेशीय भाषा का ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के निकटतम रूप को आदर्श मानकर संस्कार किया। इस संस्कार की हुई संस्कृत भाषा को प्राचीन भारत की धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचारित किया गया, 'लौकिक संस्कृत का अभ्युदय लगभग उसी प्रदेश में हुआ जिसमें कालान्तर में हिन्दुस्थानी का जन्म हुआ, अर्थात् पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश। हिन्दू शब्द का अर्थ प्राचीन भारतीय लेते हुए जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैनों के सभी मत-मतान्तर सम्मिलित हैं, हम कह सकते हैं कि हिन्दू संस्कृति के प्रसार के साथ ही संस्कृत का भी प्रसार हुआ। प्राचीन भारत की संस्कृति एवं विचार-सरणि के वाहक या माध्यम के रूप में संस्कृत को यदि हम एक प्रकार की ऐसी व्रजकालीन हिन्दुस्थानी कहें जो कि स्तुतिपाठ तथा धार्मिक कर्म-काण्ड की भाषा थी तो कुछ अनुचित न होगा।'[1] हम यह प्रश्न उठाना आवश्यक नहीं समझते कि संस्कृत प्राचीन काल में कभी सामान्यजन की भाषा के रूप में स्वीकृत रही है या नहीं। बहुत से लोग यह मानते हैं कि संस्कृत केवल एक कृत्रिम वर्ग-भाषा (Classjargon) थी जिसका निर्माण तत्कालीन बोलियों के पारस्परिक मिश्रण से एक साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ।[2] जिसे हम साहित्य-कलादि की भाषा (Kunsts-Prache) कह सकते है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्वीकार किया है कि संस्कृत शिष्टजन की भाषा है। एडाल्फ केजो जैसे विद्वान् संस्कृत को ऋग्वैदिक भाषा की तुलना में अत्यन्त कृत्रिम और बनावटी भाषा मानते हैं। ऋग्वैदिक भाषा निःसन्देह एक अत्यन्त प्राचीन बोली है जो व्याकरण की दृष्टि से परवर्ती कृत्रिम संस्कृत भाषा से पूर्णतया भिन्न है, उच्चारण, ध्वनिरूप, शब्द-निर्माण, कारकों, सन्धियों, और पद-विन्यास में कोई मेल नहीं है। पुराण, महाकाव्यों, स्मृतियों और नाटकों की संस्कृत और वैदिक भाषा में कहीं अधिक भिन्नता है जितनी कि होमर की भाषा और अत्तिक (Attic) में है।[3] किन्तु संस्कृत भाषा का यह रूप आरम्भ में ऐसा नहीं था। संस्कृत एक जमाने में निःसन्देह काफी बड़े जनसमुदाय की भाषा थी। कीथ ने संस्कृत को बोलचाल की शिष्ट भाषा कहा है। डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती ने तो इससे भी आगे बढ़कर कहा कि 'संस्कृत न केवल पाणिनि और यास्क के समय में ही बोलचाल की भाषा थी बल्कि प्रमाणों के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि वह बाद तक कात्यायन और पतंजलि के समय में भी बोलचाल की भाषा थी।[4] शिष्ट समुदाय की भाषा के रूप में स्वीकृत होने पर, वह बोलचाल की भाषा धीरे-धीरे जनसमुदाय से दूर हो गई और कालान्तर में वैयाकरणों के अति कठोर नियम-शृंखला में आबद्ध हो जाने के कारण इस भाषा का स्वाभाविक विकास

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १०३

2. S. S. Narula-Scientific History of Hindi Language 1955, pP. 25.

3. Studies in Rig-Vedic India.

4. The Linguistic speculation of Hindus. Calcutta,

रुक गया जो प्रवहमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २४. संस्कृत का प्रभाव परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। संस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के बोलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रही थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह संकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य-भाषा[1] के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है।[2] 'बौद्ध भारत में गान्धार से बंगाल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू-भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पंजाब और संभवतः सिन्ध में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्वी में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड़ और कोल भाषायें

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्रविड़ों से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हों, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के द्वाबे में।

---

१. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं

(१) प्राचीन आर्यभाषा-१५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतें, पाली आदर्श

(ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटकों की प्राकृतें शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश आदर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आदर्श

2. Budhist India, 1903, London, pp 53-54

४—द्वितीय स्तर की वैदिक भाषा जो ब्राह्मणों और उपनिषदों की साहित्यिक भाषा कही जा सकती है।

५—बौद्ध धर्म के उदय के समय गांधार से लेकर मगध तक की बोलियाँ जो परस्पर भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से बहुत अलग नहीं थीं।

६—बातचीत की प्रचलित भाषा जो श्रावस्ती की भाषा पर आधारित थी। जो कोशल के राज्य कर्मचारियों, व्यापारियों, और शिष्टजनों की भाषा थी, जिसका प्रयोग कोशल-प्रदेश तथा उसके अधिकृत स्थानों में पटना से श्रावस्ती और अवन्ती तक होता था।

७—मध्यदेशीय भाषा पाली संभवतः नं० ६ के अवन्ती में बोले जाने वाले रूप पर आधारित।

८—अशोक की प्राकृतें नं० ६ पर आधारित किन्तु नं० ७ और ११ से पूर्ण रूप से प्रभावित।

९—अर्धमागधी, जैन अंगों की भाषा।

१०—गुफाओं के शिलालेखों की भाषा, जो ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के बाद के शिलालेखों में प्राप्त होती है जो मूलतः नं० ८ पर आधारित थी।

११—परिनिष्ठित संस्कृत भाषा जो रूप और शब्दकोश की दृष्टि से नं० ४ पर आधारित थी किन्तु जिसमें नं० ५, ६ और ७ की भाषाओं के शब्द भी शामिल किये गए जिन्हें नं० ४ के व्याकरणिक ढाँचे में ढाल लिया गया, शिक्षा के कार्यों में प्रयुक्त होनेवाली यह साहित्यिक भाषा दूसरी शती ईस्वी सन् के आसपास राजमुद्राओं और शिलालेखों की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई और इसके बाद में चौथी-पाँचवीं शती के आस-पास भारत की देश-भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया।

१२—पाँचवीं शती की देशी भाषाएँ।

१३—साहित्यिक प्राकृतें नं० १३ की बोलियों का साहित्यिक रूप थीं जिनमें महाराष्ट्री प्रमुख थी। इसका विकास नं० ११ (संस्कृत) के आधार पर नहीं नं० १२ के आधार पर था जो नं० ६ की अनुजा कही जा सकती हैं अर्थात् अवन्ती की शौरसेनी की अनुजा।

प्रो० राय डेविस के इस विवेचन से ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी से पाँचवीं ईस्वी शती तक की भाषिक-स्थिति का रेखा-चित्र उपस्थित हो जाता है। पालि, मिश्रित संस्कृत, साहित्यिक प्राकृतों के पारस्परिक संबंधों के पूर्ण आकलन में उपर्युक्त विवेचन का महत्त्व निर्विवाद है।

§ २५ बौद्धयुगीन भाषाओं के इस पर्यवेक्षण से एक नया तथ्य सामने आता है। बहुत काल के बाद मध्यदेश की भाषा के स्थान पर पूरब की प्राच्य भाषा को सांस्कृतिक भाषा के रूप में सारे उत्तर भारत में मान्यता प्राप्त हुई। बुद्ध और महावीर जैसे प्रबल धर्मप्रचारकों की मातृभाषा होने के कारण पूर्वी भाषा को एक नया ओज और विश्वास मिला। अशोक के शिलालेखों में यद्यपि स्थान विशेष की बोलियों और जनपदीय भाषाओं को प्रमुखता देने का प्रयत्न हुआ है, किन्तु वहाँ भी प्राच्य भाषा (भावी मागधी प्राकृत) का प्रभाव स्पष्ट है।

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पड़ती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर संस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रों को ढूंढ सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषतायें यहां प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है। ऋ>अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

कृत>कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहबाजगढ़ी)
मृग>मग (गिर०) मिग (कालसी) म्रुग (शाहबाजगढ़ी)
व्यापृत>व्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहबाजगढ़ी)
एतादृश>एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहबाजगढ़ी)
मातृ>मातु (शाह०मानसेरा) माति (कालसी)
पितृ>पितु, पीति (शा० मा०) पितु-पिति (काल० धौली)
वृक्ष>वछ (गिर०) रुछ (शाह० मा०) दुख (कालसी)
वृद्धि>वढि (गिर०) वढि (शाह०) वढ (कालसी)

संस्कृत धातु √दृश् के दक्ख और दिक्ख परिवर्तन कई लेखों में दिखलाई पड़ते हैं। दिसेया को श्री केर्न (Kern) और श्रीहुल्त्श (Hultzsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी>पुठवी (धौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा का हिया<हृदय, पूछनो<पृच्छ्, पुहुमी<पृथ्वी, कियौ<कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत संध्यक्षर ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। कैवर्त>केवट। औ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पौत्र>पोत्र (गि० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) संस्कृत पौराण>पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अपि>पि, अभ्यन्तर>भितर। अहकम्>हकम्, हम या हौं (ब्रज)। अस्मि>स्मि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पड़ता है। यशः>यशो, यशो या यसो भी। बयः>यो। जनः>जने, प्रियः>पिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन्>अस्ति। सघोष व्यञ्जनों में स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे करण-कारक की विभक्ति भिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालव्यीकरण के उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। च>छ, क्षण>छण, मोक्ष>मोछ। त्य>च, आत्ययिक>आचयिक। द्य>ज, अद्य>अज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अन्य>अण। मन्य>मण। आज्ञप्>आ+णप भी होता है।

रूप-विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

शुद्ध प्रत्ययों में प्रथमा में ओ (धम्मो) द्वितीया में अं (धम्मं) तृतीया में एन (पुत्तेन) चतुर्थी में ये (अठाये 7 अर्थाय) पञ्चमी में अ (करणा) षष्ठी में स (जनस) तथा सप्तमी में ए, स्सि (ओरोधनस्सि उद्यानसि) रूप मिलते हैं।

सर्वनामों में अस्म > हकम > अहं (मानसेरा) तथा संस्कृत वयम् का मया से प्रभावित मये रूप काफी महत्त्व के हैं। तस्य > तस, ता, करण में तेहि < तैः। इदम् > इम (शेषुर) किन्तु < केन (*किन् हेमचन्द्र ३।६६) तथा < सर्व आदि सार्वनामिक रूप विकास की निश्चित अवस्था के द्योतक हैं। क्रिया के रूपों को 'अ' या 'आ' विकरण वाले रूपों में ही सीमित कर दिया गया है। यहाँ संस्कृत के अधिकांश धातुओं के रूप किञ्चित् ध्वनि परिवर्तन के साथ सुरक्षित हैं।

§ २६. अशोक के उत्तर पश्चिम और मध्यदेशीय शिलालेखों की भाषा को दृष्टि में रखकर ऊपर जो संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया गया है[1] उसमें मध्यकालीन भाषा के आरंभिक स्थिति का कुछ पता चलता है। जैसा मैंने निवेदन किया है कि अशोक की प्राकृत पर मुख्यतया प्राच्य प्रभाव ही दिखाई पड़ता है, किन्तु प्राच्य भाषा का यह आधिपत्य बहुत दिनों तक न रह सका और अशोक के काल में ही पालि भाषा ने जो मध्यदेश की भाषा थी, प्राच्य भाषा को दबाकर मध्यदेशीय प्रभुत्व की परम्परा को पुनः शृंखलित किया। पालि भाषा के बारे में, उसके स्थान को लेकर काफी विवाद हुआ है। आरम्भ में यह माना जाता था कि पालि बुद्ध के प्रदेश की भाषा है यानी यह अर्धमागधी का एक रूप है इसलिए इसे प्राच्य के अन्दर सम्मिलित करना चाहिए। मैक्स वालेसर ने पालि शब्द का उद्‌गम पाटलिपुत्र से बताया। उनके मत से ग्रीक लेखों में पाटलिपुत्र को पालिबोथ्र (Palibothra) कहा गया है। अतः पालिबोथ्र के पालि से सम्बन्ध जोड़कर वे इस भाषा को मगध की मानते हैं। ग्रियर्सन ने पालि भाषा के विवेचन के सिलसिले में कुछ मागधी और पैशाची प्रभावों के आधार पर इसे मगध की भाषा स्वीकार किया। प्रोफेसर रीज़ डेविड्स ने पालि को कोशल की बोली माना क्योंकि उनके मत से यह बुद्ध की मातृभाषा थी और चूँकि बुद्ध ने अपने को 'कोशलक्षत्तिय' यानी कोशल का क्षत्रिय कहा है इसलिए यह भाषा अवश्य ही कोशल की होगी। इस तरह के बहुत से कथन उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें पालि को पूर्वी प्रदेश की भाषा कहा गया है। सिंहल के विद्वानों ने पालि को बुद्ध के साथ जोड़कर इसे मगध की भाषा ही समझ लिया। किन्तु अब इस भ्रम का साधार परिहार हो चुका है। स्वर्गीय सिल्वां लेवी और हाइनरिख ल्यूडर्स (Heinrich Lueders) जैसे प्रसिद्ध भाषा-शास्त्रियों ने पुष्कल आँकड़ों के आधार पर इस भाषा को मध्यदेश की प्राचीन बोली सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।[2] बुद्ध वचनों का अनुवाद भारत की तत्कालीन विभिन्न बोलियों में हुआ क्योंकि अपने उपदेशों को जन सामान्य तक पहुँचाने के लक्ष्य से उन्होंने स्वयं इनके विभिन्न रूपान्तर उपस्थित करने की आज्ञा दी थी।[3] बुद्ध के निर्वाण के

---

१. अशोक के शिलालेखों की भाषा के सम्तुलनात्मक अध्ययन के लिए द्रष्टव्य—
M. A. Mahendale ; Historical Grammar of Inscriptional Prakrits, Poona 1948 Chapter i. PP 1-46.

2 W. Geiger, Pali Gramatik and H. Lueders, Epigraphische Beitrage, 1913.

३. अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुम्

बाद उनके उपदेशों के संग्रह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिक्षु महाकस्सप प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी संभव है कि उन्होंने वे वचन अपनी भाषा में उपस्थित किये हों। राजकुमार महेन्द्र स्वयं उज्जैन में रहते थे जहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटकों का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिंहल ले गए थे। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या *ध्वनि प्रक्रिया और रूपविचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियों से पालि को मध्यकालीन* आर्य भाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।[1] साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईस्वी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा संस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी भाषा की हैसियत से भारत की लोक कथाओं के जातक रूप में संकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पालि के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मथुरा तक के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुतः इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्तानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय-प्रदेश की भाषा थी, अतएव आसपास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धों के 'थेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और यही शाखा सिंहल में पहुँच कर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गई।[2] भारतीय आर्य भाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सहसा प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नहीं मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भों के आलेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और वैराट के शिलालेखों में भी स्थानीय भाषा को स्थान नहीं दिया गया 'फिर भी मध्यदेशीय भाषा अपने—र् शब्दों, कर्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के —ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयंकर रूप से लिया और संक्रान्ति काल से लेकर आजतक यह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश, ब्रजभाषा और आजकी हिन्दुस्थानी के रूप में पूर्वी और बिहारी भाषाओं पर प्रभुत्व जमाये रही।'[3] हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ज्या के शब्दों में रखना उचित नहीं समझते, ये मात्र भाषिक स्थितिजन्य परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ज्या ने स्वयं कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आस-पास के लोग आसानी से और ज्यादा संख्या में समझ सकते हैं, इसीलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

---

1. Origin and Developmant of Bengali Language P. 57.
२. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४ पृ० १७५
३. ओरीजिन एँड डेवलेप्मेन्ट आव बैंगाली लैंग्वेज, पृ० ६०

जो भी हो पालिभाषा मध्यदेश की भाषा के रूप में ब्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त अमूल्य कड़ी है, जिसके महत्व और गौरव के साथ ही भाषागत सौष्ठव और शक्ति की भी ब्रजभाषा उत्तराधिकारिणी हुई। यहाँ पालि-भाषा के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरणिक तत्वों का उल्लेख ही संभव है।[1]

§ २७. पालि और संस्कृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भाषा एक दूसरे स्तर पर विकसित होने लगी थी। ध्वनिविकास की दृष्टि से पालि की सर्वमान्य विशेषता है व्यञ्जनों का समीकरण (Assimilation of the consonents) उप्पन्न<उत्पन्न, पुत्त<पुत्र। भत्त<भक्त, धम्म<धर्म, आदि उदाहरणों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। य और ज तथा व् और य् के परस्पर परिवर्तन के उदाहरण भी मिलते हैं। अक्षर-संकोच की प्रवृत्तियाँ ब्रजभाषा या हिन्दी में मिलती हैं, किन्तु इनका आरम्भ पालि से ही दिखाई पड़ता है। कात्यायन>कच्चान। यवागु>यागु, स्थविर>थेर, मयूर>मोर, कुसीनगर>कुसीनर, मोद्गल्यायन>मोग्गलान आदि में संकोच का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार स्वरभक्ति या विप्रकर्ष के उदाहरण भी मिलते हैं। तीक्ष्ण>तिखिण, तृष्ण>तसिण, राज्ञा>राजिना, वर्यते>वरियते आदि। पालि भाषा में र और ल दोनों ही ध्वनियाँ वर्तमान हैं किन्तु र और ल के परस्पर परिवर्तन के उदाहरण भी विरल नहीं हैं। एरंड>एलंड, परिखनति>पलिखनति, त्रयोदस>तेरस>तेलस, दर्दुर>दद्दल, तरुण>तलुण। यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की परम्परा से प्राप्त हुई है। पोछे घूर्ण>घोल, पर्यङ्क>पलंग, मद्रक>मल्ल आदि के उदाहरण दिये गए हैं। उष्म व्यञ्जनों का प्राणध्वनि ह में परिवर्तन भी द्रष्टव्य है। प्रश्न>पण्ह (metathesis) अस्मना>अम्हना, कृष्ण>कण्ह, सुस्नात>सुण्हात। इन उदाहरणों में व्यंजन-व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है। इस तरह के उदाहरण ब्रज में बहुत मिलते हैं।

संस्कृत भाषा के व्याकरणिक नियमों की कड़ाई को पालि ने शिथिल कर दिया। संज्ञा और क्रिया दोनों के (dutes) रूपों की असार्थकता संस्कृत में भी अनुभव की जाती थी, किन्तु पालि ने इस व्यर्थ प्रसंग को समाप्त ही कर दिया किन्तु सरलीकरण का यह कार्य बहुत कुछ मिथ्या या निराधार समानताओं की दृष्टि से किया गया।[2] संस्कृत के नपुंसक लिंग के रूपों के साथ इ या उ अन्त वाले संज्ञा रूपों के न् विभक्ति की नकल पर पुल्लिंग रूपों में भी भिक्खुनो (पुत्रेः के लिए) जैसे प्रयोग किये गए। संप्रदान संबन्ध कारक के रूप भी अकारान्त प्रातिपदिकों की तरह बनाये गए जैसे अग्गिस्स, वाउस्स आदि उसी प्रकार अग्गिनो भिक्खुनो, रूप नपुंसक लिंग प्रातिपदिकों के मिथ्या सादृश्य के आधार पर बने। पालि व्याकरण की उन स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के आधार पर कुछ भाषाविदों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मध्यदेश की यह भाषा उन वैदिक बोली के नियमों से ज्यादा साम्य रखती है, जिसके बहुत से भाषिक विधान

---

1. पालि भाषा के शास्त्रीय अध्ययन के लिए विशेष द्रष्टव्य—
   Bhandarkar's Wilson philological Lectures, pali and other Dialects P. 31—79
   भिक्षु जगदीश कश्यप का पालि महा व्याकरण।
2. Wilson philological lectures, pp. 45

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गए थे।[1] उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुलिंग रूप 'इमस्स', 'फल' का प्रथमा बहुवचन 'फला', 'अस्थि' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डा० भांडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुलिंग और नपुंसक लिंग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रपात मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।[2] संस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपों में पालि में केवल आठ ही रह गए। भविष्य और वर्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'म्हे' वर्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्थो'। इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप हैं जिनका निर्माण आरंभिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई संस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भांडारकर ने कहा कि 'जब संस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्तमान रही है।[3] ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यस्तरीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अपना विशेष महत्व है। इन प्राकृतों को हम बहुत हद तक जनता की भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत नाटककारों ने इन भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनों की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता-मण्डल के लिए हास्य का एक सस्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनायें इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्ष शैली में लिखी गई हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे उन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों को शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत वैयाकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते हैं। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्तमान मथुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

---

१. वही, पृ० ५७
२. वही, पृ० ५७
३. वही, पृ० ६१

मागधी और शौरसेनी प्राकृतों के नाम के पीछे जनपदीय सम्बन्धों को देखते हुए लोगों ने महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र की भाषा और आज की मराठी की पूर्वज बोली स्वीकार किया। किन्तु नवीन शोध के आधार पर यह धारणा बहुत अंशों में निराधार प्रमाणित हो चुकी है। ईस्वी सन् १९३३ में डा० मनमोहन घोष ने अपने 'महाराष्ट्रीः शौरसेनी का परवर्ती रूप' शीर्षक निबन्ध[1] में कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि महाराष्ट्री प्राकृत वस्तुतः जनपदीय प्राकृत नहीं है, जिसका संबंध महाराष्ट्र देश से जोड़ा जा सकता है, बल्कि यह मध्यदेश की प्रसिद्ध शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती रूप है जो सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित होने के कारण महाराष्ट्री (आज के शब्द में राष्ट्रभाषा) कहलायी। दण्डी ने काव्यादर्श में प्राकृतों में महाराष्ट्री को 'महाराष्ट्राश्रित' तथा श्रेष्ठ प्राकृत कहा था।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरस्सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्‌॥

इसी के आधार पर डा० भांडारकर भी महाराष्ट्री को महाराष्ट्र देश से संबंधित मानते हैं। उन्होंने सेतुबन्ध, गाथासप्तशती, गौड़वध काव्य, आदि पर आश्रित महाराष्ट्री को शौरसेनी से भिन्न माना है।[2] श्री पिशेल और जूल ब्लाक भी महाराष्ट्री प्राकृत को मराठी भाषा की सुदूर पूर्वज मानते हैं। किन्तु श्री मनमोहन घोष इन ग्रन्थों की भाषा को शौरसेनी का परवर्ती रूप कहना ही उचित मानते हैं। श्री घोष के मत से वररुचि के प्राकृत-प्रकाश के वे अंश निश्चित ही प्रक्षिप्त हैं, जिनमें महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत बतलाया गया है। वररुचि के बाद उन्हीं के पदचिह्नों पर चलने वाले कुछ अन्य वैयाकरणों ने भी महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत बताया किन्तु दशरूपककार धनञ्जय, तथा रुद्रट के वर्गीकरणों में महाराष्ट्री का नाम भी नहीं है और प्रधान प्राकृत शौरसेनी समझी गई है। वे शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश की ही चर्चा करते हैं। उसी प्रकार प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची तथा अपभ्रंश का वर्णन किया है, वे भी महाराष्ट्री नाम से किसी खास भाषा को अभिहित नहीं करते। कई प्रमाणों के आधार पर श्री घोष इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'प्राकृत चाहे उसे दण्डी के उद्धरण के आधार पर महाराष्ट्री नाम दिया जाये किन्तु महाराष्ट्री का उस बोली से कोई सम्बन्ध न था जो महाराष्ट्र प्रान्त में उदित हुई। और यदि भौगोलिक क्षेत्र से उसका सम्बन्ध ढूंढना हो तो उसे हम मध्यदेश से संबद्ध कर सकते हैं। वस्तुतः यह शौरसेन प्रदेश की भाषा है।[3] मनमोहन घोष के इस मत से मिलती हुई धारणा और भी भाषाविदों ने स्थापित की थी। जान बीम्स ने स्पष्ट लिखा था कि संभवतः यह मान लेना जल्दीबाजी होगी कि मराठी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत की वंशानुगत उत्तरा-

---

1. Journal of the Deptt. of Letters, Calcutta University Vol. XXIII, 1933.
2. Wilson' Philological Lectures, pp 72-73.
3. Thus we may conclude that Prakrit, though it may be called Maharastri for the sake of Dandi, was not the dialect which has its origin in Maharastra and the geographical area with which it has any possible vital connexion is the Indian Midland and it is the language of S'aursena Region.
   Maharastri, a later phase of S'aurasni. J. D. L. C. XXIII p. 1-24.

धिकारिणी है।[1] मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यग अघोष व्यञ्जनों का सघोष रूप दिखाई पड़ता है, कालान्तर में सघोष ध्वनियाँ उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण वे लुप्त हो गई। विद्वानों की धारणा है कि शुक 7 सुअ, शोक 7 सोअ, नदी 7 नई की विकास-स्थिति में एक अन्तर्वर्ती अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थायें भी रही होंगी। चाटुर्ज्या ने लिखा है कि इसमें एक विवृति या ढिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'व, घ' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोघ,' रोघ' और 'नधी' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृतों में शौरसेनी तथा मागधी में क, स, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) द, ध के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Inter vocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का द्योतक है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवर्ती विकास-व्यञ्जक आँकड़ों के आधार पर मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवर्ती रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत के अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसंग में डा० चाटुर्ज्या ने हिन्दुस्थानी को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की घटनाका मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरब के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोड़कर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरब में भी इसका प्रभाव कम न था। खारवेल के हाथी गुंफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानों ने स्वीकार किया है। संस्कृत वैयाकरणों में कुछेक ने महाराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी या परवर्ती रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमें गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत संस्कृत न जाननेवाले लोगों विशेषतः स्त्रीवर्ग और असंस्कृत परिवारों की बोलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।[2] जब कि इसी का परवर्ती रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीतों की भाषा थी जैसा की १५वीं शती के बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।[3] प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या प्रथमध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की बहन एवं विगतकाल की प्रतिस्पर्धिनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।[4]

---

1. It is rather hasty to assume that Marathi is the final decendent of the Maharastri prakrit.
   Comparative Grammar of Modern Aryan Languges. 1872 p.34.
२. डा० हरिवल्लभ भायाणी—वाग्व्यापार पृ० १२०–१२४, विभिन्न प्राकृतों के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारो'
3. Like Brajbhasa in Northern India from the 15 th century downwards, Maharastri became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period
   Origin and development of Bangali Language p 86.
४. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १००

§ २९. ऊपर के कथन के पीछे मात्र स्थानीय संबन्धजनित युक्ति ही नहीं बल्कि ठोस भाषा शास्त्रीय धरातल भी है। हम ब्रजभाषा के उद्भव और विकास के अनेक उनके दूर तत्वोंको शौरसेनी के ध्वनि और रूप विकास के अध्ययन के आधार पर पुनर्भ्रम सकते हैं। ध्वनि विकास के क्षेत्र में प्राकृत भाषा के अन्तर्गत एक आश्चर्यजनक स्थिति दिखाई पड़ती है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ने लगी। ध्वनियों के इस व्यवहाल में स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ व्यवहार में प्राचीन आर्य भाषा की नियमितता का अभाव दिखाई पड़ता है। स्वरान्त व्यञ्जनों के प्रयोगों के बढ़ जाने के कारण सम्भवतः स्वरों की दीर्घता में कमी आ गई। ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व स्वरों के प्रयोग की अनियमित प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी। पिशेल ने इस प्रकार के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[२] पाअड<प्रकट, रिहावस<अरिष्टमर, पासिद्धि<प्रसिद्धि, णाहीकमल<नाभिकमल, गिरीवर<गिरिवर, पिईमओ<पृतिमतः। मध्यभारतीय आर्य भाषाओं में भी स्वरों के ह्रस्व दीर्घ के विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं। पानी>पनिहार, नारायण>नरायन, राजा>रजायस आदि। मध्यग व्यञ्जनों के लोप के कारण प्राकृत शब्दों के प्रयोगों में अपजकता उत्पन्न हो गई। परिणामतः नव्य आर्य भाषाओं में इसे दूर करनेके लिए पुनः तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा। किन्तु सरलीकरण की जिस प्रवृत्ति के कारण व्यञ्जन और स्वरों में क्षयिष्णुता उत्पन्न हुई, उसने शब्दों की एक नई जाति ही खड़ी कर दी, यही नहीं प्राकृत भाषा में स्वराघात के पुराने नियम एकदम लुप्त-से हो गए। रूपतत्त्व की दृष्टि से इस भाषा के परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। संज्ञा के प्राचीन द्विवचन वाले रूपों का शनैः शनैः अभाव-सा होने लगा। कारकों की संख्या में भी न्यूनता दिखाई पड़ती है। सम्प्रदान और सम्बन्ध कारक के रूप प्रायः एक जैसे हो गए। प्रथमा और द्वितीया के बहुवचनों में प्रयुक्त रूपों में समानता दिखाई पड़ती है। विभक्तियों की शिथिलता के कारण परसर्गों के आरम्भिक रूप दिखाई पड़ने लगे। 'रामाय दत्तम्' के स्थान पर 'रामाय कए दत्तम्' तथा 'रामस्य गृहम्' के स्थान पर 'रामस्य केरक घरम्' के प्रयोगों में हम नव्य भाषा के षष्ठी के 'की', 'का' 'को' आदि परसर्गों के बीज विन्दु पा सकते हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति इसे अश्लिष्टता की ओर प्रेरित करने लगी। क्रिया रूपों में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित हो गए। प्राचीन आर्यभाषा के भावरूप प्रायः नष्ट हो गए। इस प्रकार प्राकृत में कर्तरि वर्तमान, कर्मणि वर्तमान, एक भविष्यकालिक निर्देश का रूप और एक आज्ञार्थक तथा एक विधिलिंग के रूप ही प्रचलित रहे। भूतकाल में सामान्य भूत में कृदन्त रूपों का प्रयोग बढ़ने लगा, जो आगे चलकर अपभ्रंशों में और भी अधिक प्रचलित हुआ जिनसे नव्य आर्य भाषाओं में भूतकाल के कृदन्तज रूप तथा संयुक्त रूपों का निर्माण हुआ।[३]

---

२. पिशेल ग्रेमेटिक डर प्राकृत स्प्राख़े §§ ७०, ७१ आदि। डा० चाटुर्ज्या द्वारा भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १० पर उद्धृत

३. प्राकृत भाषा के शास्त्रीय विवेचन के लिए द्रष्टव्य

(क) प्राकृत व्याकरणों के अतिरिक्त

(ख) भांडारकर फिलालॉजिकल लेक्चर्स-प्राकृत ऐंड अदर डाइलेक्ट्स

(ग) चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १०।११

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पड़ती थीं। इस प्रकार ये विशिष्टतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप की नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओं की ओर संकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशिष्टतायें बताई हैं।[1]

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का ध में परिवर्तन (सूत्र २६०-२६२-२७३-२७६)।

(ख) य का य्य में परिवर्तन, आर्यपुत्र>अय्यपुत्त।

(ग) भू धातु के रूपों में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवदि आदि।

(घ) व्यञ्जनान्तस्वरों के कुछ विचित्र कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया<कंचुकिन्, सुहिया<सुखिन्, रायं<राजन, विययवम्मं<विजयवर्मन्।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'त्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण, उडुअ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पढिय, पढिदूण, (√पठ्) कडुअ<√कृ और गडुअ<√गम्।

(च) भविष्यत्काल में 'स्सि' विभक्ति, हि, स्स, या ह नहीं (२७५)

(छ) दांणि, ता यूयेव, णं, हीमाण हे, ह, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणों का प्रयोग (२७७-८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम उस भाषा के रूप की कल्पना नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसीलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगों पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर ढूंढा जा सकता है। हेमचन्द्र ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषतायें निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही संभव था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं की भाषा पर संस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईस्वी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा-विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्वों का विवेचन नहीं किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण-प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। साहित्य में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अत्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना तत्व अनार्य भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में भी अनार्य

---

१. हेम व्याकरण, बम्बई संस्कृत और प्राकृत सीरीज़, १९३६

भाषाओं के विकास की पूर्वपीठिका स्थापित कर दी। रूप तत्त्व सम्बन्धी अपभ्रंश की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. प्राकृतकाल से ही व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों का लोप होने लगा था। अपभ्रंश ने इस प्रकार अधिकांश प्रातिपदिकों को स्वरान्त कर दिया। स्वरान्त प्रातिपदिकों के रूप भी अकारान्त पुल्लिंग शब्द के रूपों से अत्यन्त ही प्रभावित होते थे। अपभ्रंश में अ, इ, उ-कारान्त प्रातिपदिक ही रह गए और इस तरह इस भाषा में शब्द रूपों की जटिलता समाप्त हो गई।

२. व्याकरणिक लिंग-भेद प्रायः लुप्त हो गया और अ, इ, उ-कारान्त प्रातिपदिकों के रूपोंमें बहुत कुछ समानता होने के कारण शब्दों का लिंग निर्णय करना और भी कठिन हो गया। कुम्भइं (पुं) रहइं <रेखा (स्त्री) अन्त्रइं < अन्त्रे (उभयलिंग)।

३. अपभ्रंश की कारक-विभक्तियों को तीन समूहों में रखा जा सकता है। प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन का एक समूह, दूसरा तृतीया और सप्तमी और तीसरा समूह चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी का। पिछले दोनों समूहों में विपर्यय और मिश्रण इस मात्रा में होने लगा कि सामान्य कारक (Direct case) और विकारी रूप (Oblique) से ही काम चल जाता था। इस प्रकार संस्कृत के एक शब्द के २१ रूपों के स्थान पर प्राकृत में १२ और अपभ्रंश में केवल ६ रूप रह गए।

४. लुप्त विभक्तिक पदों के प्रयोग के कारण वाक्य-विन्यास में काफी कठिनाई उत्पन्न होने लगी। निर्विभक्तिक प्रयोग परवर्ती भाषाओं में भी मिलते हैं किन्तु अपभ्रंश काल में ही इस कठिनाई को दूर करने के लिए परसर्गों का प्रयोग होने लगा। अपभ्रंश में करण कारक में सहुं, तण (जिससे ब्रजभाषा का सों, तण और तें रूप बना) सम्प्रदान में रेसि और केहि (केहि कहं, आदि) षष्ठी में केरअ, केर, केरा (जिनसे ब्रज का केरो, को, की आदि परसर्ग बने) अधिकरण में मज्झि, मझि (जिससे महं, माहि, मझारी आदि परसर्गों का विकास हुआ) आदि परसर्गों का प्रयोग होता था।

५. सर्वनामों के बहुविध प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। पुरुष वाचक के हउँ, मइं, मुज्झु, तुहुँ, सो, तसु तासु, तथा अन्य, ओइ (वह) इहो (यह) कवण, केवि आदि रूपों में हम नव्य भाषाओं के सर्वनामों की स्पष्ट छाया देख सकते हैं। अप्पणा (निजवाचक) जित्तिउ, तित्तिउ (परिमाण वाचक) जइसो तइसो (गुणवाचक) तुम्हारिस, हम्हारिस (सम्बन्धवाचक) आदि प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं।

६. काल रचना की दृष्टि से अपभ्रंश के क्रिया रूपों में लट्, लोट् और लृट् के रूप तिङन्त होते थे, शेष कालों के रूप प्रायः कृदन्तज होने लगे। कृदन्त रूपों के साथ क्रियार्थभेद और काल सूचित करने के लिए संयुक्त रूपों का निर्माण हुआ जिसमें अच्छइ, अच्छु जैसी सहायक क्रियाओं का प्रयोग भी होने

लगा। सामान्य वर्तमान के करउं, करहुं, करहि, करइ, करइ, करइं आदि रूपों से करौं, करै, आदि व्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे। लोट् (आज्ञार्थक) में अ, इ, उ-कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि। व्रज में करौ, करहु आदि 'करु' से बने रूप हैं। भविष्यत् में अपभ्रंश में स-और-ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउं आदि। व्रज में करिहै, करिहौं, हैहै आदि रूप चलते हैं। विधिलिंग के रूपों में इज्ज प्रत्यय लगता है। करिज्जइ>करीजे (व्रज) भूतकाल के रूप कृदन्तज थे, किय, भणिय, हुअ, गय आदि। उकार बहुला भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे। व्रज में कियौ, गयौ, भयौ आदि इसके रूपान्तर हैं। संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था। रडन्तउ जाइ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ जन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। व्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ। पूर्वकालिक क्रियाओं में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एप्पिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही। व्रज में यही प्रचलित हुआ। प्रेरणार्थक 'आव' प्रत्यय बोल्लावइ, पणवइ में दिखाई पड़ता है, यही व्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दों और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की। इन देसी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में बिल्कुल नहीं थी। इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओं की ओर उन्मुख किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्रजभाषा के विकास के पीछे सैकड़ों वर्षों तक की परम्परा ी है। इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड़ और न जाने कितने प्रकार प्रभाव घुले मिले हैं। आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान करने पड़े हैं, जितने मोड़ लेने पड़े हैं, उन सबकी कुछ न कुछ विशेषता है, इन सबका लित और आवश्यक दाय व्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्व इस ा के ढाँचे में प्रतिष्ठापित हुए। १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी भूमि में व्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके सिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की ा थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक ों का ओज और बल।

ब्रजभाषा का उद्गम

शौरसेनी अपभ्रंश (वि० १०००-१२००)

§ ३५. ईस्वी सन् की पहली सहस्राब्दी के अन्तिम भाग में, जब परिनिष्ठित अपभ्रंश समूचे उत्तर भारत की प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृति पाकर साहित्य का लोकप्रिय माध्यम हो गया था, उन्हीं दिनों उसका मूल और शुद्ध शौरसेनी रूप अपनी जन्मभूमि में विकसित होकर ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका प्रस्तुत कर रहा था। १००० ईस्वी के आसपास नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के उदय का काल निर्धारित किया जाता है। यह काल-निर्धारण पूर्णतः अनुमानाश्रित है, इस काल को सौ वर्ष आगे-पीछे भी खींचा जा सकता है, किन्तु ईस्वी सन् की १२ वीं शताब्दी के अन्त तक मैथिली, राजस्थानी, अवधी और गुजराती आदि भाषाओं के समारंभ को सूचित करने वाले साहित्य की उपलब्धि को देखते हुए उनके उदय का काल तीन चार सौ साल और पीछे ले जाना ही पड़ता है। मध्ययुग में अपभ्रंश के प्रचार और उसकी व्यापक मान्यता के पीछे राजपूत सामन्तों के प्रति जन सामान्य की श्रद्धा और अभ्यर्थना को भी एक कारण माना जाता है। चूँकि इन सामन्तों ने अपभ्रंश को अपने दरबारों की भाषा का स्थान दिया, उनके यश और शौर्य की गाथायें और स्तुतियाँ इसी भाषा में छन्दोबद्ध की गयीं इसलिए मुसलमानी आक्रमण से संत्रस्त और संघटन तथा त्राण की इच्छुक जनता ने इस भाषा को सांस्कृतिक महत्त्व प्रदान किया। 'नवीं से बारहवीं शताब्दी के काल में परिनिष्ठित अपभ्रंश, राजपूत राजाओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण, जिनके दरबारों में इसी शौरसेनी की परवर्ती या उसी पर आधृत भाषायें व्यवहृत होती थीं, और जिसे चारणों ने समृद्ध और शक्ति-सम्पन्न बनाया था, पश्चिम में पंजाब और गुजरात से लेकर पूरब में बंगाल तक समूचे आर्य भारत में प्रचलित हो गया। संभवतः यह उस काल की राष्ट्रभाषा माना जाता था।'[1] श्री चाटुर्ज्या के

---

1. Origin and Development of Bengali Language pp. 113

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरंभिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्यदेशी थीं।

§ ३६. इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। पृथ्वीराज रासो संवत् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यत्र-तत्र फुटकल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७. नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदीयमान भाषा के लिए भयंकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव संभालने में घरेलू बोली को भूल जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निज़ामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिंजर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुर्कों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिसे महमूद गज़नवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। कैम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूद को प्रभावित किया था।[1] दूसरों ने मसऊद इब्न-साद के हिन्दी दीवान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५-११३० ईस्वी के बीच शासन किया।[2] इन प्रमाणों में संकेतित भाषा को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अपभ्रंश का अर्थ खींचना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रमाणों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग ३ पृ० ३
2. प्रो० हेमचन्द्रराय ८ वीं ओरियन्टल कान्फरेन्स का विवरण—मैसूर १९३५ 'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'

निर्णय हो सकता है, किन्तु यह कठिनाई व्रजभाषा के लिए तो बिल्कुल ही नहीं है, क्योंकि उसकी पूर्वपीठिका के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश की सामग्री उपलब्ध है, हम उस सामग्री के आधार पर संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं। याकोबी ने कहा था कि अपभ्रंशों का ढाँचा नव्य भाषाओं का था और रूप संभार आदि प्राकृत का। याकोबी के इस कथन की यथातथ्यता भी प्रमाणित हो सकती है यदि हम शौरसेनी अपभ्रंश के मूल ढाँचे को व्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से संबद्ध करने में सफल हो सकें।

§ ३८. प्रश्न होता है कि यह शौरसेनी अपभ्रंश क्या है? दसवीं शताब्दी के आस-पास उसका कौन-सा रूप कहाँ उपलब्ध होता है। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों के प्रसंग में शौरसेनी को एक प्रकार माना है। किन्तु शौरसेनी का निश्चित रूप क्या है, इसमें मतैक्य नहीं है। १९०२ ईस्वी में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल ने अपभ्रंश की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं का संकलन करके 'मेतीरियलिन ज़र कैन्तिस अपभ्रंश' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन कराया। उक्त ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने इस सुन्दर और पुष्ट भाषा की पुष्कल सामग्री के विनाश के लिए शोक व्यक्त किया, किन्तु कौन जानता था कि उनके इस शोक के पीछे छिपी अपभ्रंश के उद्धार की महती सदिच्छा इतनी शीघ्र पूर्ण होगी। आज अपभ्रंश की भारी सामग्री प्रकाश में आ चुकी है। जो कुछ प्रकाश में आई है उसका कई गुना अधिक अब भी विभिन्न शतशात भाण्डारों में दबी पड़ी है। प्रो० हरि दामोदर वेलणकर ने १९५४ में अपभ्रंश ग्रन्थों की एक सूची प्रकाशित कराई थी जिनमें ढाई सौ से ऊपर महत्वपूर्ण रचनाओं का विवरण उपलब्ध है।[1] अलग-अलग भांडारों की सूचियाँ प्रकाशित होती जा रही हैं। इस सामग्री के समुचित विवेचन और पूर्ण विश्लेषण के बाद ही बहुत से उलझे हुए प्रश्नों का समाधान सम्भव है।

§ ३९. इनमें से प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या भी कम नहीं है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, योगीन्दु और रामसिंह जैसे कवियों की कृतियाँ किसी भी भाषा को गौरव दे सकती हैं। इन लेखकों की भाषा प्रायः परिनिष्ठित अपभ्रंश कही जाती है। किन्तु ९वीं शताब्दी से पहले की कृतियों की भाषा प्राकृत से इतनी आक्रान्त और रक्षित है कि इसमें भाषा का सहज प्रवाह नहीं दिखाई पड़ता, वैसे इनके भीतर भी हम प्रयत्न करके व्रजभाषा के विकास के कुछ तत्व पा सकते हैं। वस्तुतः नवीं तक की यह अपभ्रंश भाषा अत्यन्त कृत्रिम तथा रूढ़ प्रयोगों से दबी हुई है। यह आज की पंडिताऊ हिन्दी की तरह अत्यन्त पुस्तकीय और प्राकृत का अनावश्यक सहारा लेने के कारण पंगु मालूम होती है। अपभ्रंश का लोकमान्य तथा सहज रूप नवीं दसवीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में मिलता है। गुलेरी जी ने ठीक ही कहा था कि 'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। विक्रम की ७वीं से ११वीं तक अपभ्रंशों की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई।'[2] हम गुलेरी जी की तरह बाद की अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी न भी कहें तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पुरानी हिन्दी या व्रजभाषा के स्वरूप में सहायक अपभ्रंश

---

१. जिन रत्न कोश, खण्ड १, १९५४ ई०
२. पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, २००५ संवत् पृ० ११३

तत्वों के अन्वेषण के लिए यही बाद की अपभ्रंश ही महत्त्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल की कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से ध्वस्त मध्यदेश में हस्तलेखों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या लिखा गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४०. संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रंश का जैसा सुन्दर और विशद विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हेम व्याकरण के अपभ्रंश-भाग की सबसे बड़ी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'सीला बीनने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक-उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आगा' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ साथ उसका भट्टि भी है।'[1] हेम व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेस्सीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२६-४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (संवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।' तेस्सीतोरी ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेन अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। संभवतः उन्होंने यह नाम जार्ज ग्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आगे डा० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और व्राचड वाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव्य भाषाओं को जो समूहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

---

१. पुरानी राजस्थानी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५

हेमचन्द्र की अपभ्रंश नागर थी जो मध्यदेश की भाषा थी।[1] डा० भांडारकर अपभ्रंश भाषा का उद्गम और विकास का क्षेत्र मथुरा के आस-पास मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'छठीं-७वीं शताब्दी के आस-पास अपभ्रंश का जन्म उस प्रदेश में हुआ, जहाँ आजकल ब्रजभाषा बोली जाती है।'[2] हेमचन्द्र के काल में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश का सारे उत्तर भारत में आधिपत्य था। मुंशी ने लिखा है कि 'एक जमाना था जब शौरसेनी अपभ्रंश गुजरात में भी प्रचलित थी।'[3] प्रसिद्ध जर्मन भाषाविद् पिशेल हेमचन्द्र के व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा को शौरसेनी मानते हैं।[4] इसी प्रकार डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या हेमचन्द्र के दोहों को पश्चिमी अपभ्रंश (जिसे मूलतः वे शौरसेनी मानते हैं) की रचनायें स्वीकार करते हैं। 'पश्चिमी अपभ्रंश को एक तरह से ब्रजभाषा और हिन्दुस्तानी की उनके पहले की ही पूर्वज कहा जा सकता है। गुजरात के जैन आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) द्वारा प्रणीत व्याकरण में उदाहृत पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचलित साहित्य के कुछ उदाहरणों से हमें इस बात का पता चलता है कि उस काल की भाषा हिन्दी के कितनी निकट थी।'[5] एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं: 'मध्ययुग के उत्तर भारत के संत और साधु लोगों की परम्परा जिन्होंने स्थापित की थी, ऐसे राजपूताना, पंजाब और गुजरात के जैन आचार्य लोग तथा पूर्व भारत के बौद्ध सिद्धाचार्य लोग, और बाद में समग्र उत्तर भारत में फैले हुए शैव योगी या नाथ पंथ के आचार्य लोग, बंगाल के सहजिया पंथ के साधक—इन सबों के लिए शौरसेनी अपभ्रंश जनता के समक्ष अपने मत और अपनी शिक्षा के प्रसार के वास्ते एक अच्छा साधन बना।'[6] इस कथन में 'जैन आचार्य' पद से हेमचन्द्र की ओर संकेत स्पष्ट है।

§ ४२. एक ओर उपर्युक्त और अन्य भी बहुतेरे विद्वान् हेमचन्द्र की अपभ्रंश को शौरसेनी मानते हैं, दूसरी ओर गुजरात के कुछेक विद्वान् इसे 'गुर्जर अपभ्रंश' मानने का आग्रह करते हैं। सर्वप्रथम श्री के० ह० ध्रुव ने दसवीं—ग्यारहवीं शती में गुजरात में लिखे अपभ्रंश के साहित्य की भाषा को प्राचीन गुजराती विकल्प से अपभ्रंश नाम देने का सुझाव रखा। इसी मत को और पल्लवित करते हुए श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने हेमचन्द्र के व्याकरण के अपभ्रंश को शुद्ध गौर्जर अपभ्रंश सिद्ध करने का प्रयास किया। आपणा कवियो के उपोद्घात में उन्होंने संकल्प किया कि इस पुस्तक में हेमचन्द्र के अपभ्रंश

1. We may therefore assume that Nagara Ap. was either the same as or was closely related to Saurasena Apabhrams'a.
George Grierson, on the Modern Indo Aryan Vernaculars § 63.
2. About the sixth or seventh century, the Apabhramsa was developed in the country, in which the Brajbhasa prevails in modern time
Wilson's philological lectures, pp, 301.
3. K. M. Munshi, Gujarat and Its Literature pp 20.
४. डा० चाटुर्ज्या की पुस्तक 'वाग्धारा' का पृष्ठ १२६ द्रष्टव्य
५. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १०८-१०९
६. राजस्थानी भाषा पृ० ६२-६३
७. आपणा कवियो खंड १, नरसिंह युगनी पहेलां, उपोद्घात, पृ० ६९-७०

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कंडेय ने २७ अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती कंठाभरण में 'अपभ्रंशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जराः' की जो हुंकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें किसे शंका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रंश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'पहले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकतायें गौर्जर अपभ्रंश कहेवा माँ मने बाध जणातो न थी। ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'पैत्तव' (विस्तार के अर्थ में शायद) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। यह आभीर-अपभ्रंश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणों का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रंश को शौरसेनी कहने वालों पर रोष प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं: 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छाप आ० हेमचंद्र ना अपभ्रंश मां जोई छे। डा० याकोबी, पीशल, सर ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० गुणे वगेरे विद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने शौरसेनी अपभ्रंश कहेवा ललचाय छे। इसके बाद हेमचन्द्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की अपवादिक विशिष्टताओं का प्रभाव अपभ्रंश में न देखकर शास्त्री जी इसको शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३. मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दोष से पीड़ित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रंश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रंश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रंश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे बंगाल में यदि उनमें शौरसेनी की प्रधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (सं० १२४१) को गौर्जर अपभ्रंश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

§ ४४. अपभ्रंश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रंश साहित्य को जो लोग शौरसेनी या उसपर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रंश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वों' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति संबन्धी छोटे-मोटे भेदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इसके सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जातीं।[1] सोमप्रभ के

---

1. परमात्मप्रकाश, एस० जे० एम० ११, प्रस्तावना पृ० १०८

गे, जो गुजरात से मध्यदेश तक फैली हुई थी। मथुरा इन्हीं शाखाओं में एक की राजधानी थी। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में मथुरा के प्रसिद्ध क्षत्रप शोडास के शासनकाल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें एक वासुदेव भक्त अपने स्वामी क्षत्रप शोडास के कल्याण के लिए वासुदेव से प्रार्थना करता है।[1] १८८२ ईसवी में श्री कनिंघम को मोरा नामक स्थान में एक लेख मिला था जो दूसरे क्षत्रप राजुवुल के काल का बताया जाता है, जिसमें पंचवीरों (कृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध) की प्रतिमाओं की चर्चा है।[2] रुद्रदामन् गुजरात का प्रसिद्ध शासक था जो संस्कृत का बहुत बड़ा हिमायती और विद्वान था। इस प्रकार शकों के शासनकाल में मध्यदेश और गुजरात का सम्बन्ध बहुत नजदीकी हो गया था।

§ ४७. वासुदेव धर्म के ह्रास के दिनों में मथुरा में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। सन् १८८९-९१ ईसवी में श्री फ्यूहरर ने मथुरा के पास कंकाली टीले की खुदाई कराई फलस्वरूप जैन संस्कृति और मध्यकालीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अत्यन्त महत्त्व की सामग्री का पता चला।[3] इस कंकाली टीले के पास की खुदाई में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर विदित होता है कि कुषाण काल से ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक मथुरा जैन धर्म का प्रबल केन्द्र रहा। जैन तीर्थंकर सुपार्श्व की जन्मभूमि होने के कारण उत्तर भारत के जैनियों के लिए इसका आकर्षण अक्षुण्ण था। यह परम्परा-प्रसिद्धि है कि जैनियों की दूसरी धर्म-सभा स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में मथुरा में हुई थी जिसमें धार्मिक ग्रन्थों को सुव्यवस्थित किया गया। अतः स्पष्ट है कि मथुरा मध्ययुग में जैन धर्म का सर्वश्रेष्ठ पीठ-स्थल मानी जाती थी, इस प्रकार गुजरात के जैनियों का यहाँ से संबंध एक दम अनुमान की ही चीज़ नहीं है। मथुरा की भाषा और जैन संस्कृति से सुदूर पूरब के जैन नरेश खारवेल भी प्रभावित थे। खारवेल के हाथी गुंफा वाले लेखों की भाषा में मध्यदेशीय प्रभाव देखकर लोगों ने निष्कर्ष निकाला था कि ये लेख खारवेल के जैन गुरुओं की शौरसेनी भाषा में थे, जो मथुरा से आये थे।[4] उसी तरह मथुरा की जैन संस्कृति का प्रभाव पश्चिम गुजरात तक भी अवश्य ही पहुँचा था। यही नहीं जैन आगमों और परवर्ती रचनाओं में कृष्ण-काव्य का अत्यन्त प्राचुर्य दिखाई पड़ता है, जिसे मथुरा का भी प्रभाव मानना अनुचित न होगा।[5] जैन परम्परा के अनुसार गुजरात के प्रथम चालुक्य राजा कन्नौज से आये।[6]

इस प्रकार ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि गुजरात और मध्यदेश का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। परवर्ती मध्यकाल में वैष्णव धर्म के उदय के बाद तो यह सम्बन्ध और भी

---

१. श्री रायप्रसाद चन्दा : आर्कियोलॉजिकल सर्वे आव् इण्डिया, संख्या ५ आर्कियोलॉजी आव् वैष्णवट्रेडीशन
2. Morawell Inscription, Epigraphica Indica pp. 127.
3. Report of the Orchæological Survey of India, for Kankali teela excavation 1889-91.
४. राजस्थानी भाषा पृ० ४५
५. जैन साहित्य में कृष्ण का स्थान के लिए द्रष्टव्य श्री अगरचन्द नाहटा का लेख 'जैनागमों में श्री कृष्ण' विश्वभारती, खंड २, अंक ४, १९४४ पृ० २२६।
6. V. Smith, J. R. S. 1908, PP. 769

[प्र]दत्त हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारंभिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत [सा]म्य है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री [गो]पीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विट्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की [या]त्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की [भा]षा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो ब्रजभाषा के कुछ फुटकल पद्य [भी] लिखे।[1]

§ ४८. हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनायें कहाँ कहाँ से ली गई इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमव्याकरण के अपभ्रंश-दोहे कहां से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या हैं, इत्यादि प्रश्न उठते हैं! अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और किंवदंती कथायें संकलित की गई हैं। कुमारपाल प्रतिबोध[2] की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्षे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

> जउ पवसन्ते सहुं न गय न मुअ विओएँ तस्सु
> लज्जिज्जउ संदेसडा दिंतेहिं सुहय स जणस्स
> [हेम० व्या० ८।४।४१९]

> जसु पवसंत ण पवसिया मुअए विओइ ण जासु
> लज्जिज्जउं संदेसडउ दिन्तीं पहिअ पियासु
> [सं० रा० ७२]

सदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

---

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित

माने तो भी हेमचन्द्र ने अद्दहमाण से यह दोहा लिया ऐसा प्रतीत नहीं होता। लगता है कि दोनों ही लेखकों ने यह दोहा लोक प्रचलित किसी बहुमान्य कवि की कृति से या किसी लोक गीति (Folk song) से प्राप्त किया था। इस दोहे पर लोकगीति के स्वर और स्वच्छन्द वर्णन की विशिष्ट छाप आज भी सुरक्षित है। हेम व्याकरण के अन्य दोहों में से एक परमात्म प्रकाश में उपलब्ध होता है और कुछेक की समता सरस्वती कंठाभरण, प्रबन्ध चिन्तामणि, चतुर्विंशति प्रबन्ध आदि में संकलित दोहों से स्थापित की जा सकती है।[1] हेमचन्द्र के कई दोहे अपनी मूल परम्परा में विकसित होते होते कुछ और ही रूप ले चुके हैं, गुलेरी जी ने 'वायसउड्डावन्तिए' वाले तथा और कुछेक दोहों के बारे में सन्तुलनात्मक विवेचन पुरानी हिन्दी में उपस्थित किया है।[2]

इन दोहों में एक दोहा मुंज-भणिता से युक्त भी मिलता है जो प्रबन्ध चिन्तामणि वाले मुंजभणिता-युक्त दोहों की परम्परा में प्रतीत होता है।

बाहु विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवइं को दोस।
हियडिय जइ नीसरइ जाणउँ मुंज सरोस॥

ब्रजकवि सूरदास के जीवन से संबद्ध ऐसा ही एक दूसरा दोहा भी है, इन दोनों का विचित्र और मनोरंजक साम्य देखते ही बनता है। सूर संबन्धी दोहा यह है—

बांह छुड़ाये जात हो निबल जानिके मोंहि।
हिरदै से जब जाहुगे तो हों जानौं तोहिं॥

क्या यह साम्य आकस्मिक है? क्या इस दोहे को सूरदास के काल में या किसी ने या सूरदास ने स्वयं हेम व्याकरण के दोहे के आधार पर रूपान्तरित किया था। यह पूर्णतः असंभव है, और संभव यही है कि जिस मध्यदेश में यह दोहा निर्मित हुआ, उसी का एक पूर्ववर्ती रूप हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में संकलित किया शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरण के लिए, वही अपनी स्वाभाविक परम्परा और जन-मानस में निरन्तर विकसित होकर सूर के पास पहुँचा, लौकिक शृंगार के स्थान पर भक्ति का पीताम्बर डालकर, किंचित् भिन्न अर्थ में।

§ ४२. मालव नरेश मुंज का चरित्र मध्यकाल के शौर्य और शृंगार से रंगे सामन्ती वातावरण में अपनी विचित्र प्रेम-भंगी और आतिकारुणिकपरिणति के कारण अद्वितीय आकर्षण की वस्तु हो गया था। मुंज (वाक्पतिराज द्वितीय, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथ्वी वल्लभ) १०३१ वि० सं० से १०५५ विक्रमी के बीच मालवा का राजा था।[3] १०५१-५५ विक्रमी के बीच कभी उसने कल्याण के सोलंकी राजा तैलप पर चढ़ाई की, पराजित हुआ और कैद होकर शत्रु के हाथों मारा गया। मुंज अप्रतिम विद्यानुरागी, मर्मज्ञ, काव्यरसिक, श्रेष्ठ कवि, उत्कट वीर तथा उद्दाम शृंगारिक था। उसके आकर्षक व्यक्तित्व और उसकी स्वाभिमान

1. मधुसूदन मोदी का लेख 'जूना गुजराती दूहा' बुद्धिप्रकाश (गुजराती) अक्टूबर, १९३२ अंक २ में प्रकाशित
2. पुरानी हिन्दी, पृ० १५-१६
3. मुंज और भोज का काल निर्णय, डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का लेख, ओझा निबन्ध संग्रह, प्रथम भाग, उदयपुर, पृ० १९३-९५

की गाथायें उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवायें, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में फरक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम गाथा को भाषा बद्ध किया होगा, ये दोहे निःसन्देह उस भावावेगाकुल काव्य सृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुंजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही संकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सका।

मुंज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुंज की रचना कहते हैं, यह भी असंभव नहीं है।[1] मुंज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि[2] और पुरातन प्रबन्ध-संग्रह[3] के मुंजराज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलप की भगिनी 'कारायां तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

> सेमा छंडि वड्डाहतौ जे दासिहिं रचन्ति
> ते नर मुञ्ज नरिंद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य-चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुंज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

> मुंज भणइ मुणालवइ केसां काइं चुयन्ति
> लद्दउ साउ पयोहरहं बंधण भणीय रुवन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध संग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुंज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और इन सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

> लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
> गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती॥
> —प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुंज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विक्रमादित्य की तरह निजंधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

---

1. गुलेरी जी का 'राजा मुंज-हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४
2. दोनों पुस्तकें सिंघी जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित
3. पुरातन प्रबन्धसंग्रह पृ० १४

के श्लोक में लिखा हुआ है कि इस पृथ्वीतल पर कवियों, कामियों, भोगियों, दाताओं, शत्रुविजेताओं, साधुओं, धनियों, धनुर्धरों, धर्मधनिकों, में कोई भी नृप भोज के समान नहीं है।[1] भोजराज का सरस्वतीकंठाभरण साहित्य का महत्वपूर्ण शास्त्रग्रन्थ माना जाता है। इसमें कुछ अपभ्रंश की कवितायें संकलित हैं जो हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। हालांकि ये कवितायें प्राकृत के प्रभाव से अत्यन्त जकड़ी हुई हैं फिर भी इनमें परवर्ती भाषा का ढांचा देखा जा सकता है। सरस्वतीकंठाभरण के एक श्लोक का मैं जिक्र करना चाहता हूँ जिसमें ब्रजभाषा की दो पंक्तियां मिलती हैं–

> 'हां तो जो उजलदेउ' नैव मदनः साक्षादयं भूतले
> तत्किं 'दीसइ सच्चभा' इत वपुः कामः किलः श्रूयते।
> 'ऐ दूए किअलेउ' भूपतिना गौरीविवाहोत्सवे
> 'ऐसें सच्चु जि बोल्लु' इरतकटकः किं दर्पणे नेक्ष्यते॥
>
> –सं० कं० भरण १। १५८

इस श्लोक में 'हां तो जो उजलदेउ' 'दीसइ सच्चभा,' 'ऐ दूए किअलेउ, ऐसें सच्चु जि बोल्लु' आदि वाक्य या वाक्यार्थ तत्कालीन भाषा की सूचना देते हैं। निचले पद का रूप तो आज की भाषा के समान दिखाई पड़ता है। 'ऐसे साचु जु बोलु' यह सूर की कोई पंक्ति नहीं प्रतीत होती क्या? भोज का यह श्लोक तत्कालीन ब्रजभाषा की आरंभिक स्थिति की सूचना का प्रबल आधार है। उजलदेउ <उज्ज्वलदेव का तथा किअलेउ <कृतलेप का रूप हो सकते हैं। 'ऐसे साचु जु बोलो' तो सीधा ब्रज प्रयोग प्रतीत होता है।

§ ५१. नीचे हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में प्रारम्भिक ब्रजभाषा के उद्गम और विकास चिह्नों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

ध्वनिविचार–

§ ५२. हेम-अपभ्रंश की प्रायः सभी स्वर-ध्वनियां ब्रजभाषा में सुरक्षित हैं। पश्चिमी अपभ्रंश से संबद्ध होने पर भी खड़ी बोली में ह्रस्व ऐ और औ का प्रयोग समाप्त हो चुका है। किन्तु ब्रजभाषा में खास तौर से प्राचीन ब्रजभाषा में ये ध्वनियां पूर्णतः विद्यमान हैं। अपभ्रंश में कन्तहाॅ, जुज्झन्तहाॅ, देन्हताॅ (४। ३७५) तहेॅ (८।४।४२५) आदि में ह्रस्व एॅ और ओॅ के प्रयोग हुए हैं। इसी प्रकार ब्रजभाषा में प्रायः छन्दानुरोध, के कारण ह्रस्व एॅ और ओॅ के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। मेरिओ पीर (घनानन्द) अवधेस के द्वारे सकारे गई (तुलसी)। अपभ्रंश ऋ के अ, आ, ए, ई और ओ रूपान्तर होते थे, जो ब्रजभाषा में भी दिखाई पड़ते हैं। तृणु, सुकृदु (हेम० ८। ४। ३२६) आदि शब्दों में जिस तरह अपभ्रंश ने इसके मूल रूप को सुरक्षित रखा है, उसी प्रकार ब्रजभाषा में भी बहुत से शब्दों में ऋ के प्रयोग मिलते हैं जो प्रायः भक्ति-आन्दोलन और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के जमाने में संस्कृत शब्दों की प्रयोग-बहुलता के कारण सुरक्षित रहे, किन्तु ब्रजभाषा में इनका उच्चारण 'रि' या 'इर' की

---

1. कविषु कामिषु भोगिषु योगिषु दविदेषु जितारिषु साधुषु
   धनिषु धन्विषु धर्मधनेषु च क्षितितले नहि भोजसमो नृपः।
   पु० प्र० सं० पृ० १११।

तरह होता था (व्रजभाषा § ८८)। अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृत्ति की सुरक्षा हुई है, किन्तु व्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ, हो जाता है। यह प्रवृत्ति कुछ अंशों में हेम व्याकरण के प्राकृतांश में भी दिखाई पड़ती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनांश में। 'ए (८। १। १६९<अयि) आओ (आयो=व्रज ८। २६८<आगतः) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। फिर भी लोण (४। ४४८<लउण< लवण) तथा सोएवा (८। ४। ४३८ सउ<स्वयं) तो (४। ३७६<तउ<ततः)। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर-विवृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता। चौदह (८। १। १७१<चतुर्दश) चौद्दसी (८। १। १७१<चतुर्दशी) चोव्वारो (८। १। १७७<चतुर्वारः) यही चतुर्दश शब्द मुंज के दोहे में 'चउदहसइ' दिखाई पड़ता है। जो भी हो अपभ्रंश की यह यह अइ-अउ वाली प्रवृत्ति ही व्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पड़ती है।

§ ५३. व्यंजन की दृष्टि से व्रजभाषा में लुंठित सघोष 'ल्ह' सघोष अनुनासिक म्ह, न्ह आदि ध्वनियां मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। इनका भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पड़ता है। उण्हउ (४। ३४२<उष्णु) तुम्हेहिं (४। ३७१<*तुम्मे) अम्हेहिं (४। ३७१<*अम्मे) ण्हाणु (४। ३९९<स्नान=न्हानो, व्रज)। उल्हसइ (४। ४१६<उल्लसति) इसी तरह मेल्हइ<मेल्लइ (४। ४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ल' का उच्चारण संभवतः मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्लास उल्हास, आदि परिवर्तन अवश्यंभावी हो गए। मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय। (वर्णरत्नाकर § २२)।

§ ५४. व्रजभाषा में व्यंजन-द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यंजन और परवर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है। उदाहरण के लिए व्रज में जूठो (जुट्ठ<*जुष्ट या उच्छिष्ट) ठाकुर (<टक्कुर अप०) डाढो (डड्ढा अप०<दग्ध) तीखो (तिक्खेइ अप०<तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूरक सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में ज्यादा हुआ।

ऊसासेंहि (४। ४३१<उच्छ्वासे), ओहट्टइ (४। ४१९<ओहट्टइ<अपभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३९१<दुस्सासणु<दुःशासन) नीसरहि (४। ४३९<निस्सरहि<निःसरसि) नीसासु (४। ४३०<निस्सास<निःश्वास) सीह (४। ४१८<सिंह) तासु (४। ३५८<तस्स<तस्य) जासु (<जस्स<यस्य) कासु (किस्स<कस्य)। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरंभिक व्रजभाषा में दिखाई पड़ता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते। प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८। २। २२<उत्सव), ऊससिरो (२। १४५<उच्छ्वसनशील) ऊसारियो (२। २१<उत्सारित) कासिवो (१। ४३<कश्यप) दूहियो (१। १३<दुःखितः)।

§ ५५. हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश में अन्त्य स्वर के लोप या ह्रस्वीकरण का जिक्र किया है जैसे रेखा > रेह, गंगा > गंग आदि। यह प्रवृत्ति बाद में ब्रजभाषा में और भी विकसित हुई। साम < श्यामा (विशेष) बात < वार्ता, सिर < शिरा, बात < वार्तिक आदि।

§ ५६. स्वर संकोच (Vowel contraction) अपभ्रंश में व्यंजन ध्वनि के ह्रास या लोप के बाद उपान्त्य स्वर (Penultimate) और अन्त्य स्वर का संकोच दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ अंधारइ (४।३४९<अंधकारे) रन्नु (४।३६८<अरण्य) वाईं (४।३५०, ३६७<सं० वायित) नीसावन्नु (४।३४१<निःसामान्यैः) चलाबुस (४।३८८< ... कुराः) गवांणी (४।४२०<गवाक्षना) तइजी (४।४११<तृतीयः) दूरुड्डाणें (४।३३७<दूरोड्डाणेन)। हालांकि इस प्रकार के प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुके थे क्योंकि इनके अधिक उदाहरण नहीं मिलते। संदेशरासक की भाषा में ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति काफी प्रचलित रही है। हिन्दी ब्रज के उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य, (हिन्दी भाषा उद्गम और विकास § ९८ १००)

§ ५७. म् और वँ् के परिवर्तन—मध्यम म् का रूपान्तर प्रायः वँ् होता है। जैसे कँवउ (४। ३९७<कमलम्) कँवलि (४।३६५<कमलिनी) भँवर (४।४०१<भमर<भ्रमर) जेंवँ ४। ४०१<जेम=यथा) तिँवँ (४ ३७५<तिम=तथा) नीसाँवन्नु (४।३४१<निःसामान्य) ब्रजभाषा में इसके उदाहरण साँवरो<श्यामल, कुँवारे या कुंवर<कुमार, आँवलो<आमलक आदि देखे जा सकते हैं। तुलनीय (ब्रजभाषा § १०६, में ऐसी के कुछ उदाहरण दिये गए हैं।)

§ ५८. मध्यग व चाहे वह मूल तत्सम शब्द से आया हो या स्वरों की विवृति से उत्पन्न असुविधा को दूर करने के लिए 'व' श्रुति के प्रयोग से आया हो अपभ्रंश के इन दोहों में 'उ' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए घाउ (४।३४६<घाव<घातः) कुणि (४।४३२<ध्वनि) ठाउ (४।३५८ ठांव<स्थान) पसाउ (४।३३०<प्रसाव<प्रसाद) सुरउ (४।३३२<*सुरव<सुरत) मउलिअहिं (४।३६५ मुकुलअहिं<मुकुलन्ति) पिउ (४।४४२ पिव<प्रियः) हेम० प्राकृत में इस प्रकार के रूप मिलते हैं। पाउओ (१। १३१<प्रावृतम्) पाउरण (१। १७५<प्रावरणम्) पाउसो (१। ५७<प्रावृट्) राउल (१। २६६<रावल< राजकुल) विउहो (१। १७७<विवुहो<विबुध)। मध्यग व के ह्रास की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा में भी पाई जाती है (सन्देसरासक स्टडी § ३३)।

§ ५९. अघोष क का सघोष ग में भी परिवर्तन होता है। विगुत्ताइं (४।४२१<विगुप्ताइं) खयगालि (<४।४०१<क्षयकाले) नायगु (४।४४७>नायकः) ब्रजभाषा में शकुन> सगुन, शुक>सुग्गा, लोक>लोग, भक्त>भगत, सकल>सिगरे या सगरो, रोग शोक> रोग-सोग आदि रूप मिलते हैं। उसी प्रकार अघोष ट ध्वनि का कई स्थान पर सघोष ड में परिवर्तन होता है। घड़ावइ। (३।३४०<√घट्) चवेड (४।४०६ देशी<चपेट) देसुच्चाडण- (४।३३८<देशोच्चाटन) रडन्तउ (४।४४५<रट दे०) उसी प्रकार ब्रजभाषा का घोड़ा< घोटक, अखाड़ा<अक्षवाट, कड़ाही<कटाह आदि रूप भी निष्पन्न होते हैं।

रूप विचार—

§ ६०. कारक विभक्तियाँ—कारक विभक्तियों की दृष्टि से इन दोहों की भाषा का

अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण और परवर्ती भाषा-विकास की कतिपय उलझी हुई गुत्थियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्त्वपूर्ण विभक्ति 'हिं' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अंगहि अंगण मिलिउ (४। ३३२)करण

(ख) अद्धा वलया महिहिं गउ (४। ४२२)अधिकरण

(ग) नवि उज्जाण वर्णहिं (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हिं' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण-अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अवशिष्ट चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-सम्प्रदान में 'को' 'के लिए' आदि के साथ 'हिं' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हिं' के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

(क) राधेहिं सखी बतावत री (सूर० ३५५८)—कर्म

(ख) सूर स्यामहिं पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म

(ग) राज दीन्हो उग्रसेनहिं (सूर० ३४८५)—कर्म संप्रदान

(घ) ले मधुपुरिहिं सिधारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण

(ङ) धरयो गिरिवर वाम कर जिहिं (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में काम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते हैं, इन अपभ्रंश दोहों की भाषा में भी इस के प्रयोगों में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुर्थी और द्वितीया में इसके प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुर्थी-अर्थ में 'हिं' का प्रयोग किया है।

दुहु पुणु अन्नहिं रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हिं' विभक्ति द्वारा चतुर्थी का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

§ ६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहिं' जैसे सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की संख्या, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००० वि० के आधार पर दी गई है।

प्रयोग हुए हैं। यानी दोनों प्रकार के रूप बराबर-बराबर के अनुपात में मिलते हैं, यही परिस्थिति लगभग ब्रजभाषा में भी है।

(१) हउं झिजउं तउ केंहि पिय (४।४२०)
(२) ढोला मइ तुहं वारियो (४।३३०)
(३) हौं प्रभु जनम जनम की चेरी (सूर० ४१७२)
(४) हौं बलि जाउं छबीले लाल की (सूर० ७२३)
(५) मैं जानति हौं ढीठ कन्हाई (सूर० २०४२)

हेम व्याकरण की भाषा के अम्हे (४।३७६) अम्हेंहि (४।३७१) आदि रूपों से ब्रज का 'हम' रूप विकसित हो सकता है। अम्हेहि की तरह ब्रज का विभक्ति संयुक्त रूप हमहिं दिखाई पड़ता है।

ब्रजभाषा के मो और मोहिं रूप इन दोहों में प्राप्त नहीं होते किन्तु प्राकृतांश में अस्मद् के मो रूपान्तर का वर्णन मिलता है। 'अस्मदो जसा सह एते षडादेशा भवन्ति। अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भो, भणामो (हेम ३।१०६) ब्रज में मो और मोहि दोनों के उदाहरण मिलते हैं। मो विकारी साधित रूप कहा जा सकता है जिसमें परसर्गों का, मोकौ, मोसी, मोपै आदि प्रयोग हुआ है।

(१) मो सौ कहा दुरावति प्यारी (३२८७ सूर०)
(२) मो पर ग्वालिनि कहा रिसाति (१६५१)
(३) मो अनाथ के नाथ हरी (२४६)
(४) मो तैं यह अपराध पर्यो (२७१६)
(५) मोहि कहत जुवती सब चोर (१०२६)

मध्यपुरुष के तुहुं<*तुष्म (४।३३०), तइं (४।३७०), तुम (४।३८८), तउ (४।३५८), तुज्झ (४।३६७) आदि रूप मिलते हैं। इसमें तुहुं तइं तैं, तुम, तू, तो, तउ, तुझ आदि का ब्रजभाषा में ज्यों का त्यों प्रयोग होता है।

(१) तब तैं गोविन्द क्यों न संभारे (३३४)
(२) तब तू मारबोई करत (३७५६)
(३) तुम अब हरि को दोष लगावति (१६१२)
(४) तो सौं कहा धुताई करिहौं (११५५)
(५) तोहि किन रूटन सिखई प्यारी (३३७०)

मध्यपुरुष के इन सर्वनामों के प्रयोग आश्चर्यजनक रूप से आपभ्रंश दोहों के प्रयुक्त सर्वनामों से मिलते-जुलते हैं। अन्यपुरुष के सर्वनामों के संस्कृत सः वाले 'तद्' के रूपों में तं (४।३२०) तेण (४।३६५) तासु (४।४०१) सो (४।३८४) सोइ (४।४०१) तसु (४।३३८) ताइं (४।३५०) तें अग्गि (४।३४३) आदि के प्रयोग हुये हैं। खड़ी बोली में अन्यपुरुष में वह, उसने आदि रूप चलने लगे हैं। ब्रज में भी इनके प्रयोग हुए है। किन्तु ब्रजमें आर्य के इन प्राचीन रूपों की भी सुरक्षा हुई है।

(१) सोइ भक्तों जो रामहिं गावै (२११)
(२) सो को [illegible] नाहीं समुझायौ (४१५४)

(३) घाइ चक्र लै तादि उबारयो (सूर)

(४) अर्जुन गये गह ताहि (सूर० सारा०)

(५) तासौं नेह लगायो (सूर)

वे,उन आदि रूपों के लिए भी हम अपभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

(१) तो बड्डा घर ओइ (४।३६४)

(२) वे देखो आवत दोऊ जन (३६५४ सूर० सा०)

(३) यह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ताकौ, याकौ, जाकौ, ताने, याने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

जा वप्पी की भुइंहडी (४।३६५)

इसी जा में को, सौं, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौं आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा संबन्धवाचक 'यद्' के अन्य भी रूप अपभ्रंश से ब्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०) जेण (४।४१४) जास (४।३५८) जसु (४।३७०) जाइं (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं।

(१) घर की नारि बहुत हित जासौं (सूर)

(२) जासु नाम गुन गनत हृदय तें (सूर)

(३) जा दिन तें गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०) कवणु (४।३६५) कवणेण (४।३६७) क्रमशः कौन, कोनो और कवनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

(१) कौन परी मेरे लालहिं बानि (१८२६)

(२) कौने बाध्यो डोरी (सूर)

(३) कहौ कौन पै कढ़त कनूकी (सूर)

(४) किन नभ बाध्यो भोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुरुषवाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने जाते हैं।

अइसो (४।४०३ < ईदृशः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एवड्ड (४।४०८ < इयत्) तथा एत्तुलो (४।४०८ < इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एत्तुलो से एतौ, इतौ, इतनो, आदि।

(१) एतौ हठि अब छांड़ि मानि री (सूर०३२११)

(२) तुम बिनु एतौ को करै (ब्रज कवि)

(३) ऊधौ इतनी कहियो जाइ (सूर० ४०५६)

(१) ऐसो एक कोद कौ हेत (सूर० ४५३७)

(२) ऐसेई बन फूल कहाना (सूर० ४१४२)

(३) ऐसी कृपा करी नहि काहू (सूर० ११८७)

पूर्ण संख्या वाचक लक्खु (४।३३२ लाखों ब्रज) सएग (४।३३२, से, ब्रज) दुवें (४।४४० दूनो) दोग्गी (४।३४० दूनी) एक्कहि (४।३५७ एकहि) पंचहि (४।४२२ पाँचहि) चउद्दह (१।१७१ चौदह) चउवीस (१।१२७ चौबीस) आदि कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं जो ब्रज में ज्यों के त्यों अपनाये गए।

२—क्रम संख्या वाचक पढमो (१।१२५ प्रथम) तइज्जो (४।३३६ तीजी) चउत्थी (१।१७१ चौथी)।

३—अपूर्ण संख्यावाचक—अद्ध (४।३५२ आधो)

४—आवृत्ति संख्यात्मक उदाहरण चउगुणो (१।१७६ चौगुनो) प्राकृतांश में प्राप्त होता है।

§ ६५. क्रियापद

(क) ब्रजभाषा क्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप भूतकाल निष्ठा रूप है जो अपनी ओकारान्त विशिष्टता के कारण हिन्दी की सभी बोलियों से अलग प्रतीत होता है। चल्यो, गयौ, कह्यो आदि रूपों में यह विशिष्टता परिलक्षित होती है। अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में भी भूतकाल के यही रूप प्रयुक्त हुए हैं।

(१) ढोला मइ तुहुँ वारियो[1] (४।३३०।१)
मानत नाहिन बरज्यो (सूर २३१७)
मिल्यो धाइ बरज्यो नहिं मान्यो (सूर २२८३)

(२) अंगहि अंग न मिलिउ (मिल्यो ४।३३२।२)

(३) असइहिं हसिउं निसंक (हंस्यो ४।३९६।१,)

(४) हियडा पइं एहु बोल्लिओ (४।४२२।११)

(५) मइं जाणिउं (४।४२३।१)

(६) मैं जान्यौ री आये हैं हरि (३८८०)

(७) हउं झिज्जउं तउ केंहि पिय (४।४२५।१)

(८) अञ्जलि के जल ज्यों तन छीज्यो (सूर)

स्त्रीलिंग भूत कृदन्तज निष्ठा रूपों के प्रयोग में भी काफी समानता है। नीचे कुछ विशिष्ट रूप ही दिये जा रहे हैं।

(१) सुवन्न देह कसवट्टहिं दिण्णी (४।३३०)

(२) प्रीति कर दीन्ही गले छुरी (सूर ३१२५)

(३) हउं रुट्ठी (४।४१४।४) (रूठी)

(ख) अपभ्रंश में सामान्य वर्तमान के तिङन्त रूपों का ब्रजभाषा में सीधा विकास दिखाई पड़ता है। वर्तमान खड़ी बोली में सामान्य वर्तमान में कृदन्त और सहायक क्रिया के संयोग से संयुक्त क्रिया का निर्माण और प्रयोग होता है, यहाँ खड़ी बोली ने अपभ्रंश की पुरानी

---

1. तीन प्रतियों के आधार पर सम्पादित व्याकरण की दो प्रतियों में वारियो पाठ है एक में वारिया, प्राकृत व्याकरण पृ० ५२५

म्परा को छोड़ दिया है। किन्तु ब्रज में यह पूर्ववत् सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त स्वरों
संयुक्त करके अइ>ऐ या अउ>औ कर दिया जाता है।

(१) निच्छइ रूसइ जासु (४।३५८)
निहिचै रूसै जासु

(२) तलि घल्लइ रयणाइं (४।३३४)
मातु पितु संकट घालै (सूर० ११३१)

(३) उच्छंगि घरेइ (धरै) (४।३३६)

(४) जो गुण गोवइ अप्पणा
लाजनि अखियनि गोवै (सूर ६६५)

(५) दइं बलि किज्जउं (४।३३८)

(६) हौं बलि जाउं (सूर० ७२३)

बहुवचन में प्रायः हिं विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुज्झु ससि राहु करहिं (४।३८२)

पूरी पंक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में यही अहिं>अइं होकर एँ हो जाता है
चलैं करैं आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किन्तु
' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो ष्यति>स्सइ>हइ>है के रूप में आए। अपभ्रंश
हइ वाले रूप प्राप्त होते हैं।

'निहए गमिही रत्तडी' का गमिही गमिहै होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु
धिकांशतः, जाइहै (गमिहै का रूपान्तर जाइहै) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक
दिये जाते है—होहिइ (४।३३८ होइहै) हेमचन्द्र ने प्राकृतांश में स्पष्टतः भविष्य के
ए इहि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति हिर्भावहिर, हसिहिइ' (३।४।२४६)

इस हसिहिइ का रूप हँसिहै ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पढिहिइ
म० १७७ पढ़िहै)।

(घ) नव्य आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रिया का आना अलग ढंग का विकास हुआ
। भूत कृदन्त असमापिका क्रिया तथा क्रियार्थक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों
मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पढिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)
कुछ कह्यो न जाइ (सूर)
तुम अति कासो कहत घनाइ (सूर ३६१७)

कालिक से—

मग्गा पर एन्तु (४।३५१)
नैना कह्यो न मानत (सूर)
कहे बात माँगत हठाई (सूर)

पूर्वकालिक में—

(१) गाईं निळ्ठे इघि जाहि ड्रंद   (४।३३५)

(२) गाइ छुड़ाये जात हौ   (ब्रज)

(३) निमिर डिम्भ मेलन्ति मिलिय (४।३८२)

(४) मिले चलि ठिठुकि रहत (सूर० २५८५)

क्रियार्थक संज्ञा से—

(१) तिनुगाउ करन्त   (४३।११)

(२) खेलन चली स्यामा (सूर० ३६०७)

(३) इन चौसनि दरसनो करति (२८२६)

(ङ) संयुक्तकाल के रूप अपभ्रंश के इन दोहों में प्राप्त होते हैं जो आगे चलकर हिन्दी (खड़ी ब्रजादि) में बहुत प्रचलित हुए—

भूत कृदन्त के साथ भू या अस् के बने रूपों के प्रयोग—

(१) करत म अच्छि (हेम० ४।३८२) मत करता हो

(२) ग्वाल संघाती जानत है (सूर० २३२७)

(३) स्यामसंग मुख लूटति हो (सूर० २२१२)

§ ६६. क्रिया विशेषण आश्चर्यजनक रूप से एक-जैसे प्रतीत होते हैं। किञ्चित् ध्वनि-परिवर्तन अवश्य दिखाई पड़ता है।

कालवाचक—

अज्ज (४।४१४ <अद्य = आज) एंवहि (४।३८६ <इदानीम् = अबहिं) जाँव (४।३९५ यावत् = जाम, ब्रज) तो (४।४३६ <ततः = ब्रज तौ) पच्छि (४।३८८ पश्चात् = पाछे) ताव (४।४४२ तावत् तौ) ।

स्थानवाचक—

कहिं (४।४२२ कुत्र = ब्रज कहीं) कहिं वि (४।४२२ कहीं भी) जहिं (४।४२२ यत्र = जहिं ब्रज) तहिं (४।३५७ तत्र = तहिं, तहाँ) ।

रीतिवाचक—

अइसो (४।४०३ ईदृशः = ब्र० ऐसो) एउं (४।४३८ एतत् = ब्र० यो) जेवं (४।३९७ यथा = ज्यों ब्रज) जिवं (४।४३० ब्र० जिम) जिवं-जिवं (४।३४४ जिमि-जिमि ब्र०) जि (४।२२३ ब्रज जु) तिवं (४।३७६ = ब्रज० तिमि) तिवं-तिवं (४।३४४ तिमि-तिमि-ब्रज०) ।

शब्दावली—

§ ६७. अपभ्रंश में प्रायः दो प्रकार के शब्दों की बहुलता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के विकृत यानी तद्भव और दूसरे देशज शब्द। तद्भव शब्दों का प्रयोग प्राकृत की आरंभिक अवस्था से ही बढ़ने लगा था। तद्भव शब्दों में ध्वनि परिवर्तन तथा अवशिष्ट स्वरों की मात्रा में ह्रासलोपादि के कारण मूलसे काफी अन्तर दिखाई पड़ता है, ऐसे शब्दों की संख्या काफी बड़ी है। इनका कुछ परिचय ध्वनि-विचार के सिलसिले में दिया गया है। किन्तु तद्भव शब्दों से देशज शब्दों का कम महत्त्व नहीं है। ये शब्द जनता में प्रयुक्त होते थे और उनका किञ्चित् परिष्कृत रूप भाषा की गठन और व्याकरणिक ढाँचे के अनुसार कुछ परिवर्तित हो

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की संख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्व को स्वीकार करके अलग देशीनाममाला[1] में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी ढूँढी जा सकती है।

ओक्खल	१।१७७	ओखरी	(सूर० को०[2] १७६)
कुम्पल	१।२६	कोंपल और कोंप	(सूर० को० ६५)
खाई	४।४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गमीर (प्र० चरित)
खोडि	४।४१६	खोरि,त्रुटि	मेरे नयननि हो सब खोरि (सूर)
गड्डो	२।३५	गड्डा	गड्डा, गड्ढ (सूर० को० ३६८)
घुग्घिउ	४।४२३	घुड़की	घुघुआना (सूर० को० ४५६) दियौ तुरत नौवा कौं घुरकी (१०।१८०)
चूडल्लउ	४।३६५	चूड़ी	(सू० को० ५२३)
छइल्ल	४।४१२	छैला	छैलनि को संग यों फिरैं (सूर १।४४)
छुच्छ	२।२०४	छूछा	छूंछी छांडि मटकिया दधि की (१०।२६०) प्रश्न तुम्हारे छूछे
झुम्पड़ा	४।४१६	झोंपड़ा	(सूर० को० ६८)
डाल	४।४४५	डाल, डार	एक डार के से तोरे (१०५६) नवरंग दूलह रास रच्यो (कुंभनदास ३८)
तिरिच्छी	४।४१४	तिरछी	तिरछे है जु अरै (सूर)
थू	२।२००	कुत्सायां निपातः	थूथू
थूणा	१।१२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२।१६५	नवेली	नवेली सुनु नवल पिय नव निकुंज हैं री (१०७१)
नवखी	४।४२०	नोखी	कैसी बुद्धि रची है नोखी (सूर २१६०)
पराई	४।३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सू० सा० २१६५)
बप्पुडा	४।३८०	बापुरो	कहा बापुरो कंचन कदली (कुंभन १६८)
लट्ठी	१।२४०	लाठी	लाठी कबहु न छाड़िये (गिरधरदास)
लोहडी	४।४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४।३३०	बिहान	बिहान, सवेरा
सलोणी	४।४२०	सलोनी	कहाँ तै आई परम सलोनी नारी (सू० सा० २१५६)

(

1. देशी नाममाला, द्वितीय संस्करण, सं० श्री परवस्तु वेंकट रामानुजस्वामी, पूना, १६३८
2. ब्रजभाषा सूर कोश, सं० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ, २००७ संवत्

§ ६१. हेमचन्द्र ने लोक भाषा में प्रयुक्त होनेवाले देशी शब्दों का एक संग्रह देशी नाममाला में प्रस्तुत किया है। इस शब्द-संग्रह में बहुत से ऐसे शब्द हैं जो ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। नीचे उन शब्दों की संक्षिप्त सूची दी गई है। साथ ही इन शब्दों के परवर्ती रूपों का ब्रजभाषा में प्रयोग भी दिखाया गया है।

अप्पाण	१।४१६	निद्रा अति न अपानौ (१।४६ सूर० सा०)
अंगालियं	१।२८	अंगारी, इक्षुखण्ड
अच्छं	१।४६	अत्यर्थम्, सारंग पच्छ अछ्छ सिर ऊपर (साहित्य ल० १००)
अम्मा	मां	
आइप्पण	१।७८	ऐपन की सी पूतरी सखियन कियो सिंगार (सूर० १०।४०)
उक्खली	१।८८	ऊखल, ओखरी (ब्रज० सूर कोश)
उग्गाहिअं	१।१३१	उगाहना—हाट बाट सब हमहि उगाहत अपनो दान जगात (सूर १०८३)
उज्जड	१।९६	ऊजर, क्यों ऊजर खेरे के देवन को पूजै को मानै (सूर ३३०६)
उदिद्दो	उड़द	
उड्डुसो	१।९६	ऊडस (मत्कुण)
उव्वरियं	१।३२	उबरना, बचना (अधिकम्) उबरो सो टरकायो (सूर ११२८)
उव्वाओ	१।१०२	खिन्नः ऊबना (सूर० को)
ओसारो	१।१४६	गोवाटः (सूर कोश १८३)
ओहट्टो	१।१६६	ओहार, परदा (सूर कोश १८३)
कट्टारी	२।४	छुरिका (सूर कोश १६६)
कतवारो	२।११	तृणाद्युत्करः, (सूर कोश २००)
करिल्लं	२।१०	वंशांकुर, करील की कुंजन ऊपर (रसखानि)
कल्होडी	२।६	वत्सरी, बछिया (सूर कोश २२६)
काहारो	२।२७	कँहार, पानी लाने वाला (सूर० को० २२५)
कुंडयं	२।६३	कुंडा मिट्टी का बर्तन (सूर कोश २७६)
कुल्लडं	२।६३	कुल्हड़, मिट्टी का पुरवा (सूर कोश २७६)
कोइला	२।४६	कोयला, (सूर० को० ३००) कोयला भई न लाल (कबीर)
कोल्हुओ	२।६५	इक्षुनिपीडनयंत्रम्, कोल्हू (सूर कोश ३०१)
खणुसा	२।६२	खिन्न मनस्, न्याय के नहि खुनुस कीजै (सूर ३।१६६)
गगरी	२।३६	जलपात्रम्। ज्यों जल में काची गगरि गरी (सूर० १०।१२०)

गुत्ती	२।११०	शिरोबन्धनम् । पाटाम्बर गाती सब दिये (सूर)
गोच्छा	२।६५	गुच्छा (सूर० को० ४००)
गोहुरं	२।६६	गोहरा (सूर० को० ४३४)
घग्घरं	२।१०७	अवनस्य वस्त्रभेद : घघरा मोहन मुसुकि गही दौरत में छूटी तनी छंद रहित घाघरी (२६३६)
घट्टी	२।१११	नदीतीर्थम् । घाट लर्‍यो तुम गहे जानि के (सूर)
घम्मोइ	२।१०६	गुण्डुत्संशतृणम् (सूर० कोश ४४६)
चंग	३।१	चंगा, ठीक, । रही रीझ वह नारि चंगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सूर० कोश० ४६६)
चोट्टी	३।१	चोटी, मैया कब बढ़िहै मेरी चोटी (सूर)
छइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के संग यों फिरै जैसे तनु संग छाई (सूर० १।४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन चलनि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छांछ, भये छांछ के दानी (३३०२)
छिण्णालो	३।२६	छिनाल, जारः । चोरी रही छिनारो अब भयो (सूर, ७७३)
झंखो	३।५३	झंख, झंखत यशोदा जननी तीर (१०।१६१)
झड़ी	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सूर० को० ६४८) ब्रजवर गई नेक न झारि (६७३)
झाड़	३।५७	लतागहनम् (सूर को० ६५१)
झिल्लिरिआ	३।६२	झिल्ली (सूर को० ६६१)
झोलिआ	३।५६	झोली, बदुआ झोरी दोऊ अधारा (३२८४)
दल्लो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐसो को दाल्‍नी बैसी है तीं सी मूड़ चढ़ावै (३२८७)
डोला	४।११	शिविका, (सूर को० ७२४)
दोरो	३।५८	सूत्रम्, डोरा । तोरि लयौ कटिहू को डोरो (सूर २।३०)
पप्पीओ	६।११	बहुत दिन जीयौ पपीहा प्यारे (सूर)
पाउ	६।८२	पाग, हरि संग खेलन पागु चली (सूर० २१८३)
बप्पो	६।८८	बाप, बाबा । बाबा नँद को दुहन मिलायो (सूर १६८५)
बाउल्लो	७।५६	बावरी, बावरी बावरे नैन, बावरी कहाँ भौं अब बाँसुरी सी न रुरै (सूर १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए। अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इस्तेमाल हुआ है, जो

इस पंक्ति में मेह और वड़वानल दोनों का प्रथमा में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ संतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किये जाते हैं—

प्रथमा—

(१) कायर एम्ब भणन्ति (४।३७७)
(२) धण मेल्लइ नीसासु (४।४३०)
(३) मोहन बा दिन बनहि न जात (सूर० ३२०२)
(४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुंभन० २१८)

द्वितीया—

(१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८६)
(२) जइ पुच्छह घर वड्डाइं (४।३६४)
(३) फल लिहिआ भुंजन्ति (४।३३५)
(४) निरखि कोमल चारु मूरति (सूर० ३०३६)
(५) काढे बांधति नाहिन छूटे केस (कुंभन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, घड़ि, घरि आदि ये रूप उच्चारण-सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पड़ते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारै, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारकों का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी भवति। मुणिस्स, मुणीण देइ, नमो देवस्स।[1] यही नहीं द्वितीया के लिए भी षष्ठी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।[2] प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

---

१. चतुर्थ्याः षष्ठी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२. षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादेः ।३।१३४ द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ३।१३५
पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

यह कर्म षष्ठी में दिखाई पड़ता है। सन्देशरासक में इसके कुछ उल्लेखनीय उदाहरण मिलते हैं।[1]

मणइ पहिस्स अइ करुण दुक्खिलिया (सं० रा० ८५)

पियइ कहिय हिय इक्क (सं० रा० ११०)

कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश दोहों में भी कई उदाहरण मिलते हैं—

मुणिवि नन्दु वुत्तंत यह सयडालस्स

यह स्स रूप ही सों या से के रूप में विकसित हुआ। ब्रज में कथ या भण के साथ कर्म का प्रयोग तृतीया में होता है।

अलि कासों कहत बनाइ (सूर० ३६१७)

हेम व्याकरण में अपभ्रंश का एक करण कारक का रूप महत्त्वपूर्ण है—

तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहिंव न पूरिअ आस (४।३८३)

तेरी जल से मेरी प्रिय से दोनों की आसा पूरी न हुई। यहाँ करण कारक के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग द्रष्टव्य है। ब्रजभाषा में अधिकरण का परसर्ग 'पै' तृतीयार्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८) मोसों, मेरे द्वारा

(२) हम उन पै बन गाइ चराई (सूर० ११६२)

(३) जा पै मुख चाहत जियो (बिहारी)

यही नहीं, अधिकरण का अपादान के अर्थ में भी प्रयोग होता है।

कौन पै लैहि उधारे (सूर० ३५०४)

३—क्रिया रूपोंमें कर्मवाच्य के कृदन्तज रूप अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था में कर्तृवाच्य की तरह प्रयोग में आने लगे—

'ढोल्ला मइ तुहुँ वारियो' या 'बिट्टीए मइँ भणिय तुहुँ' में कर्म वाच्य का रूप साफ दिखाई पड़ता है किन्तु बहुतसे रूपों में यह अवस्था समाप्त होने लगी थी।

मइँ जाणिउँ प्रिय ४।३७७ में जान्यों (मेरे द्वारा जाना गया) साथ ही 'तो हउँ जाणउँ एहो हरि ४।३६० में जान्यों का विभेद मुश्किल हो जाता है। संज्ञा के प्रथमा रूप के साथ कृदन्तज क्रियाओं के प्रयोग इस भाषा को ब्रज के अत्यन्त नजदीक पहुँचाते हैं।

(१) आवासिउ सिमिरु (४।३४५)

(२) सामानउ जाउ सल्लइकियउ (४।३९५) अलसयो

(३) वइरि बुक्कउ मरंद ४।४०१ (दर्पो)

(४) मइ मग्गिउ माणु ४।४१८ मेरो मान मांग्यो

४—विध्यर्थक रूपों के साथ निषेधात्मक म या न तथा क्रिया की पूर्णता में समाप्त सूचक 'जग' प्रयोग अपभ्रंश की निजी विशेषता है। इस तरह के प्रयोग हेमचन्द्र के आगे

---

1. सन्देश रासक भूमिका पृ० ७१

दोहों, जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पड़ती है।[1]

(१) पर भुंजणहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
(२) तं अक्खणइ न जाइ (४।३५० हेम०)
(३) न धरणउ जाइ (सं० रा० ७१ क)
(४) कहणु न जाइ (सं० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
(२) कछु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
(३) सोभा वरनि न जाइ (कुंभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मालूम होती है। मार्दव, संक्षेप, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश	ब्रज
(१) अंगहि अंग न मिलिउ ४।३३२	(१) अंगहि श्रंग न मिल्यो
(२) हंउ किन जुत्यउं दुहुं दिसिहि ४।३४०	(२) हौ किन जुत्यों दुहुँ दिसहिं
(३) वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुवहि हयास ४।३८२	(३) पपीहा पिउ-पिउ भनि कित्ती रुवै हतास
(४) जइ ससणेही तो मुवइ जइ जीवइ निन्नेह ४।३६७	(४) जो ससनेही तो मुवै जो जीवै बिनु नेह
(५) वप्पीहा कइ बोल्लिएण निग्घिण बारइ बार सायरि भरिया विमल जल लहइ न एकइ धार ४।३८२	(५) पपीहा कै बोलिए निर्घृण वारहि वार सागर भरियो विमल जल लहै न एकौ धार
(६) साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गण्ठि ४।४२०	(६) साव सलोनी गोरी नोखी त्रिमकै गांठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पंक्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

1. The use of the infinitive with ण (or and introgative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa. We find this construction in Hemchandra's illustrative stenzas and in the Parmatma Prakasa of Joindu. The idom is current in Modern Languages.

Sandes'a Rāsaka, study pp. 44-45.

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा

(विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था। प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अब भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनायें करते थे। रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा। हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी ईस्वी (सं० ११४४–१२२८) में हुए थे *और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया* है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[1] डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता। हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते। डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है। वे आगे लिखते हैं—"जिस भाषा में पिंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था की केवल एक, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्धृत कर सकता

---

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५५ ई०, पृ० ५

हैं जिनके अन्त में अनुनासिक [illegible] आता है। अपभ्रंश की तुलना में प्राकृत भाषाओं की यह सूचना [illegible] विशेषता है और इसका अभाव सोलहवीं शताब्दी से शुरू होने हो गया था।[1] प्राकृत पैंगलम् की भाषा निश्चित हो जाती है और हेमचन्द्र के अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना देती है।[2]

§ ७३. श्री एन० बी० दिवेटिया ने हेमचन्द्र द्वारा वर्णित शौरसेनी या परिनिष्ठित अपभ्रंश को जन भाषा से भिन्न अन्य भाषा प्रमाणित करने के लिए प्राकृत व्याकरण में कुछ अन्तर्निहित प्रमाण ढूंढे हैं। श्री दिवेटिया के तीन प्रमाण इस प्रकार हैं[3]—

१—हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अन्तःसाक्ष्य पर कहा जा सकता है कि प्राकृत प्रचलित भाषा नहीं थी, हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण के द्वितीय अध्याय के १७४वें सूत्र पर जो वार्तिक लिखा है उससे इस बात की पुष्टि होती है।

> भाषा शब्दाश्च। आहित्थ, लल्लक्क, विड्डिर, पच्चड्डिअ, उप्पेहड, मडप्फर, पड्डिच्छिर — — — इत्यादयो महाराष्ट्रविदर्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽवगन्तव्याः। क्रिया शब्दाश्च। अवयासइ फुम्फुल्लइ, उप्फालेइ इत्यादयः। अतएव च कृष्टघृष्टवाक्य-विद्वस्वाचस्पति—विष्टरश्रवस् प्रचेतस् प्रोक्तप्रोतादीनां क्विबादि-प्रत्ययान्तानां च अग्निचित्सोमसुत्सुग्लसुम्लादीनां पूर्वैः कविभिरप्रयुक्तानां प्रतीतिवैषम्यपरः प्रयोगो न कर्तव्यः शब्दान्तरैरेव तु तदर्थोऽभिधेयः।[4]

भाषा शब्द से यहाँ हेमचन्द्र का तात्पर्य प्राकृत शब्द नहीं बल्कि भिन्न भिन्न प्रांतों में प्रयुक्त होने वाले देश भाषाओं से है। शब्द 'प्रतीतिवैषम्यपरः' इस बात का संकेत करता है कि हेमचन्द्र के काल में प्राकृतें जनभाषा नहीं रह गई थीं।

२—दूसरा प्रमाण हेम व्याकरण के ८।१।२३१ सूत्र के वार्तिक में उपलब्ध होता है। वार्तिक का यह अंश इस प्रकार है—

> प्राय इत्येव। कई। रिऊ॥ एतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोर्यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः॥

यदि कहीं सूत्रों में आपस में ही मतान्तर हो और वास्तविकता से उनका साम्य न बैठता हो और कोई उचित मार्ग प्रतीत न हो तो 'श्रुतिसुख' को आधार मानना चाहिए। यह प्रमाण पहले का पूरक ही है क्योंकि श्रुति-सुख की आवश्यकता तो वहीं होगी जहाँ पूर्वकवियों के उदाहरणों से काम न चलेगा। यदि प्राकृतें वास्तव में जनभाषा होतीं तो हेमचन्द्र आसानी से लोक-प्रयोग दे सकते थे।

---

१. प्राकृत पैंगलम्, बिब्लोथिका इण्डिका संस्करण, कलकत्ता १९०२, द्रष्टव्य रूप दर्वाजे (२।१३, १०१) दाजे (२।१२०, ११५) मर्गाजे (२।१०१) इत्यादि

२. पुरानी राजस्थानी, पृ० ५

३. एन० बी० दिवेटिया, गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर, बम्बई, १९२१ भाग २, पृ० ५

४. प्राकृत व्याकरण, पी० एल० वैद्य, सम्पादित, पृ० ४१९

पूर्व-कवि-प्रयोग, प्रतीति-वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसंदेह प्राकृत भाषाओं के विवरण में आया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करते हुए श्री दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती हैं इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहीं भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक-भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तव्याः' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अपभ्रंशेतर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये श्री दिवेतिया ने प्राकृत या द्वयाश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलझाव के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मालूम होता क्योंकि प्राकृतों के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे संभवतः अपभ्रंश ही थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मालूम होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की संगति को पदों या वाक्य खण्डों में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझते तो संस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण ढूँढ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम यों समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर ग्रंथों तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भौं चढ़ाते थे उनके नियमों को न समझते'[1]। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष संभवतः अपने समय में उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्री को देखते हुए निकाला था, अपभ्रंश के भी पचीसों आकर ग्रंथ श्वेताम्बर जैन साधुओं की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रूढ़ अपभ्रंश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रंश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं : विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई[2]। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रंश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २६-३०
२. वहीं, पृ० ८।

जीवित भाषा नहीं थी। विवेचिता के तर्क की यहाँ पुष्टि होती है क्योंकि हेमचन्द्र ने उदाहरणों के लिए न केवल कुछ प्राचीन आकर ग्रन्थों या लोकप्रचलित साहित्य से उदाहरण लिए बल्कि कुछ स्वयं भी गढ़े।

§ ७४. ऊपर के विवेचन से दो प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। तेस्सीतोरी और अन्य भाषाविद् प्राकृतपैंगलम् की भाषा को हेमचन्द्रकालीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप मानते हैं। दूसरी ओर परिनिष्ठित अपभ्रंश की तुलना में देशी या लोक भाषाओं के विकास का भी संकेत मिलता है। स्वयं हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में ग्राम्य अपभ्रंश का जिक्र किया है। हेमचन्द्र के इस 'ग्राम्य' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। परिनिष्ठित अपभ्रंश को पढ़े लिखे लोगों की भाषा होने के कारण नागर अपभ्रंश कहा जाता था, इसकी तुलना में हेमचन्द्र ने लोक अपभ्रंश को ग्राम्य या शिष्ट जन की तुलना में अशिष्ट अपभ्रंश कहा। यह लोक अपभ्रंश चूंकि लोकभाषा थी इसलिए इसमें स्थान भेद की सम्भावना भी अधिक थी। १२वीं शती में काशी के दामोदर पंडित ने 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक औक्तिक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रंथ में लेखक ने उक्ति यानी बोली को संस्कृत व्याकरण के तरीके से समझने या व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। मध्यदेश की उक्ति या बोली की सूचना देने वाला यह पहला ग्रन्थ है। लेखक ने उक्ति व्यक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए पहली कारिका की टीका में लिखा है—

> 'उक्तावपभ्रंशभाषिते व्यक्तीकृतं संस्कृतं नाना तदेव करिष्यामः इत्ययं अथवा नानाप्रकारा प्रतिदेशं विभिन्ना येयमपभ्रंशवाग्रचना पामराणां भाषितभेदास्तद् ब-हिष्कृतं ततोऽन्यादृशम्। तद्धि मूर्खप्रलपितं प्रतिदेशं नाना।'[1]
>
> (उक्तिव्यक्ति प्रकरण १।१५-२१)

इस स्पष्टीकरण से तत्कालीन पंडितों की 'उक्ति' के प्रति तिरस्कार की मनोवृत्ति का पता चलता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उक्ति यद्यपि पामरजन की भाषा थी किन्तु लोग उसके महत्त्व को भलीभाँति समझने लगे थे। यहाँ भी इस लोकभाषा को कोई विशिष्ट नाम न देकर अपभ्रंश ही कहा गया है। किन्तु हेमचन्द्र की शौरसेनी अपभ्रंश परिनिष्ठित या नागर से इस औक्तिक अपभ्रंश का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। नाम के लिए दोनों अपभ्रंश हैं, किन्तु एक रूढ़ शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप है दूसरा मध्यदेश की जनता की बोली का सहज और अकृत्रिम प्रवाह।

§ ७५. इस प्रकार १२वीं से १४वीं तक के काल में दो प्रकार की भाषायें प्रचलित थीं। मध्यदेश के अपभ्रंश का वह रूप जो सर्वमान्य साहित्यिक अपभ्रंश के रूप में विकसित हुआ था और जो अब प्राकृत पैंगलम् की भाषा की शैली में एक नये प्रकार की कृत्रिम दरबारी भाषा का निर्माण कर रहा था और दूसरा वह रूप जो लोकभाषा से उद्भूत होकर जनता में व्याप्त हो रहा था। जिसका पता उक्ति व्यक्ति प्रकरण से चलता है। १२वीं से १४वीं शती के काल में ब्रजभाषा में ये दोनों रूप प्रचलित थे। पहली शैली में प्राकृत पैंगलम्, रासो काव्यों की विस्तृत परम्परा, रणमल्लछन्द, परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट की रचनायें,

---

१. उक्तिव्यक्ति प्रकरण, मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रंथमाला, बम्बई

राजस्थानी चारणों की पिंगल कृतियाँ आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्त्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु औक्तिक ग्रंथों, उक्तिव्यक्ति, बालावबोध, उक्तिरत्नाकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रूढ़ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर ब्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित ब्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६. शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वयं कोई ऐसा संकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाङ्मय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर[1] (१३२५ ईसी) विद्यापति की कीर्तिलता[2] (१४०६ ईसी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती के अद्दहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषात्रयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

> अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसायंमि भासाए
> लक्खण छन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहि
> ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
> लक्खणछन्द पमुक्क कुकवित्तं को प संसेइ।
>
> (सं० रा० ६-४७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत अलंकारियों ने एकाधिक बार किया है। षड्भाषा प्रसंग में संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मंख कवि के श्रीकंठ चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पैशाची की गणना होती थी।

> संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
> ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥

---

१. पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा क तत्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चांडाली, सावली, द्राविली, औतकली विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ५५ क

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०

२. सक्कय वाणी बुहअन भावइ, पाउंअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सबजन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्टा

(कीर्तिलता १।१९-२२)

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

नवीं शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में छः भाषाओं के प्रसंग में अपभ्रंश का नाम लिया है।

> प्राकृतं संस्कृतं मागध-पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च
> षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥
>
> (काव्यालंकार २।१)

ऊपर के श्लोक की छः भाषायें वही हैं जो ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में गिनाई है। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश और अवहट्ठ दोनों का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ठ का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की यह भाषात्रयी भी वैयाकरणों और आलंकारिकों द्वारा बहुचर्चित रही है।

इन तीनों प्रयोगों से भिन्न प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ठ को प्राकृत पैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृत पैंगलम् के प्राकृत शब्द से, इस ग्रन्थ का संकलनकर्ता या लेखक १२ वीं शती के आरम्भ में इस पिंगल शास्त्रग्रन्थ के सम्पादन के समय, सम्भवतः 'अवहट्ठ' का अर्थ-बोध कराना नहीं चाहता था। उसके लिए इस ग्रन्थ की भाषा 'प्राकृत' थी। किन्तु परवर्ती काल में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का टीकाकार वंशीधर इसकी भाषा को प्राकृत न कहकर अवहट्ठ कहता है। प्राकृत पैंगलम् की पहली गाथा की टीका में टीकाकार लिखता है—

> पढमं भास तरंडो
> णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)

टीका —प्रथमा भाषाः तरंडः प्रथम आद्यभाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचितः सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थः त एव पारं प्राप्नोति तथा पिंगलप्रणीत छन्दशास्त्रः प्रायया‌वहट्ठभाषारचितैः तद्ग्रन्थपारं प्राप्नोतीति भावः सो पिंगल णाओ जअइ, उत्कर्षेण वर्तते।

(प्राकृत पैंगलम्, पृष्ठ ३)

ग्रन्थ का लेखक आरम्भ में भाषा को तरंड (नौका) कहकर उसकी वन्दना करता है और बाद में छन्दशास्त्र के आद्याचार्य नाग पिंगल की जयकार करता है। वंशीधर ने सम्भवतः 'पढम' का अर्थ भाषा के लिए लगा लिया जब कि वह वन्दना के तारतम्य का संकेत है, पहले भाषा की तब आचार्य की। यद्यपि वंशीधर ने प्रथम का अर्थ आद्यभाषा किया फिर भी निःसंकोच इसे अवहट्ठ भाषा ही कहा। अवहट्ठ को आद्यभाषा क्यों कहा जाय इसका कोई स्पष्टीकरण वंशीधर ने नहीं प्रस्तुत किया। सम्भवतः आद्यभाषा से उनका तात्पर्य नव्य आर्य-भाषाओं की आरम्भिक भाषा यानी उद्भावक भाषा से था। अवहट्ठ का कोई संकेत लेखक ने नहीं किया था किन्तु १६वीं शती के टीकाकार ने इस भाषा को अवहट्ठ नाम दिया। यही नहीं एक दूसरे स्थान पर वंशीधर ने इस भाषा के व्याकरणिक ढाँचे की मीमांसा करते हुए लिखा है: इस भाषा यानी अवहट्ठ में पूर्व निपातादि नियमों का अभाव है इसलिए पद-व्याख्या करते समय गड़बड़ी को दूर करने के लिए अन्वयादि की यथोचित योजना कर लेनी चाहिए—

> अवहट्ठभाषायां पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचितयोजना
> कार्या सर्वत्रेति बोध्यम् (प्राकृत पैंगलम् पृ० ४१८)

वंशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ठ भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की वृद्धि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वंशीधर के संकेत से स्पष्ट है, अवहट्ठ भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वंशीधर का अवहट्ठ भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ठ, जैसा कि अपभ्रष्ट शब्द का विकसित रूप है, क्यों १२ शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश में निहित 'च्युति' को लक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयंभू,[1] पुष्पदंत,[2] जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलंकारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रंश-अवहट्ठ हो गया, प्रयोग में आते-आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ठ कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजड़ित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रंश नहीं अवहट्ठ यानी एक सीढ़ी और बाद की भाषा कहा।[3]

§ ७७. शौरसेनी अपभ्रंश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ठ राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ठ ही पिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश (अवहट्ठ) और पिंगल के भाषा तत्त्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ठ ही पिंगल है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रंश १००० ईस्वी और ब्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

---

१. दीह समास पवाहा वंकिय, सक्कय पायय पुलिणा लंकिय
देसी भासा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ (णायकुमारचरिउ)
ण वियाणमि देसी (महापुराण)

३. अवहट्ठ संबंधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

वंशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वंशीधर के संकेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वंशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैसा कि अपभ्रष्ट शब्द का विकसित रूप है, क्यों १२ शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश में निहित 'च्युति' को संलक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयंभू,[1] पुष्पदंत,[2] जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलंकारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रंश-अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते-आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुई और उसका निरन्तर विकसमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजड़ित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रंश नहीं अवहट्ट यानी एक सीढ़ी और बाद की भाषा कहा।[3]

§ ७७. शौरसेनी अपभ्रंश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही पिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश (अवहट्ट) और पिंगल के भाषा तत्त्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही पिंगल है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रंश १००० ईस्वी और ब्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

---

१. दीह समास पवाहा वंकिय, सक्कय पायय पुलिणा लंकिय
देसी भासा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ (पासणाहचरिउ)
ण वियाणामि देसी (महापुराण)

३. अवहट्ट संबंधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

कही था, अवहट्ट के नाम से अभिहित होता था, प्राकृत पैंगलम् में इस भाषा में लिखी कविताओं का संकलन हुआ था। राजपूताना में अवहट्ट पिंगल नाम से ख्यात था और स्थानीय चारण कवि इसे मुसंठित और सामान्य साहित्यिक भाषा मानते हुए इसमें भी काव्य-रचना करते थे साथ ही डिंगल और राजस्थानी बोलियों में भी।[1] डा० चाटुर्ज्या ने इस मान्यता के लिए कि अवहट्ट ही राजस्थान में पिंगल कहा जाता था कोई प्रमाण नहीं दिया। डा० तेस्सितोरी हेमचन्द्र के बाद के अपभ्रंशीभूत अपभ्रंश की दो मुख्य श्रेणियों में बाँटते हैं। गुजरात और राजस्थान के पश्चिमी भाग की भाषा जिसे वे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं और दूसरी शूरसेन और राजस्थान के पूर्वी भाग की भाषा जिसे वे पिंगल अपभ्रंश नाम देना चाहते हैं।' 'विकासक्रम से इस भाषा (अपभ्रंश) की यह अवस्था आती है जिसे मैंने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहा है। यह ध्यान देने की बात है कि पिंगल अपभ्रंश उस भाषा समूह की शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई बल्कि इसमें ऐसे तत्त्व हैं जिनका आदि स्थान पूर्वी राजपूताना मालूम होता है और जो अब मेवाती, जयपुरी, मालवी आदि पूर्वी राजस्थानी बोलियों तथा पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) में विकसित हो गए हैं।'[2] डा० तेसीतोरी के पिंगल अपभ्रंश नाम के पीछे राजस्थान की पिंगल भाषा की परम्परा और प्राकृत पिंगल सूत्र में संयुक्त 'पिंगल' शब्द का आधार प्रतीत होता है। राजस्थानी साहित्य में डिंगल की तुलना में प्रायः पिंगल का नाम आता है, एक ओर यह पिंगल नाम और दूसरी ओर पिंगल सूत्र की भाषा में प्राचीन पश्चिमी हिन्दी या ब्रजभाषा के तत्त्वों को देखते हुए डा० तेसीतोरी ने इस भाषा का नाम पिंगल अपभ्रंश रखना उचित समझा।

§ ७८. पिंगल को प्रायः सभी विद्वान् ब्रजभाषा से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध मानते हैं। हालांकि डिंगल सम्बन्धी वाद-विवाद के कारण इस शब्द की भी काफी विवेचना हुई और कई प्रकार के मोह और न्यस्त अभिप्रायों के कारण जिस प्रकार डिंगल शब्द के अर्थ, इतिहास और परम्परा को वितण्डावाद के चक्र में पड़ना पड़ा, वैसे ही पिंगल शब्द को भी। पिंगल के महत्त्व और उसके सांस्कृतिक दाय को समझने के लिए आवश्यक है कि हम स्पष्ट और निष्पक्ष भाव से इस शब्द को इतिहास को दूढ़ें केवल डिंगल के तुक पर पिंगल और पिंगल के तुक पर डिंगल की उत्पत्ति का अनुमान लगा लेना और अपने मत को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताना न तो तथ्य जानने का सही तरीका कहा जा सकता है और न तो इससे किसी प्रकार विवाद के समाधान का प्रयत्न ही कह सकते हैं।

डा० रामकुमार वर्मा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते हैं। 'डिंगल काव्य पिंगल से अपेक्षाकृत प्राचीन है, जब ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई और उसमें काव्य रचना की जाने लगी तब दोनों में अन्तर बताने के लिए दोनों का नामकरण हुआ। इतना तो निश्चित ही है कि ब्रजभाषा में काव्य रचना के पूर्व ही राजस्थान में काव्य रचना होने लगी थी। अतएव पिंगल के आधार पर डिंगल नाम होने की अपेक्षा यही उचित ज्ञात होता है कि डिंगल के आधार पर पिंगल शब्द का उपयोग किया गया होगा। इस कथन की सार्थकता इससे भी ज्ञात होती है कि पिंगल का तात्पर्य छन्द शास्त्र से है। ब्रजभाषा न तो छन्द

---

1. ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आव द बेंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ, ११३-१४
2. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६।

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही है अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।'[1] ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।[2] श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।[3] किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डागल कही जाती रही होगी, बादमें पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतोरी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।[4] ढोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं: डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलाई। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।[5] इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववर्ती बताया गया है।

§ ७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचार-शृङ्खला में साम्य की कोई गुञ्जाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मालूम होता है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गई। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संशोधित सं०, १९५४, पृ० १३६–४०

२. प्रिलीमिनेरी रिपोर्ट आन द आपरेशन इन सर्च आव मैन्युस्क्रिप्ट्स आव बार्डिक क्रोनकिल्स, पेज १५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७

४. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी अव बैंगाल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७९

५. ढोला मारू रा दूहा, काशी, संवत् १९९१, पृ० १६०

पूर्व ही राजस्थान में काव्य-रचना होती थी' यह कोई तर्क नहीं है। राजस्थान में काव्य-रचना होती थी, इसका अर्थ यह तो नहीं कि डिंगल में ही काव्य-रचना होती थी, राजस्थान में संस्कृत और प्राकृत में भी काव्य-रचना हो सकती है जो भी हो यह तर्क कोई बहुत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। पिंगल छन्दशास्त्र को कहते हैं फिर ब्रजभाषा का पिंगल नाम क्यों पड़ा!

§ ८०. पिंगल और डिंगल दोनों शब्दों के प्रयोगों पर भी थोड़ा विचार होना चाहिए। पिंगल शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग जो अब तक ज्ञात हो सका है, गुरु गोविन्द सिंह के दशम ग्रन्थ में दिखाई पड़ता है। सिक्ख संप्रदाय के प्रसिद्ध गुरु गोविन्द सिंह ब्रजभाषा के बहुत बड़े कवि भी थे। उन्होंने अपने 'विचित्र नाटक' (१७२३ के आसपास) में पिंगल भाषा का जिक्र किया है।[1] जबकि डिंगल शब्द का सबसे पहला प्रयोग संभवतः जोधपुर के कवि राजा बांकीदास के 'कुकविबत्तीसो' नामक ग्रन्थ में १८७२ संवत् में हुआ।

डींगलिया मिलिया करैं पिंगल तणी प्रकास
संस्कृत ह्वै कपट सज पिंगल पढ़ियो पास।

बांकीदास के पश्चात् उनके भाई या भतीजे बुधा जी ने अपने 'दुवावेत' में दो तीन स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है।

सब ग्रंथ समेत गीता कूं पिछाणै
डींगल का तो क्या संस्कृत भी जाणै। १५५
और भी आसीऊं कवि यक्ष
डींगल, पींगल संस्कृत फारसी में निमंक ॥ १५६

स्पष्ट है कि 'डींगल' कवि की मातृभाषा नहीं बल्कि प्रादेशिक भाषा थी इसलिए उसका यह पूर्ण ज्ञाता था किन्तु यह गर्व से कहता है कि डिंगल तो डिंगल संस्कृत भी जानता है। डिंगल एक कृत्रिम राजस्थानी चारण-भाषा थी जैसा कि शौरसेनी अपभ्रंश की परवर्ती पिंगल। मातृभाषाएँ तो मारवाड़ी, मेवाती, जयपुरी आदि बोलियाँ थीं। इसलिए राजस्थानी चारण के लिए भी डिंगल का ज्ञान कुछ महत्त्व की बात थी, उसे सीखना पड़ता था। डिंगल नामकरण राजस्थानी भाषा के लिए निश्चित ही पिंगल के आधार पर दिया गया। संभव है कि पूर्वी या मध्यदेशीय राज-दरबारों में पिंगल के बढ़ते हुए प्रभाव और यश को देखकर राजस्थानी चारणों ने अपनी बोली मारवाड़ी का एक दर्बारी या साहित्यिक रूप बनाया जिसे उन्होंने डींगल या डिंगल नाम दिया।

§ ८१. किन्तु हमारे लिए यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि पिंगल पुरानी है या डिंगल। महत्त्वपूर्ण यह है कि ब्रजभाषा का नाम पिंगल कब और क्यों पड़ा। पिंगल छन्द-शास्त्र का अभिधान है, इसे भाषा के लिए प्रयुक्त क्यों किया गया। भाषाओं के नामकरण में छन्द का प्रभाव कम नहीं रहा है। वैदिक भाषा का नाम छन्दस् भी था। कभी-कभी कोई भाषा किसी खास छन्द विशेष में ज्यादा शोभित होती है। भाषाओं के अपने-अपने इश्किर छन्द होते हैं। गाहा छन्द प्राकृत का सर्वप्रिय छन्द था। गाथा छन्द संस्कृत में भी मिलते हैं,

---

1. दशमग्रन्थ, श्री गुरुमत प्रेस अमृतसर, पृ० ११०
2. बांकीदास ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ८१

अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड़ गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'दव्वसहावपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माइल्लधवल ने किसी शुभंकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था—

> दव्वसहायपयासं दोहयबंधेन् आसिअ दिट्ठं
> तं गाहाबन्धेण च रइयं माइल्लधवलेण।
> सुणियउ दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ
> एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणइ॥

प्राकृत को आर्ष या धर्म वाणी समझने वाले शुभङ्कर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक-भौं चढ़ाना उचित ही था। भला कौन कट्टर धर्म प्रेमी बर्दाश्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर संकेत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होड़ा-होड़ी करते हैं जिसे लेखक ने 'दोहाविद्यया स्पर्धमानो' कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है।[1] परवर्ती काल में 'रेख़्ता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेख़्ता' भाषा कहा गया। 'रेख़्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेख़्ता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

§ ८२. ब्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह झगड़ा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खड़ा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में ब्रज मिश्रित (पंडाऊ) खड़ी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खड़ी बोली में हो ही नहीं सकती थी, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी ब्रजभाषा के घर में यही झगड़ा हुआ था। उस समय ब्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकांशतः) की भाषा थी जब कि उसी का किंचित् परवर्ती मजा हुआ रूप परवर्ती शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस संबंध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं। मध्यकाल के अंतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था। बंगाल के सिद्धों के दोहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनायें हैं। इस काल में यही भाषा छन्द

1. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १५७

इस भाषा को ... कहते हैं। संस्कृत, प्राकृत और 'भाखा' के बारे में वे कहते हैं 'पहली यानी संस्कृत में विभिन्न विज्ञान कला आदि विषयों पर लिखी हुई पुस्तकें मिलती हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह परलोक की भाषा है। इसे वे आकाशबानी या देवबानी कहते हैं। दूसरी 'प्राकृत' है। इस भाषा का प्रयोग राजाओं, मंत्रियों आदि की प्रशंसा के लिए होता है और इसे पाताल लोक की भाषा कहते हैं, इसलिए इसे पातालबानी या नागबानी भी कहा जाता है।'[1] प्राकृत राजस्तुति और मंत्रवन्दना के लिए कभी व्यवहृत नहीं थी, यह कार्य तो चारण-भाट या पिंगल का ही माना जाता है। यह प्राकृत संस्कृत और ब्रज के बीच की भाषा है, ऐसा मिर्जा खाँ का विश्वास है। मिर्जा खाँ की नागबानी जो राजस्तुति की भाषा थी और ब्रज में मिश्रित होने वाली नागभाषा, जिसका उल्लेख भिखारीदास ने किया है, संभवतः एक ही हैं और मेरी राय में ये नाम विशिष्ट ढंग से पिंगल भाषा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मध्ययुग में संगीत के उत्थान में नाग जाति का योगदान अवश्य महत्त्व का रहा होगा क्योंकि यह पूरा कबीला संगीत और नृत्य प्रेमी माना जाता है, अतः पिंगल का नागबानी नाम अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है और मध्ययुग के सांस्कृतिक संमिश्रण को समझने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

§ ८४. १२वीं से १४वीं तक के काल की भाषाओं के विश्लेषण के आधार पर तत्कालीन उत्तर भारत की भाषा-स्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है।

१—संस्कृत-प्राकृत : दोनों साहित्यिक भाषायें जनता से कटी हुई, थोड़े से लोगों की बुद्धि-विलास की वस्तु रह गई थीं, फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था, श्री हर्ष का नैषध तत्कालीन संस्कृत और समराइच कहा आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रन्थ हैं।

२—शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप : जैन लेखकों की रूढ़ अपभ्रंश आदर्श। शालिभद्र सूरि (११८४ ईस्वी) लक्खण (१२५७ ईस्वी) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती हैं।

३—शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ठ रूप, सिद्धों के दोहे, कीर्तिलता, अद्दहमाण के सन्देश रासक के दोहे इस भाषा के आदर्श।

४—अवहट्ठ और राजस्थानी के किञ्चित् मिश्रण से उत्पन्न पिंगल। प्राकृत पैंगलम् प्राचीन रासो काव्य, रणमल्ल छन्द आदि इस भाषा के आदर्श। चारण शैली की भाषा।

५—पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रंश जिसमें शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतोरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

६—देश्य अपभ्रंशों से विकसित जन भाषायें—जिनका रूप साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता, मध्यदेशीय या ब्रजभाषा के अनुमान के लिए उक्तिव्यक्ति प्रकरण आदि से अनुमान लगाया जा सकता है। ये भाषायें विभिन्न जनपदों में नव्य भाषाओं की सृष्टि कर रही थीं जिनमें देशी तत्त्व प्रचुर मात्रा में सामने आ रहे थे।

इस सूची में ब्रजभाषा की दृष्टि से नं० (३) नं० (४) और नं० (६) का विवेचन होना चाहिए।

---

१. ए ग्रामर आव दी ब्रज, शान्तिनिकेतन, १९३५, पृ० ३४

§ ८५. नं० ३ : यानी अवहट्ठ भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। संदेशरासक संभवतः सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ। कवि अद्दहमाण रचित इस महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १६४५ में सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिसार (पंजाब) में लिखी गई थीं। तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में संस्कृत छाया या अवचूरिका भी संलग्न है। किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयसमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज काम चलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाइड व्रतिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भांडार में भी अद्दहमाण के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो संभवतः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ संवत् में लिखी'। संस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है। दिगम्बर जैन मंदिर (तेरह पंथियों का) जयपुर के शास्त्रभांडार में उक्त प्रति (वे० नं० १८२८) संरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया।

अद्दहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अब्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे।

> पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि
> तह विसए सम्भूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥३॥
> तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु
> अद्दहमाण पसिद्धो सनेह रासयं रइयं ॥४॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अद्दहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक की रचना की।

ऊपर की गाथाओं से अद्दहमाण का अर्थ अब्दुलरहमान और मिच्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि संस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरद्द का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अद्दहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अद्दहमाण को मुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी। सन्देशरासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अतः यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अद्दहमाण मुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है। सन्देशरासक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति धनलोभ से खम्भात

में पड़ा हुआ है। इस प्रकार खम्भात एक मशहूर व्यापारिक केन्द्र मालूम होता है, जहाँ काफी हिन्दू वैश्य, जैन आदि के व्यापारी भी आकृष्ट होकर आने लगे थे। खम्भात की ऐसी उन्नति सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के पहले नहीं थी, इस आधार पर भी हम कह सकते हैं कि अब्दुर्रहमान सिद्धराज का समकालीन मालूम होता है। मुनि जिनविजय जी के ये दोनों ही तर्क पूर्णतः अनुमान मात्र हैं, महमूद के आक्रमण के बाद भी, इन नगरों के प्राचीन गौरव और वैभव को लक्ष्य करके ऐसे चित्रण किये जा सकते हैं, इसके लिए समकालीन होना बहुत आवश्यक नहीं है। राहुल सांकृत्यायन भी मुनि जी की मान्यता को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि कवि की जन्मभूमि मुल्तान के महमूद के हाथ में जाने के पहले की मौजूद थे। राहुल जी ने कवि के मुसलमान होने के सम्बन्ध में यह भी कहा है कि अब्दुर्रहमान ने[1] प्रारंभ में मंगलाचरण करते हुए अपने को मुसलमान प्रकट किया है। वे आगे लिखते हैं : तेरहवीं और बाद की भी दो तीन सदियों में हमें यदि खुसरो को छोड़कर कोई मुस्लिम कवि दिखाई नहीं पड़ता तो इसका तो यह मतलब नहीं कि करोड़ों भारतीय मुसलमान बनते ही कवि-हृदय से वंचित हो गए। हिन्दुस्तान की खाक से पैदा हुए सभी मुसलमानों के लिए अरबी-फारसी का पंडित होना संभव न था, अब्दुर्रहमान जैसे कितने ही कवियों ने अपनी भाषा में मानव समाज की भिन्न-भिन्न अन्तर्वेदनाओं को लेकर कविता की होगी।"[2] राहुल जी के विचारों से एक नई बात मालूम होती है। वे अब्दुर्रहमान को मूलतः भारतीय मानते हैं जिसने धर्म परिवर्तन करके इस्लाम ग्रहण किया। संस्कृत, प्राकृत के इतने बड़े जानकार को विदेशी मानना शायद ठीक होता भी नहीं। अस्तु हम इन तर्क-वितर्कों के बाद अनुमान कर सकते हैं कि अब्दुर्रहमान १२ वीं १३ वीं के बीच कभी वर्तमान थे जो प्राकृत के बहुत बड़े कवि थे और जिन्होंने प्राकृत-अपभ्रंश में सन्देशरासक की रचना की।

§ ८६. ब्रजभाषा की दृष्टि से सन्देशरासक के महत्त्व पर विचार करते वक्त हमारा ध्यान पाण्डुलिपियों और उनके लिपिकारों की ओर स्वभावतः आकृष्ट होता है। अब तक की प्राप्त पाँचों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। वैसे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में लिपि-प्रचार या अनुलेखन पद्धति की परम्परा बड़ी ही अनिश्चित रही है। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि "लोग प्रादेशिक भाषाओं या उनके प्राचीन रूप में लिखने का प्रयत्न करते समय भी तत्कालिक प्रचलित भाषा में न लिखकर हमेशा ऐसी शैली में लिखते आए हैं जो पुराने रूप तथा इस दोनों की दृष्टि से थोड़ा बहुत प्राचीन ज्ञान-सम्पन्न या मनगढ़न्त हो।"[3] जैन लिपिकार एक ओर जहाँ अपनी परम्परा-निष्ठा और रूढ़ि-निर्वाह-प्रवृत्ति के कारण प्राचीन साहित्य की सुरक्षा करने में सफल हुए हैं वहीं इनकी अपनी लेखन-रीति के आग्रह में तत्कालीन कृति की भाषा को पुरानी अर्ध या जैनापभ्रंश की भाषा बनाने के मोह से भी वे दूर न रह सके। न, ण, य, ज श्रुति के निर्वाह में अनियमितता, संयुक्तों की स्थिति को स्पष्ट मुक्त, आदि पर वे बहुत ध्यान देते थे, इस प्रकार लिपिकार भाषाओं को आदर्श के निकट पहुँचाना ही आया

---

१. [illegible], प्रयाग १९५७ पृ० ५६

२. ,, ५९, ६१

३. [illegible] और हिन्दी, दिल्ली, १९५७ पृ० ९९

कर्तव्य मानते थे। सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति संलक्षित होती है।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाण्डित्य पूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत-प्रभावापन्न और रूढ़ है। हांलाकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत पण्डित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए काव्य करता हूँ।

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार
(सं० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है। हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्त्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ *अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ठ के दोहों का प्रयोग।* वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्त्व गृहीत हुए हैं किन्तु दोहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० हरिवल्लभ भायाणी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे : जैसा स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है सन्देशरासक के दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सों की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहों की भाषा अति निकट और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बढ़ी हुई मालूम होती है।[1] दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अग्रसरीभूत क्यों है?

§ ८७. प्रेम या विरह काव्यों में लोक-गीतों के प्रयोग की पद्धति बिल्कुल नई नहीं है। लोकगीतों में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियों की अनलंकृत विवृत्ति और वेदना की जितनी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे काव्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग का कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। विक्रमोर्वशीय में राजा की कातरता और विरह-पीड़ा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और यह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है। सन्देशरासक में प्रायः लेखक दोहों का प्रयोग अत्यन्त तीव्र भावाकुल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

1. As suggested at relevent places that the language of the dohas of S. R. differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied, to, though more advanced than, the language of the dohas of Hemcandra.

Sandesa Rasaka, inuroduction P. 87.

करता है। मिलन-स्मृति और वर्तमान विरह अवस्था की विषम परिस्थितियों में उद्भूत करुणा की अभिव्यक्ति सन्देशरासक के दोहों में देखी जा सकती है :

> जसु पवसंत न पवसिया मुइअ विओइ ण जासु।
> लज्जिज्जउं संदेसडउ दिंती पहिय पियासु ॥७०॥
> लज्जिय पंथिय जइ रहउं हियउ न धारउ जाइ
> गाह पढिज्जसु इक्क पिय कर लेविणु मनाइ ॥७१॥
> संदेसडउ सवित्थरउ पर मइ कहणु न जाइ
> जो कालंगुलि मुंदडउ सो बाहडी समाइ ॥८१॥

दोहों की भाषा को दृष्टि में रखते हुए कोई भी आदमी रासक की भाषा (गाथाओं की) को रूढ़ ही कहेगा। संभवतः इसी तथ्य को लक्ष्य करके डा० भायाणी ने लिखा है कि 'संदेशरासक में प्रयुक्त अवहट्ट प्राकृत पैंगलम् में गृहीत अवहट्ट भाषा से भिन्न है क्योंकि संदेशरासक का लेखक पूर्वा वैयाकरणों की तरह भाषा का जो भेद करता है उसमें अवहट्ट का अर्थ अपभ्रंश है।''[1] प्राकृत पैंगलम् की भाषा निःसन्देह परवर्ती है, परन्तु अवहट्ट शब्द के अर्थ में दोनों प्रयोगों में कोई खास भिन्नता नहीं है। इसके बारे में हम पीछे ही विस्तृत विचार कर चुके हैं।

इस प्रकार ब्रजभाषा के विकास के अध्ययन में संदेशरासक के दोहे काफी सहायक हो सकते हैं। वैसे पूरे ग्रन्थ की भाषा में भी दोहों के अलावा लोक अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई पड़ता है, और ये भाषिक तत्त्व भी हमारे लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। नीचे सन्देशरासक की भाषा की उन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है, जो प्रारंभिक ब्रजभाषा के निर्माण और परवर्ती ब्रज के विकास में सहायक हुईं। ध्वनि विकास और रूपविचार (मारफोलॉजी) दोनों ही दृष्टियों से, जैसा ऊपर निवेदन किया गया, संदेशरासक की भाषा श्वेताम्बर अपभ्रंश या जैनियों की रूढ़ अपभ्रंश से भिन्न नहीं है। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का आदर्श उपस्थित किया, उससे यह भाषा पूर्णतः साम्य रखती है (१) मध्यग म् > वँ (वं) रूपान्तर यथा (रवंनउ १८० ग < रमण्यकम्) रवंणिज्ज (२०७ < रमणीयक) दवंण (६२ ग < दमन) आदि (२) आज्ञार्थक क्रिया के इ, हि, उ, और अ प्रत्यय (३) असमापिका क्रिया में इवि, अवि, इवि, एवि, एविणु, इ, अप्पि आदि प्रत्ययों का प्रयोग (४) भविष्यत् में–स–और–इ–प्रकार की क्रियाएँ। किन्तु इन तमाम रूढ़ियों के बावजूद इस भाषा में कुछ ऐसे तत्त्व दिखाई पड़ते हैं जो अपभ्रंश में लोक-प्रिय जन-भाषाओं के तत्त्वों के सम्मिश्रण की सूचना देते हैं जो लेखक के समय में प्रचलित थीं। इन्हीं विकसनशील तत्त्वों में हम ब्रजभाषा के बीज बिन्दु पा सकते हैं।

§ ८८. (१) अकारण व्यंजन द्वित्व की प्रवृत्ति चारण शैली की ब्रजभाषा में प्रबल रूप से दिखाई पड़ती है। चन्द, नरहरिभट्ट, गंग और भूषण की भाषा में तो यह प्रवृत्ति है ही। युद्ध आदि के वर्णन के वक्त प्रयुक्त छप्पय छन्दों में तुलसी, केशव, तथा अन्य लोकभाषा के कवि भी इस प्रवृत्ति से अछूते न रह सके। इसका आरम्भ सन्देशरासक में दिखलाई पड़ता है।

---

1. संदेश रासक, पृष्ठ ४७

चिरगाय (१८१ क<चिरगय<चिरगत), सब्भय (२०८ <सभय), परव्वस (२१० ग<परवस<परवश) दलव्वहल (११ क<दलवहल) तम्माल (५६ ग<तमाल), तुस्सार (१८४ घ<तुसार<तुषार) आदि।

§ ८६. **स्वरसंकोचन** (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरंजक इतिहास है। संस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, स्वरों के बीच की विवृत्ति तो हटी ही, संधि-प्रक्रिया से उन्हें संध्यक्षर बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए।

अआँ>आँ=सुनार (१०८ क<*सुन्नआर<स्वर्णकार), साहार (१३४ घ< सहयार<सहकार), अंधार (१३६ ग<अंधआर<अंधकार)।

अउँ>ओं=तो (१८घ<तउ<ततः) सासोर (४२ क<ससउर<श्वशुर) मोर (२१२ ख<मऊर<मयूर) आसोय (१७२ क<आसउय <अश्वयुज), इंदोअ (१४३ घ>इन्दाओप<इन्द्रगोप) आदि।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा रूपों के चड़िय> चढ़ी १६१ घ तुट्टिय>तुटी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं। अपभ्रंश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग-भेद का उतना विचार न था किन्तु ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तज भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चढ़ी, टूटी आदि उसी अवस्था के संकेत हैं।

§ ९०. म्>व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रीय अपभ्रंश की विशेषता कहा था। रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है। मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की खास विशेषता है। चाटुर्ज्या ने इसे ब्रज खड़ी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारंभिक मैथिली से इसकी तुलना की है। (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) संदेशरासक में मध्यग व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। मंनाएवि (७४ अ<मंनावेवि) भाइयइ (५२ क< भावियइ<भाव्यते) भाइण (६५ ग<भाविण<भावेग), संताउ (७६ ख<संतावु< संताप) जीउ (१५४ ग<जीवु<जीवः)।

§ ९१. **ल का महाप्राणीकरण।** ल>ल्ह। ल्ह, म्ह, आदि ध्वनियाँ ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं। मिल्हउ (४६ ग<मेल्ल=छोड़ना)।

§ ९२. द्वित्व या संयुक्त व्यंजनों में केवल एक व्यंजन को सुरक्षित रखने तथा इसकी क्षति पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रकृति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई संदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी।

ऊसास (६७ क<उस्सास<उच्छ्वास) नीसरइ (५४ ग<निस्सरइ <निस्सरति) नीसास (८३ ग<निस्सास<निःश्वास) दीसहि (६८ घ <दिस्सइ <दृश्यते)।

§ ९३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में संदेशरासक का यर<कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यथा दोवयर २२ ख, संजीवयर २२ घ, उल्हावयर ६० घ। हेमचन्द्र में भी कंचयर (४।४१२) रूप इसी तरह का है। यह प्रत्यय अन्त्य स्वर के दीर्घ होने पर प्रायः

वैसा ही रूप लेता जैसा ब्रज का चितेरा, लुटेरा आदि। अपभ्रंश की उ विभक्ति के साथ संयुक्त होकर यह प्रत्यय यरं>रो (यरउ>एरो) का रूप ग्रहण करता है जो चितेरो, लुटेरो के निर्माण में सहायक है।

§ ९४. उपसर्गों में 'स' उपसर्ग का प्रयोग विचारणीय है। सलज्जिर २८ क, सगग्गिर २६ ग, सविलक्ख (२८ क<सविलक्षण) सलोल, सकोमल आदि में यह उपसर्ग देखा जा सकता है। ब्रज का सकुशल, सकोमल, सघन आदि रूप इस प्रकार निर्मित होते हैं।

§ ९५. सन्देशरासक की भाषा ब्रज के कितनी निकट है इसका पता तो कारक विभक्तियों को देखने से चलता है जिनमें ब्रजभाषा की तरह ही निर्विभक्तिक या मात्र प्रातिपदिक रूपों का ही प्रयोग हुआ है।

विरह सवसेय कय (१०३–ख विरहेण वशीकृताः) विरहग्गि धूम लोयणसवणु (१०६ घ–विरहाग्नि धूमेन लोचनस्रवणम्) णेवर चरण विलग्गिवि (२७ घ, नूपुरचरणे विलग्न) पिय विओय विसुण्ठल्यं (११५ क प्रिय वियोगविसंस्थलं) इसी प्रकार सम्बन्ध कारक में पवसंत ७४ क, संभरंत ४६ क, गिरंत १७५ ख आदि में प्रातिपदिक मात्र प्रयुक्त हुए हैं (देखिए सन्देशरासक § ५१)

§ ९६. विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण भी सन्देशरासक में विरल नहीं हैं। ब्रजभाषा में विभक्ति-व्यत्यय की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है। सों, पै, आदि परसर्ग तो एकाधिक कारकों में व्यवहृत होते हैं। 'मो पै कही न जाइ' आदि कुछ उदाहरण हेमचन्द्र के दोहों की भाषा के प्रसंग में दिए जा चुके हैं। सन्देशरासक के उदाहरण इस प्रकार हैं—

षष्ठी का प्रयोग द्वितीयार्थ में—

(१) तुअ हियय ट्ठियह छड्डिवि ७५ ग = त्वाम् हृदयस्थितम् मुक्त्वा (कर्म)

(२) विलवंतियह नासामिहसि १६१ ड = विलपन्ती मा नाशयसि (कर्म)

(३) दिन्ती पहिय पियासु ७० ख = प्रियाय

§ ९७. सर्वनाम प्रायः वही हैं जो हेम व्याकरण में अपभ्रंश दोहों में मिलते हैं। इन सर्वनामों से ब्रजभाषा के सर्वनामों का क्या सम्बन्ध है, यह उसी प्रसंग में दिखाया जा चुका है।

§ ९८. क्रिया रूपों की दृष्टि से अपभ्रंश से भिन्न और ब्रजभाषा के निकट पड़ने वाली कुछ विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

(क) वर्तमान कालिक कृदन्त का प्रयोग ते रूप प्रायः 'अन्त' से ही होते हैं। इसका रूपान्तर ब्रज में (अन्त>अत) करत, चलत, सुनत में दिखाई पड़ता है। अन्त के भी कुछ रूप मिलते हैं।

(१) [illegible] (१०० ग)

(२) [illegible] (६५ ग)

(३) [illegible]

(ख) भूत कृदन्त रूप का भूतकाल के अर्थ में प्रयोग प्रायः Preterite Participle के इय या इयउ प्रत्यय के अंत से बने रूप जैसे हुअउ (ब्रज हुओ) हुओ, भओ (भयो ब्रज) आदि।

§ ९९. असमापिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। ब्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु ब्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नई विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुरि कै खरी' हंसि के, लै कै आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपों जुरि, हंसि या लइ के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ (१०८ ख)

§ १००. भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृ-वाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता है, जो ब्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कह्लोलिहि गजिउ १४२ ख, सिहिंडिउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुसुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पड़ता है। हसिहि चडिउ में हंस द्वारा चढ़ा गया—अर्थ धीरे-धीरे बदलने लगा। हंसि चडिउ से हंस चडिउ > हंस चड्यो।

§ १०१. संयुक्त-क्रिया का प्रयोग अवहट्ठ की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नव्य आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मोड़ दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

(१) को णिसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन सुने बिना रहता है

(२) तक्वर वक्खर हरि गउ (६५ च) तस्कर ने सामान हर लिए

(३) असेस तरुय पडि करिगय (१६२ घ) सभी पेड़ों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और ब्रजरूपों के लिए द्रष्टव्य (कैलाग हिन्दी ग्रामर § ४४२,७५४)

§ १०२. क्रियार्थक संज्ञाओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

(१) न धरणउ जाइ ७१ क, धरा नहीं जाता

(२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता

(२) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्रायः सन्देशरासक के दोहों में ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग छिताईवार्ता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

'एक दिवस की कहन न जाइ (छिताई वार्ता १२७)

§ १०३. परसर्गों के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पड़ती है।

सउं (ब्रज सौं) विरह सउं ७६ क, कंदप्प सउं (६६ क)

गुरुविणु एण सउं (७४ ख)

सरिसु (ब्रज, सरिसों, सरिसौ) हाय हेयइ सरिसु (१६१ घ)

मियणाहिण सरिसउ (१८७ घ)

चतुर्थी में लगि या लग रूप मिलता है जो व्रजभाषा में नहीं मिलता।

सप्तमी में महि, मइ, मज्झ आदि रूप प्राप्त होते हैं। जिनका व्रज में विकास दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार सन्देशरासक की भाषा हेम व्याकरण के अपभ्रंश-आदर्श को सुरक्षित रखते हुए भी विकास के तत्त्वों को समाहित करने में सफल हुई है। संदेशरासक में टेठ भाषा-प्रभावापन्न दोहों में कहीं ज्यादा विकसनशील तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। वैसे पूरे ग्रन्थ की भाषा संक्रान्तिकालीन अर्धभाषा के अध्ययन में सहायक हैं, व्रज के तो और भी।

§ १०४. शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप अवहट्ठ पूर्वी प्रदेशों में भी साहित्य रचना का माध्यम हो गया था। पूर्वी प्रदेशों में जो कि मागधी श्रेणी की भाषाओं का क्षेत्र है, अवहट्ठ क्यों और कैसे प्रचलित हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है। मागधी प्राकृत या अपभ्रंश का कोई साहित्य प्राप्त नहीं होता। मागधी प्राकृत संस्कृत नाटकों में केवल नीच पात्रों की भाषा के रूप में व्यवहृत हुई है जिसके थोड़े बहुत अंश मिलते हैं। इसके दो ही कारण हो सकते हैं जैसा कि डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं—'या तो यह कि इस भाषा का सारा साहित्य नष्ट हो गया या इसका कोई साहित्य था ही नहीं—या यह कि शौरसेनी अपभ्रंश ही साहित्य की भाषा स्वीकार कर लिया गया था'[1]। मुसलमानों के आक्रमण से जितनी क्षति पूर्वी हिस्सों को हुई उतनी पश्चिमी भाग को नहीं। मध्यदेश और भारत के पूर्वी हिस्से इस ध्वंसकारी आक्रमण की चोट में सीधे आए और परिणामतः इनके सांस्कृतिक और साहित्य पीठस्थल बिल्कुल ही ध्वस्त हो गए। ईस्वी सन् का ११९७ शायद पूर्वी प्रदेशों के लिए सबसे बड़ा अनिष्टकारी वर्ष था जब बख्तार का बेटा मुहम्मद खिलजी बिहार को चीरता चला गया। इस भीषण नाश और अग्निकाण्ड का किंचित् परिचय सुल्तान नासिरुद्दीन के प्रधान काजी मिनहाज-ए-सिराज के इतिहास ग्रन्थ तबक़ात-ए-नासिरी से मिलता है। हत्या और अन्य घटनाओं ने पूरे प्रान्त की संस्कृति का नाश कर दिया। विद्वानों की या तो हत्या कर दी गई या तो वे भाग कर नेपाल की ओर चले गए। वे अपने साथ बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों की पांडुलिपियाँ भी लेते गए। इस प्रकार ए साहित्य-परम्परा का अन्त हो गया। मगध जिसे पूर्वी भारत का युद्ध-स्थल अनवरत तुर्क-पठान और मुगलों के युद्धों का केन्द्र बना रहा, बंगाल भी इसी क्रम हो गया।[2] इस प्रकार के सांस्कृतिक विनिपात के दिनों में अवशिष्ट राजदरबारों अपभ्रंश या अवहट्ठ की रचनाओं का प्रभाव निःसंदिग्ध है। जातीय युद्ध के अवहट्ठ या पिंगल की वीरतापूर्ण रचनाओं ने सारे उत्तर भारत को एक जीवनशक्ति विकसित मागधी अपभ्रंश के अभाव, जो कुछ था भी, उसके विनाश, के अपभ्रंश का प्रभाव स्थापित होना स्वाभाविक ही था।

§ १०५. पूर्वी प्रान्तों में लिखी गई रचनाओं में कवि विद्यापति की कुछ पुस्तक प्रशस्तियाँ तथा बंगाल-बिहार में फैले हुए सिद्धों के गान और दोहे प्र

1. ओ० डे० लें० पृ० ८०
2. डा० चाटुर्ज्या द्वारा ओ० डे० लें० में उद्धृत पृ० १०१

शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट में लिखा हुआ कोई और काव्य उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ट रचनाओं की भाषा में पूर्वी-प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिलित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और बौद्धों की रचनाओं को पुरानी बंगला कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी संकेत-चिह्न कीर्तिलता में प्राप्त होते हैं, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूल-भूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण-विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ट या पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनोभावों को समझते हुए प्रेम-शृङ्गार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयोजन से काव्य लिखता है तब ब्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ट रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि यह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नीचे कीर्तिलता का एक युद्ध-प्रसंग देखिये, भाषा बिल्कुल प्राकृत पैंगलम् के हम्मीर संबन्धी पदों की तरह या रासो के युद्ध-प्रसंगों की भाषा की तरह मालूम होती है।

> हंसि दाहिन हथ्थ समथ्थ भइ, रणरत्त पलट्टिय खग्ग लइ
> तहं एक्कहि एक्क पहार परे, जहं खग्गहि खग्गहि धार धरे
> हय लग्गिय चंगिय चारुकला, तरवारि चमक्कइ विज्जु कला
> हरि टोप्परि टुट्टि सरीर रहे, तनु शोणित धारहिं धार बहे
> तनु रंग तुरंग तरंग बसे, तनु घट्टइ लग्गइ रोस रसे
> सव्वंउ जन पेक्खहिं जुज्झ कहा, महभावइ अज्जुन कन्न जहा
> नं आहव माहव सत्तु करें, बाणासुर जुज्झइं वुत्त भरे
> महराअन्हि मल्लिकें चप्पिलंउ, असलान निजानहु पिट्ठ दिउ
> तं खणे पेक्खिअ राय सो अरु सुरखेअ करेओ
> जे करे मारिअ बप्प मह सो कर कवन हरेओं
>
> (कीर्तिलता ४।२२६-५३)

इस भाषामें पूर्वी प्रयोगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ > करयो, हरेओं > हरयो के ब्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के अ + उ का ब्रज में सीधे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'यो' जैसे कह्यो, मरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ > औ, यौ के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पड़ती है।

§ १०६. सिवसिंह के सिंहासनारोहण के समय लिखे गए एक प्रशस्ति की भाषा द्रष्टव्य है। देवसिंह की मृत्यु के समय सिवसिंह ने यवनों से आक्रान्त राज्य का कैसे उद्धार किया और

कैसे मिथिला के सिंहासन को हस्तगत किया, इस पद में वर्णित है। भाषा पूर्वी प्रदेश के कवि ने लिखी है, किन्तु यह एकदम पश्चिमी हिन्दी है।

> अनलरन्ध्र कर लक्खन नरवइ । सक समुद्द कर अगिनि ससी ।
> चैत कारि छठि जेठा मिलिओ । बार बेहप्पर जाउलसी ॥
> देवसिंहे जं पुहवी छड्डिअ । अद्धासन सुरराय सरू ।
> दुहु सुरतान नीन्दे अब सोअउ । तपन हीन जग तिमिरे भरू ॥
> देखहु ओ पृथिमी के राजा । पौरुस मांझ पुन्न बलिओ ।
> सतबले गंगा मिलित कलेवर । देवसिंह सुरपुर चलिओ ॥
> एक दिस जवन सकल दल चलिओ । ओका दिस सौं जम राउ चरू ।
> दुअओ दलटि मनोरथ पूरेओ । गरुअ दाप सिवसिंह करू ॥
> सुरतरु कुसुम घालि दिस पूरेओ । दुन्दुहि सुन्दर साद धरू ।
> वीरछत्र, देखन को कारन । सुरगन सोहे गगन भरू ॥
> आरम्भिय अन्त्येष्टि महामख । राजसूय अस्समेध जहाँ ।
> पण्डित घर आचार बखानिअ । याचक को घर दान कहाँ ॥
> विजावइ कविवर एहु गावए । मानव मन आनन्द भएओ ।
> सिंहासन सिवसिंह बइट्ठो । उच्छवे बैरस बिसरि गएओ ॥

सो, कारन, को आदि परसर्ग, कहाँ-तहाँ आदि क्रिया विशेषण पुरेओ, बइट्ठो, बिसरि गएओ, भएओ आदि भूतकृदन्त से बने क्रिया रूपों के कारण इस भाषा की आत्मा पश्चिमी ही मालूम होती है। मैं यह नहीं कहता कि इस पर पूर्वी प्रभाव नहीं है विशेष कर कर्ता में ए-कारान्त रूप आदि किन्तु यह प्रधान नहीं है, आरोपित है।

§ १०७. कीर्तिलता वैसे अपभ्रंश जिसे कहीं-कहीं भ्रम से मिथिलापभ्रंश कहा गया है, का ग्रन्थ है। फिर भी उसमें पश्चिमी भाषा-तत्त्वों की बात लोगों को खटकती है, किन्तु इसकी भाषा के वास्तविक विश्लेषण करने के इच्छुक और तथ्य के अनुसंधित्सु के लिए इस कथन से कोई आश्चर्य न होगा कि कीर्तिलता में बहुत से, अत्यंत महत्त्वपूर्ण और विरल, अन्यत्र प्रायः एकदम अप्राप्य ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पश्चिमी हिन्दी के न जाने कितने उलझे हुए रूप तत्त्व (Morpholog) की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हैं। ब्रजभाषा की दृष्टि से कुछ थोड़ी सी विशेषताएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं।[1]

१—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परसर्ग—

(क) सञो > सों (व्रज)
तुरय राउत सञो दुट्टइ (४। १८४) मान सञो (१। २४)

(ख) कारण > कारन, (व्रज, चतुर्थी)
वीर जुज्झ देक्खइ कारण (४।१६०) पुन्दकारि कारण रण (४।१७५)
माखन कारन आरि करत जो (सूर)

---

१. कीर्तिलता की भाषा के लिए द्रष्टव्य : कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ७६–१२६

(ग) कइ > कै (ब्रज, सम्बन्ध)

पुत्र आस असवार कइ उठिय सिरनवइ सब्व कइ (२।२२४) जाके घर निसि बसे कन्हाई (सूर)

(घ) को—

दान लगा को मागन न जानइ २।१३८ (षष्ठी) ब्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को

तं दिस केरी राय घर तरुणी (४। ८६)

आय लपेटे सुतहु नंद केरे (सूर २५।६०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल ब्रज और खड़ी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह संकेत आदि प्राप्त हों। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक जन रंजिउ (२।६३), जेन्ने णिय कुल उद्धरिअउं (२।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे ब्रज जाने जिन्ने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रंश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असंभव है।

२—सर्वनामों के महत्त्वपूर्ण रूप—

मेरहु > मेरो, ब्रज

मेरहु जेठ गरिठ भइ (२। ४२)

मेरो मन अनत कहाँ रहुगावै (सूर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का ब्रज रूप मोरो मेरो होता है। हों के हउं या हमो पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवहट्ठ: सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओ के साथ ओंहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओंहु का प्रयोग १४वीं शती के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओंहु खास दरबार (कीर्ति) ओ परमेसर हर सिर मंडइ (कीर्ति०)

वह सुधि आवत तोहि सुदामा (सूर)

देखे तुम अस ओऊ (सूर)

सूर के 'ओऊ' या ओऊरि > सो भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एही' रूप का भी महत्त्व है।

राय चरित रसालु एहु (कीर्ति०)

स्याम कों यहै परेखो आवै (सूर)

तिरहुत्ती एहि नामं हुअ (कीर्ति०)

एहि घर बसों बीरा मन मोचन (सूर)

निजवाचक अप्पाण अप्पणउ कीर्तिलता में विविध रूपों में प्राप्त है।

अप्पने हाथ लंक (कीर्ति)

अपनेहु साठे सम्हलहु (कीर्त्ति०)

अपने स्वारथ के सब कोऊ (सूर)

३—क्रियापदों के अत्यन्त विकसित और ब्रज के निकटतम प्रयोग नीचे दिये जाते हैं।

पक्ख न पाले पउवा श्रंग न राखे राउ (कीर्त्ति०)

मेरो मन न धीर धरै (सूर)

यहाँ अइ की विवृत्ति सुरक्षित न रखकर इसे ऐ रूप में बदल लिया गया है। वर्तमान कृदन्त के रूपों का सामान्य वर्तमान में प्रयोग अपभ्रंश में नहीं होता था। किन्तु कीर्त्तिलता की भाषा इस मानी में ब्रजभाषा की एकदम पूर्वरूपिका है।

कइसे लागत आँचर बतास (कीर्त्ति०)

काहु होत अइसनो आसु (कीर्त्ति०)

भुज फरकत अँगियां तरकति (सूर)

भूत कृदन्त से बने रूपों में अपभ्रंश के "अउ" वाले और विकसित एओ वाले रूप मिलते हैं पीछे इनके बारेमें कहा जा चुका है। पूर्वकालिक द्वित्व का प्रयोग भी विचारणीय है।

पीछे पयादा ले ले मभु, आपहिं रहि रहि आवन्ता (कीर्त्ति०)

यहाँ केवल 'ले'—लेकर से काम चलता, किन्तु संख्या और क्रिया की अनवरतता देखते हुए दो पूर्वकालिक के प्रयोग हुए हैं।

गहि गहि बांह सवन कर ठाढ़ी (सूर)

विरह तपाइ तपाइ (कबीर)

संयुक्तकाल की क्रियायें वर्तमान कृदन्त और सहायक क्रिया के संयोग से बनती हैं। ये रूप ब्रज के बहुपरिचित हैं।

खिसियाय खाण है (कीर्त्ति०) खान खिसियाता है

स्याम करत हैं मन की चोरी, राजत हैं अतिसय रंग भीने (सूर)

इस प्रकार परसर्ग, विभक्ति, सर्वनामों के विविधरूपों, क्रियापदों के कई प्रयोगों के विकास को समझने के लिए कीर्त्तिलता की भाषा का सहयोग अनिवार्यतः अपेक्षित है। वाक्य-विन्यास, निर्विभक्तिक प्रयोगों, विभक्ति-व्यत्यय, क्रिया-विशेषण और रचनात्मक प्रकार की दृष्टि से भी समानतायें दिखाई पड़ती हैं। विस्तार भय से यहाँ सबको उपस्थित करना जरूरी नहीं मालूम होता।

§ १०८. अवहट्ठ या पिंगल अपभ्रंश में लिखी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्राकृत पैंगलम् है, जिसमें १२वीं से १४वीं तक की बहुत सी प्राचीन ब्रज-रचनायें संकलित की गई हैं।

प्राकृतपैंगलम् के कुछ हिस्से को श्री बोगलिन्ड गोल्डश्मित ने एकत्र किया था जिसका उपयोग पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण में किया। इस ग्रंथ का प्रकाशन रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से १९०१ ई० में श्री चन्द्रमोहन घोष के संपादकत्व में हुआ। इसके पहले यह ग्रंथ १८९४ ई० में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्राकृत पिंगल सूत्राणि के नाम से प्रकाशित हुआ था। प्राकृतपैंगलम् में मूलग्रंथ के साथ संस्कृत भाषा की तीन टीकायें भी हैं जो इस ग्रंथ की लोकप्रियता और प्रसिद्धि का द्योतक है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसका रचना काल ९००–१४०० ई० के बीच में माना है। प्राकृतपैंगलम् में हेमचन्द्र ने [illegible]

उदाहरण विभिन्न काल की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजेश्वर की कर्पूरमंजरी (१०० ई०) से भी लिये गये हैं। डा० चाटुर्ज्या के मत से अधिकांश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २६४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ संख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं।[1] इसी सिलसिले में उन्होंने बी० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बंगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डा० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२ वीं शती से पीछे खींचने के पक्ष में नहीं हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस संग्रह की कुछ रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरतीं, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और फिर पिंगल अपभ्रंश चौदहवीं शताब्दी की जीवित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कड़ी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२ वीं शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती है।[2] प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन ब्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ६ हम्मीर से संबद्ध हैं। पृ० १५७, १८०, २४६, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के संबंधी एक पद में 'बज्जल भणइ' यह वाक्यांश भी दिखाई पड़ता है :

हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुह महं जलउं।
सुरताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिय चलउं॥

श्री राहुल सांकृत्यायन ने हम्मीर संबन्धी कविताओं को जज्जल-कृत बताया है,[3] हालाँकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिन कविताओं में जज्जल का नाम नहीं है, उनके बारे में संदेह है कि वे इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जज्जल-भणिता युक्त पदों को तो राहुल जी जज्जल की कृति मानते ही हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'राहुल जी का मत प्राकृत-पैंगलम् में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है—पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध मात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोढोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं किसी और कवि की होगी किन्तु यह कवि शार्ङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं।[4] मेरा ख्याल है कि यह काफी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शार्ङ्गधर का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होता, और प्राप्त

१. चाटुर्ज्या, ओ० डे० ब० लै० ६०
२. तेसीतोरी, इंडियन ऐंटिक्वैरी, १९१४, पृ० २२
३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद टिप्पणी
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० १५
५. पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृत पैंगलम् के इन पदों को शार्ङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

होने पर यह सिद्ध नहीं हो जाता कि प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर संबन्धी पद्य उक्त शार्ङ्गधर के ही लिखे हुए हैं। इस विचार को सर्वथा सूझ देना न केवल अशास्त्रीय है बल्कि निराधार वितंडा-मात्र भी है।

§ १०९. जज्जल की तरह कुछ पदों में विज्जाहर या विद्याधर का नाम आता है। विद्याधर कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र के मंत्री थे।[1] प्रबन्धचिन्तामणि में विद्याधर जयचन्द्र का मंत्री और 'दर्शविधसारभारधुरंधर' तथा 'चतुरंश विद्याधर' कहा गया है।[2] विद्याधर काव्य प्रेमी था इसका पता पुरातन प्रबंध संग्रह के 'जयचन्द्रप्रबन्धम्' से भलीभाँति चलता है। परमर्दिन् ने कोप कालाग्नि रुद्र, अवंध्यकोपप्रसाद, रायदहवोट्ट आदि विरुद धारण की, इससे कुपित होकर जयचन्द ने उसकी कल्याण कटक नाम की राजधानी को घेर लिया। परमर्दि के अमात्य उमापतिधर ने भयाकुल राजा के आग्रह पर विद्याधर को एक सुभाषित सुनाया जिसे अत्यन्त प्रसन्न होकर विद्याधर ने सुप्त राजा को पर्यंक सहित उठवाकर पाँच कोस दूर हटा दिया।[3] लगता है विद्याधर स्वयं भी कवि था और उसने देशी भाषा में कविताएँ की थीं जिनमें से कुछ प्राकृतपैंगलम् में संकलित हैं। इन रचनाओं का संग्रह राहुल सांकृत्यायन ने काव्य-धारा में प्रस्तुत किया है।[4]

§ ११०. प्रसिद्ध संस्कृत कवि जयदेव के गीतगोविन्दम् के बारे में बहुत पहले विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की थी कि यह अपने मूल में किसी प्राकृत या देशी भाषा में रहा होगा। पिशेल ने इन छन्दों को भाषावृत्त में देखकर ऐसा अनुमान किया था। (ग्रेमेटिक § ३२) जयदेव के नाम से संबद्ध दो पद गुरुग्रन्थ साहब में भी मिलते हैं। राग गूजरी और राग मारू में लिखे ये दोनों गीत भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से उत्तम नहीं कहे जा सकते। किन्तु इनमें पश्चिमी हिन्दी का रूप स्पष्ट है। इन पदों को दृष्टि में रखकर डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि यह बहुत संभव है कि ये पद मूलतः पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गये हों जो उस काल में बंगाल में बहुत प्रचलित था। पश्चिमी अपभ्रंश की कुछ विशेषताएँ, खास तौर से 'उ' कारान्त प्रथमा प्रातिपादिक की, इन छन्दों में दिखाई पड़ती हैं, यही नहीं उन पर संस्कृत का भी घोर प्रभाव है।[5]

प्राकृत पैंगलम् के दो छन्द गीतगोविन्द के श्लोकों के बिल्कुल रूपान्तर मालूम होते हैं। मैं बहुत विश्वास से तो नहीं कह सकता किन्तु लगता है ये छन्द जयदेव के स्वतः रचित हैं, गुरु ग्रन्थ साहब के दो पदों की ही तरह ये भी उनके पश्चिमी अपभ्रंश या पुरानी ब्रजभाषा की कविताओं के प्रमाण हैं। संभव है पूरा गीतगोविन्द परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश या अवहट्ट

---

१. अल्तेकर—दी हिस्ट्री आव राष्ट्रकूट्स पृ० १२८
२. चिन्तामणि, मेरुतुंगाचार्य, ११३–११४
३. पुरातन प्रबंध संग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० १०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३२६–३८
5. It seems very likely they (Poems in Guru Granth) were originally in Western Apabhrams'a as written in Bengal. Western characteristics are noticable in them e. g. the-u-affix for nominative, There is straight influence of Sanskrit as well.
Origin and Development of the Bengali Language, P. 126.

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहिं दंतहिं ठाउ धरा
रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, बंधिय सत्तु सुरज्ज हरा
कुल खत्तिय तप्पे, दहमुख कप्पे, कंसअ केसि विणास करा
करुणा पअले मेच्छह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा

(पृ० ५७०।२७०)

गीत गोविन्द[1] का श्लोक :

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते।
दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्रं क्षयं कुर्वते॥
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

(अष्टपदी १, श्लोक १२, पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें विरही लोग अत्यंत कष्ट से बिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौरों की गुंजार और कोकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

जं फुल्लक फल वण वहत लहु पवण
भमइ भमर कुल दिसि विदिसं
झंकार पलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिय हिय हुअ दर विरसं
आणंदिय जुअ जण उलसु उठिय मणु
सरस नलिणि किम सयणा
पल्लट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुसुम समय अवतरिय वणा

(पृ० ५८७।२१२)

गीत गोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुरः
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमं समागमरसोल्लासैरमी वासराः॥

(पृ० २१)

कृष्ण संबंधी एक और पद प्राकृतपैंगलम् में संकलित है, वह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोकों का बहुत प्रभाव मालूम होता है, दो एक श्लोकों को साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

१. मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा संपादित, बम्बई १९१३

जिण कंस विणासिअ कित्ति पआसिय ·
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे, गिरि हत्थ धरे,
जमलज्जुण भंजिय, पअभर गंजिय,
कालिय कुल संहार करे जस भुवन भरे,
चाणूर विहंडिय, णिमि कुल मंडिय
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे,
सो तुम्ह णरायण, विप्प परायण
चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीय हरा,
(पृ० ३३१।२०७)

गीत गोविन्द पृ० ७५ के १३वें श्लोक और कृष्णलीला संबन्धी प्रारंभिक वन्दना से ऊपर के पद का भाव-साम्य स्पष्ट मालूम होता है।

§ १११. कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं जिसमें बब्बर का नाम आता है। राहुल सांकृत्यायन ने इस बब्बर को कलचुरि नरेश कर्ण का मंत्री बताया है। बब्बर नाम से हिन्दी काव्यधारा में संकलित रचनाओं में से बहुत सी किसी अन्य कवि की भी हो सकती हैं, उन्हें बब्बर का ही मानने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। राहुल जी ने इस प्रकार की बब्बर की अनुमानित रचनाओं का संकलन काव्यधारा में किया है।

प्राकृतपैंगलम् की भाषा में प्राचीन ब्रज के तत्त्व :

§ ११२. नव्य भारतीय आर्य भाषा काल के पहले प्राकृत-ध्वनितत्त्व में कोई विघ्न या गतिमयता नहीं दिखाई पड़ती। ध्वनि-तत्त्व के ह्रास के इस काल में कृत्रिम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की सबसे बड़ी ध्वन्यात्मक विशेषता यही है कि उन्होंने इस क्षय स्थिति को समाप्त कर दिया और ध्वनितत्त्व का परिवर्तन या विघ्न होने लगा। हृदय प्राकृत काल में हिअअ रह सकता था और रहा किन्तु नव्य भाषा काल में उसे हिय या हिया बन जाना ही पड़ा। उसी प्रकार मध्यकालीन ध्वनियों में व्यंजन द्वित्व की परम्परा को भी नव्य भाषा काल में आसान होना पड़ा। कम्म>काम हुआ और सच्चु>साच। खड़ी बोली में पंजाबी के प्रभाव के कारण इस प्रकार व्यंजन द्वित्व अब भी मिल सकते हैं। डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'हिन्दी में हमें कम्म, हत्थ, कल्ल, सच्च, बुड्ढ, नत्थ, रत्ती, चद्दर, उम्मेद आदि रूप मिलते हैं जब कि इन्हें भाषा-नियम के अनुसार काम, हाथ, काल, साच, बूढ़, नाथ, राती, चादर तथा उमेद होना चाहिए था, किन्तु अन्तिम शब्दों में व्यंजन द्वित्व-मुरक्षा का मूल कारण पंजाबी का प्रभाव ही है।'[1] ब्रजभाषा में इस प्रकार के द्वित्वों का एकान्त अभाव है। संभवतः हिन्दी की बोलियों में ब्रज ही ऐसी है जिसमें इस प्रकार की परम्परा से बचने की पूर्ण कोशिश हुई।[2] प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस प्रवृत्ति का आरम्भ दिखाई पड़ता

1. चाटुर्ज्या: भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ११०
2. ग्रियर्सन ने ध्वनि तत्त्व की इस मूल प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए कहा था कि पश्चिमी हिन्दी का सच्चे रूप में प्रतिनिधित्व ब्रजभाषा करती है, खड़ी बोली नहीं। —लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया।

है। आछे (४६२।२ <अच्छइ<अद्दति*), करीजे (४०२।२<करिज्जइ<क्रियते), कहीजे (४०२।२<कहिज्जइ<कथ्यते) चउवीस (१५५।२<चतुर्विंशति), चाम (४३६।२<चर्म्म), जासु (१४३।१<जस्स>यस्य) णीसंक (१२८।४<निःशंक), णीसास (५५३।२<निःश्वास), तासु (३०१६<तस्य), दीसइ (३१५।५<दृश्यते) आदि। मध्यम व्यंजन-द्वित्वों के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Intervocalic) के कारण इस भाषा में नई शक्ति और रवानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३. ब्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के ह्रस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यंजन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार संकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नासिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं, कभी नहीं भी करते। ब्रजभाषा में वंशी का बाँसुरी, पंक्ति का पाँत, पण्डित का पाँडे, पंच का पाँच आदि रूप अवसर मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नहीं पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ किए बिना ही दिखाई पड़ते हैं। इस तरह के उदाहरण ब्रजभाषा में भी विरल नहीं हैं।

सँदेसनि<संदेश, गोविंद<गोविन्द, रँग<रंग, नँदनन्दन<नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते हैं।

सँधया (१२६।४<स्कंधक), सँजुते (१५७।४<संयुक्त) चँडेसर (१८४।८<चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४<पंचचत्वारिंशत्) इस प्रकार का ह्रस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के परिवर्तन के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४. प्राकृतकाल में शब्दों के बीच से व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता था। मध्यम क ग च ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृति को नव्य भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो संधि नियमों के अनुसार वे सहस्वर संयुक्त कर दिए जाते हैं, या उनमें य या व या ह श्रुति का समावेश करते हैं। इस प्रकार चरति का चरइ या चरह रूप, चले या चले हो जाता है। चइउ का चढ़ो, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः औ और ऐ दिखाई पड़ते हैं। कन्नौजी में औ के स्थान पर ओ और ऐ मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृति को सुरक्षित न रखने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी।

अ+उ=ओ आओ (५१६।४<आअउ ५५२।४<आगतः), उगो (१७०।४ उदितः) कहिओ (२४।५<कहिअउ १६८।४<कथितः), चौदह (४०४।२<चउद्दह<चतुर्दश), बणीओ (१४८।१<वनितः), भौरा (४४३।१<भ्रू वे)

. अ+इ=ऐ, आछे (४६५।२<अच्छइ), आवे (१५८।४<आवइ<आयाति), कहीजे (४४२।२<कहिज्जइ २४६।५<कथ्यते), चलीजे (४१२।१<चलिज्जइ<चित्ते।

§ ११५. विवृति या उद्वृत्त स्वरों को दूर करने के लिए अपभ्रंश-काल में य या व श्रुति का विधान था। अपभ्रंश के बाद मध्यग 'व' व्यञ्जन का कुछ शब्दों में लोप दिखाई पड़ता है। यह लोप मूलतः प्रयुक्त या श्रुति जन्य दोनों प्रकार के व के प्रसंगों में दिखाई पड़ता है। जैसे

'पुलिंग शब्दों में वे प्रायः अन्त में 'ओ' जोड़ते हैं जैसे कटुटो। किन्तु बोलचाल में 'ओ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग करते हैं जैसे कलूटा। केलाग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था। व्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलाग ने लिखा है—

'व्रजभाषा में पदान्त का 'आ' विशेषणों और क्रियाओं में प्रायः 'ओ' दिखाई पड़ता है किन्तु संज्ञा शब्दों में प्राकृत का 'ओ' आ ही रह जाता है।'[1] यों हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग व्रज में चलते हैं।

§ ११७. दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग। प्राचीन व्रज में अभी तक ओकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था। सूर और सूर के बाद की व्रजभाषा में प्रायः औकारान्त रूप मिलते हैं। मिर्जा खां ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त को बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है।[2]

§ ११८. व्रजभाषा के सर्वनामों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते हैं। खड़ी बोली के सर्वनामों के तिर्यक रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि। किन्तु व्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, जा का आदि साधित हैं अर्थात् व्रजभाषा में ये रूप वानें, याको, जाको, ताकों, आदि बनते हैं। इस प्रकार खड़ी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है व्रज में ता, जा, वा, या, जा का। प्राकृतपैंगलम् में इन रूपों के बीज बिन्दु दिखाई पड़ते हैं।

(१) कैसे जिविआ ताका विग्गला (४०८।४)
(२) ताक भणणि किम पक्कउ थंभउ (४७०।४)
(३) काहु णअर गेह मंदरणि (५२३।४)
(४) जा अद्धंगे पव्वई सीसे गंगा जासु

इन सर्वनामों के अलावा जो, सो, तासु, जासु आदि व्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपों के प्रयोग भरे पड़े हैं। नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं—

(१) हम्मारो दुरिन्ता संहारो (३६१।४ प्रा० पैं०)
(२) हमारैं हरि हारिल की लकरी (सूर)
(३) गई भक्तिो रिम घर हमारो (४३५।४ प्रा० पैं०)
(४) हमरी बात सुनो व्रजराय (सूर)
(५) उग्गाय हीरा हउँ एक नारो (४३५।२ प्रा० पैं०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामों के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पड़ते हैं।

(१) जिवि तुम हरिसंभ भग (१८४।८)
(२) संहर तोहर संकट संहर (१५१।२)

---

1. केलाग, ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० १२८
2. ए ग्रामर आफ दी व्रज भाषा, पृष्ठ ६०, फुट नोट

(३) तुहंइ धुव हम्मीरो (१२७।४)
(४) तुमहि मधुप गोपाल दुहाई (सूर)
(५) तुहुं जाहि सुन्दरि (प्रा० पैं० ४०।१)
(६) तुव ध्यानहिं में हिलि मिलि (दास २६–२६)

तुअ>तुव का प्रयोग ब्रज में बहुत प्रचलित है। इन सभी रूपों की तुलना के लिए देखिये (ब्रजभाषा §§ १६४–१६७)।

निकटवर्ती निश्चय वाचक सर्वनामों के निम्नलिखित रूप महत्वपूर्ण हैं—

(१) ते एम्हि मलयाणिला (प्रा० पैं० ५२८।४)
(२) बारक इनि वीथिन्ह ह्वे निकसे (सूर)
(३) एहु जाण चउमत्ता (३६।४ प्रा०)
(४) इहै सोच अक्रूर परयो (सूर)
(५) कब देख्यौं इहि भाँति कन्हाई (सूर)

§ ११९. परसर्गों का प्रयोग नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की अपनी विशेषता है। परसर्गों का प्रयोग यद्यपि अपभ्रंश काल में ही आरंभ हो गया था किन्तु बाद में इनका बहुत विकास हुआ। प्राकृत पैंगलम् में परसर्गों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़ता है।

करण कारण—सउँ>सौं
संमुहि संउ मग्ग मिग गण (११२।२ प्रा०)
नन्दनंदन सौं इतनी कहिओ (सूर)

अधिकरण—मध्य>मज्झ>मह
आइकल उकच्छ मंह होइगिणि किउ सार (१५०।१ प्रा०)
ज्यौं जल मांह तेल की गागरि (सूर)

§ १२०. ब्रजभाषा में संभाव्य वर्तमान का रूप वास्तव में अपभ्रंश के वर्तमान काल का विकसित रूप ही है। इन रूपों में अन्तिम स्वर विवृति (Hiatus) सन्धि प्रक्रिया के अनुसार संयुक्त स्वर में बदल जाती है। उदाहरण के लिए मारउं का मारौं, मारइ का मारै आदि रूप। ब्रजभाषा में यह रूप वर्तमान काल के इस मूल भाव को प्रकट करता है, किन्तु जब उसे निश्चित वर्तमान का रूप देना होता है तब ब्रजभाषा में इस तिङन्त रूप के साथ वर्तमान काल की सहायक क्रिया को भी जोड़ देते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है। उदाहरण के लिए हौ मारौं हौं, तू मारे है, वह मारै है आदि रूप। वर्तमान कृदन्त में सहायक क्रिया लगाकर नहीं, तिङन्त के रूप में सहायक क्रिया लगाकर बने हैं। प्राकृत पैंगलम् का एक उदाहरण लीजिए—

बह बह बड्डा बरह हह टर वह भार कुमेर (१६२।१)

यहां वर्तमान निश्चयार्थ की क्रिया 'बरह हह' पर गौर करें। यह रूप ब्रजभाषा के 'बरे है' का पूर्वरूप। इस तरह के रूप परवर्ती ब्रजभाषा में बहुत प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। प्राचीन खड़ी बोली और दक्खिनी में भी ऐसे प्रयोग विरल नहीं।

'पस्त-पस्त फूस-फूस एक इन्सान जाते हैं' (मीर)

८—ब्रजभाषा की असमापिका क्रियायें अपना निजी महत्त्व रखती हैं। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है संयुक्त पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। ब्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ√कृ का पूर्वकालिक रूप।

भई **जुरि कै** खरी (सूर)

कछुक दिवस औरो ब्रज **बसि कै** (सूर)

खड़ी बोली हिन्दी में इसका थोड़ा भिन्न रूप पढ़नकर, खाकर आदि में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैंगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ राय विपत्तिउ अणुसर खत्तिउं **कट्टि कए** वहि छन्द भणी (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व-रूप है। ब्रजभाषा में 'काटि कौ' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय भप पसरंत धरा गुरु **सज्जिकरा** (३३०।६)

धरा के तुक पर अंतिम शब्द 'कर' का करा हो गया है। 'सजिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खड़ी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'छक्कलु **मुँह संणाचि कर**' (२५६।४) में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सन्देशरासक में 'दहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

ब्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोगों ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि जाणीओ (५४७।३)

(२) फणिंदेँ भणीओ (३४८।१)

(३) पिंगलेँ कहिओ (१२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप ब्रज में कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ-साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पड़ते हैं।

(१) सिहर कंपिओ (२६०।१)

(२) जअण झंपिओ (२६०।२)

(३) सो सम्माणीओ (५०६।२)

(४) पफुल्लिअ कुंद उगो सहि चंद (३७०।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर ब्रजभाषा में विकास और रूपान्तर दिखाई पड़ता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्ययान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदा० हेरन्ता (५०७।४), मज्झे तिणि पल्न्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप रासो, कबीर, चारण शैली के नरहरिभट्ट आदि की रचनाओं में बहुत मिलते हैं।

§ १२१. ब्रजभाषा के अव्यय के बहु प्रचलित धौं, लौ, आदि रूप प्राकृत पैंगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैंगलम् में 'जु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'जु' ब्रजभाषा में पादपूरक अव्यय है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

(१) मुद्दय्या मग गुहइ सु जिमि ससि रयणि सोहइ (२६३।१)
(२) नियमान विरह-सूल उरमें सु समाति (सूर)
(३) गेंद उसारि सु ताको (सूर)
सु<यत् से विकसित पादपूरक अव्यय प्रतीत होता है।

प्राकृत पैंगलम् की भाषा में ध्वनि और रूप दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन ब्रज के प्रयोगों का बाहुल्य है। वाक्य-विन्यास की दृष्टि से तो यह भाषा ब्रज के और निकट दिखाई पड़ती है। निर्विभक्तिक प्रयोग वर्तमान कृदन्तों का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, सर्वनामों के अत्यंत विकसित रूप इसे ब्रजभाषा का पूर्वरूप सिद्ध करते हैं। क्रिया के भविष्य रूप में यद्यपि इस काल तक 'गा' वाले रूप नहीं दिखाई पड़ते किन्तु आविह, करिह आदि में 'ह' प्रकार के रूपों का प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा में 'गा' प्रकार के रूप भी मिलते हैं परन्तु 'ह' प्रकार के चलिहैं, करिहैं आदि रूप भी बहुत मिलते हैं।

१२२. अवहट्ठ में लिखे ग्रंथों की भाषा का विश्लेषण करते हुए गुजरात के दो प्रसिद्ध कवियों का परिचय दिये बिना यह विवरण अधूरा ही रहेगा। इन रचनाओं में गुजराती के कुछ तत्त्व भी प्राप्त होते हैं किन्तु मूल ढांचा शौरसेनी का ही है। १३६० संवत् के आसपास जिनपद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु नामक काव्य लिखा। जिनपद्मसूरि के इस काव्य का कोई निश्चित रचना-संवत् नहीं मिलता। राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी काव्यधारा में इस ग्रन्थ का रचनाकाल १२०० ई० अर्थात् १२५७ संवत् अनुमानित किया है, किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता। 'जैन गुर्जर कवियो' के प्रसिद्ध लेखक श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने जिनपद्मसूरि का जन्मकाल १३८२ संवत्, आचार्य-पदवी-प्राप्तिकाल १३९० और मृत्यु १४०० संवत् लिखा है। जो बिल्कुल गलत लगता है। संभवतः जन्म संवत् १३८२ में न कहकर वे १२८२ कहना चाहते हैं। मुनि श्री सारमूर्ति ने संवत् १३६० में जिनपद्मसूरिरास की रचना की थी। इस रास ग्रंथ की रचना उसी वर्ष हुई जिस वर्ष जिनपद्मसूरि का पट्टाभिषेक हुआ।

अमिय सरिस जिनपद्मसूरि पट ठवणइ रासु।
सवणं अल सुन्हि पियउ भाविय लहु सिद्धिहिं तासु ॥१॥
विक्कम निव संवच्छरिण तेरह सइ नउ एहि
जिट्ठि मास सिय छट्ठि तहि सुह दिण ससि वारेहि
आदि जिणेसर वर भुवणि ठविय नन्दि सुविसाल
धय पडाग तोरण कलिय चउ दिसि वंदर वाल ॥१६॥
(जिनपद्मसूरि रास)

इन जिनपद्मसूरि के विषय में 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में लिखा गया है कि प्रसिद्ध के लक्ष्मीधर के पुत्र अंबाशाह की पत्नी की कुक्षि-सरोवर से उत्पन्न राजहंस के रि जी को सं० १३८९ ज्येष्ठ शुक्ला छठी सोमवार को ध्वजा पताका तोरण वंदन से अलंकृत आदीश्वर जिनालय में नान्दिस्थापन विधि साथ श्री सरस्वती कंठाभरण (पद्मावश्यक बालावबोधकर्ता) ने जिन कुशलसूरि जी के पद पर स्थापित कर

जिनपद्मसूरि नाम प्रसिद्ध किया।[1] इससे मालूम होता है कि श्री जिनपद्मसूरि १३८८ के आसपास विद्यमान थे, अतः थूलिभद्द फागु का रचनाकाल इसी संवत् के आस-पास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिभद्द काव्य श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में संकलित है। परवर्ती अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रभाव अवश्यंभावी है, किन्तु सामान्यतः इसमें ब्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। मुनि स्थूलिभद्र पाटलिपुत्र में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, वहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज-शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

काजलि अंजिवि नयन जुय सिरि संथउ फाडेइ
घोरियाडिहि काचुलिय उर मंडलि ताडेइ ॥१३॥
कन्नु जुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला
चञ्चल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ संखतूरा ॥१४॥
लवणिम रसभरि कूवडीय जसु नाहिय रेहइ
मयणराइ किर विजयखंभ जसु ऊरू सोहइ
जसु नव पल्लव कामदेव अंकुस जिम राजइ
रिमझिम रिमझिम पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥१५॥
नव जोव्वन विहसंति देह नव नेह गहिल्ली
परिमल लहरिहि मदमयंत रइ केलि पहिल्ली
अहर बिंब परवाल खण्ड वर चंपा वन्नी
नयन सलूणिय हाव भाव बहुगुण सम्पुन्नी ॥१६॥
इणि सिणगारि करेवि वर जव आई मुणि पासि
जो एवा कउतिग मिलिय सुर किंनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि<कज्जल, काचुलिय<कच्चुलिय, वाजइ<वज्जइ, घाघरिय<घग्घर (देशीनाम माला) आदि शब्द, निर्विभक्तिक कारक प्रयोग, जस, जासु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम क्रिया विशेषण, अति विकसित अपभ्रंश के तिङन्त रूप तथा लहलहंत, विकसंति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्तों के स्त्रीलिंगी सम्पुन्नी, वन्नी, गहिल्ली, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दों की अति बहुलता आदि विशिष्टताएँ इस भाषा को पूर्ववर्ती अपभ्रंश से काफी दूर और ब्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिंडोला, कचोला, मसूरा, संखतूरा, आदि प्रयोगों को देखने से यद्यपि खड़ी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग ब्रज में भी चलते हैं।

---

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, अगरचन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा, कलकत्ता संवत् १९९४, पृ० १४-१५

§ १२३. दूसरे कवि हैं श्री विनयचन्द्र सूरि जिन्होंने नेमिनाथ चौपई का निर्माण संवत् १३२५ के आसपास किया। श्री राहुल सांकृत्यायन के इनका काल अनुमानतः १३०० ईस्वी रखा है।[1] श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई चौदहवीं शती मानते हैं। क्योंकि इनका विक्रमी १३२५ का लिखा 'पर्यूषणा कल्प सूत्र' का निरुक्त प्राप्त होता है।[2] इनका काव्य नेमिनाथ चतुष्पदिका भी मुनि जिनविजय-संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में संपूर्ण संकलित है। भाषा के परिचय के लिए नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है।

> पोसि रोसि सवि छोड़वि माह, राखि राखि मइ मयणह पाइ
> पडइ सींव नवि रयनि विहाइ, लहिय छिड़ सखि दुक्ख अमाइ ॥१७॥
> नेमि नेमि तू करती मुद्धि, जुव्वण जाइ न जाणसि सुद्धि
> पुरिस रयण भरियउ संसारु, परणु अनेरस कुइ भत्तारु ॥१८॥
> भोली तउ सखि खरी गमारि, वारि अछंतइ नेमि कुमारि
> अन्नु पुरिस कुइ अप्पणु नडइ, गइवरु लहइ कुरासभि चडइ ॥१९॥
> माह मासि माचइ हिम रासि, देवि भणइ मइ प्रिय इइ पासि
> तणु विणु सामिय दहइ तुसारु, नव नव मारहिं मारइ मारु ॥२०॥
> इहु ससि रोइसि सहू भरसि, इत्थि कि जामइ धरणउ करि
> तऊ न पतीजसि माइरि माइ, सिद्धि रमणि रत्तउ नमि जाइ ॥२१
> कंति वसंतइ हियड़ा माहि, वाति पईजउं किमहि लखाइ
> सिद्ध जाइ तउ कोइ त वीह, सरसां जोउत उगसेंण धीय ॥२२॥

छोड़वि <छड्डवि, राखि <रक्ख, गमारि <गम्मारि, मांहि <मज्झि, वति <वत्ति < वृत्त, उगसेंण <उग्गसेण <उग्रसेण आदि सरलीकृत प्रयोगों के साथ ही तणु, रत्तउ संसारु, अनेरसु, मारु आदि—उ—प्रधान रूप, मइ, तू, अप्पणु >अपनो (ब्रज) तथा भूत निष्ठा के भरियउ >भर्यो (ब्रज) कृदन्त वर्तमान करती >करति (ब्रज) तथा अनेक तिङन्त तद्भव रूप खरी, भोली गमारि >गवांरि (ब्रज) भतारु, सुद्धि >सुधि (ब्रज) आदि शब्द तथा क्रिया रूप अमाइ, पतीजसि, विहाइ, तथा क्रिया विशेषण तउ >तो (ब्रज) विणु आदि इस भाषा को प्रत्यक्ष प्राचीन ब्रज सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

परवर्ती अपभ्रंश की ओर भी अनेक रचनाएँ ब्रजभाषा के विकास के विश्लेषण में सहायक हो सकती हैं। पूर्वी प्रदेश में लिखी गई रचनाओं में 'बौद्धगान ओ दोहा' का महत्त्व निर्विवाद है। सिद्धों की रचनाओं में दोहा कोश तो निःसन्देह पश्चिमी अपभ्रंश में है।

---

१. हिन्दी काव्य धारा, प्रयाग, १९४५, पृ० ४२८-३१

२. आचार्यहता। तेणणों सं० १३२५ मां पर्यूषणा कल्पसूत्र पर निरुक्त रचेल छे। तेमना गुरु रतनसिंह सूरि अे तपगच्छमां थयेला सैद्धान्तिक श्री मुनिचन्द्र सूरिना शिष्य हता जे विक्रम तेरहमां सदी मां विद्यमान हता। तेमणे टीका पुद्गल-षट्त्रिंशिका निगोद षट्त्रिंशिका आदि ग्रंथो रचेला छे।

—जैन गुर्जर कवियो, पाद टिप्पणी, पृ० ५

किन्तु चर्यागीत की भाषा अन्तःप्रवृत्ति की दृष्टि से अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश से साम्य रखते हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रंगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित अवस्था में जैन भांडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यंत वैज्ञानिक परिचय डा० तेसीतोरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४-१६ के बीच इंडियन एंटिक्वैरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या ब्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४. पिंगल भाषा का किंचित् रूपादर्श प्राकृत पैंगलम् के फुटकल पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डा० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहस की और खंडनमंडन की अजस्र धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलांजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड[1], डा० बूलर[2], डा० मारिसन[3], डा० ओझा[4] तथा डा० दशरथ शर्मा[5] जैसे कुछ विद्याव्यसनी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसंगों को क्रमिक जांच भी होती रही। डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्यों कि वे सन् ६१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशस्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषमताओं को देखते

---

१. एनल्स एंड एन्टिक्वीटीज़ आव राजस्थान, १८२६
२. प्रोसिडिंग्स आफ जे० ए० यस० बी०, जनवरी, १८९३
३. सम एकाउण्टस आफ दी जेनिओलाजीज् इन, पृथ्वीराज विजय, वियना ओरियण्टल जर्नल, खंड सात, १८९३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १. १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोषोत्सव स्मारक संग्रह, १९२८ ईस्वी
५. राजस्थान भारती भाग १ अंक २-३, मरुभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम की मुद्रा, जर्नल आव न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया १९५१। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

§ १२३. दूसरे कवि हैं श्री विनयचन्द्र सूरि जिन्होंने नेमिनाथ चौपई का निर्माण संवत् १३२५ के आसपास किया। श्री राहुल सांकृत्यायन ने इनका काल अनुमानतः १२०० ईस्वी रखा है।[1] श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई चौदहवीं शती मानते हैं। क्योंकि इनका विक्रमी १३२५ का लिखा 'पर्यूषणा कल्प सूत्र' का निरुक्त प्राप्त होता है।[2] इनका काव्य नेमिनाथ चतुष्पदिका भी मुनि जिनविजय-संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में संपूर्ण संकलित है। भाषा के परिचय के लिए नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है।

> पोसि रोसि सवि छोड़वि नाह, राखि राखि मइ मयणह पाह
> पडइ सीव नवि रयनि विहाइ, लहिय छिद्द सखि दुक्ख अमाइ ॥१७॥
> नेमि नेमि तू करती मुद्धि, गुम्वण जाइ न जाणसि सुद्धि
> पुरिस रयण भरियउ संसारु, परणु अनेरम कुइ भतारु ॥१८॥
> भोली तउ सखि खरी गमारि, वारि भणंतइ नेमि कुमारि
> अन्नु पुरिस कुइ अप्पणु नडइ, गइवरु लहइ कुरासभि चडइ ॥१९॥
> माह मासि माचइ हिम रासि, देवि भणइ मइ प्रिय इइ पासि
> तणु विणु सामिय दहइ तुसारु, नव नव मारहिं मारइ मारु ॥२०॥
> इहु ससि रोइसि सहू भरत्ति, हत्थि कि जामइ घरणउ कत्ति
> तऊ न पतीजसि माइरि माइ, सिद्धि रमणि रत्तउ नमि जाइ ॥२१
> कंति वसंतइ हियडा माहि, वाति पहीजउं किमहि लसाइ
> सिद्ध जाइ तउ कोइ न वीह, सरसी जोउत उग्गसेंण धीय ॥२२॥

छोड़वि<छड्डुवि, राखि<रक्ख, गमारि<गम्मारि, मांहि<मज्झि, वाति<वत्ति<वृत्त, उग्गसेंण<उग्गसेण<उग्रसेण आदि सरलीकृत प्रयोगों के साथ ही तणु, रत्तउ संसारु, अनेरमु, मारू आदि—उ—प्रधान रूप, मइ, तू, अप्पणु>अपनो (ब्रज) तथा भूत निष्ठा के भरियउ>भर्‍यो (ब्रज) कृदन्त वर्तमान करती>करति (ब्रज) तथा अनेक तिङन्त तद्भव रूप खरी, भोली गमारि>गवांरि (ब्रज) भतारु, सुद्धि>सुधि (ब्रज) आदि शब्द तथा क्रिया रूप अमाइ, पतीजसि, विहाइ, तथा क्रिया विशेषण तउ>तो (ब्रज) विणु आदि इस भाषा को प्रत्यक्ष प्राचीन ब्रज सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

परवर्ती अपभ्रंश की ओर भी अनेक रचनाएँ ब्रजभाषा के विकास के विश्लेषण में सहायक हो सकती हैं। पूर्वी प्रदेश में लिखी गई रचनाओं में 'बौद्धगान ओ दोहा' का महत्त्व निर्विवाद है। सिद्धों की रचनाओं में दोहा कोश तो निःसन्देह पश्चिमी अपभ्रंश में है।

---

१. हिन्दी काव्य धारा, प्रयाग, १९४५, पृ० ४२८-३२

२. आचार्यहता। तेणणों सं० १३२५ मां पर्यूषणा कल्पसूत्र पर निरुक्त रचेल छे। तेमना गुरु रत्नसिंह सूरि अे तपगच्छमां थयेला सैद्धान्तिक श्री मुनिचन्द्र सूरिना शिष्य हता जे विक्रम तेरहमी सदी मां विद्यमान हता। तेमणे दंडक पुद्गल-षट्त्रिंशिका निगोद षट्त्रिंशिका आदि ग्रंथो रचेना छे।
—जैन गुर्जर कवियो, पाद टिप्पणी, पृ० ५

किन्तु चर्यागीत की भाषा अन्तःप्रवृत्ति की दृष्टि से अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश से साम्य रखते हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रंगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित अवस्था में जैन भाडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यंत वैज्ञानिक परिचय डा० तेसीतोरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४–१६ के बीच इंडियन एंटिक्वैरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या ब्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४. पिंगल भाषा का किंचित् रूपादर्श प्राकृत पैंगलम् के फुटकल पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डा० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहस की और खंडनमंडन की अजस्र धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलांजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड[1], डा० बूलर[2], डा० मारिसन[3], डा० ओझा[4] तथा डा० दशरथ शर्मा[5] जैसे कुछ विद्याव्यसनी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसंगों की क्रमिक जाँच भी होती रही। डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्यों कि वे सन् ६१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशस्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषमताओं को देखते

---

१. एनल्स एंड एन्टिक्वीटीज़ आव राजस्थान, १८२९
२. प्रोसिडिंग्स आफ जे० ए० यस० बी०, जनवरी, १८९३
३. सम एकाउण्टस आफ दी जेनिओलाजीज़ इन, पृथ्वीराज विजय, वियना ओरियण्टल जर्नल, खंड सात, १८९३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १. १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोषोत्सव स्मारक संग्रह, १९२८ ईस्वी
५. राजस्थान भारती भाग १ अंक २–३, मरुभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम की मुद्रा, जर्नल आव न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया १९५४। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

कि 'पृथ्वीराज रासो वि० सं० १६०० के आसपास लिखा गया। वि० सं० १५-१७ की प्रशस्ति में रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासो की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी संवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासो को प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती है वे निराधार हैं।''[1] ओझा जी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णतः संगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओझा निबन्ध संग्रह के सम्पादक डा० दशरथ शर्मा के मत से : कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिस समय यह लेख प्रकाशित हुआ रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासो किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासो सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओझा जी की सब उक्तियाँ अब सर्वमान्य न रहीं।[2]

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के चार छप्पयों ने रासो की भाषा को परवर्ती या नई प्रमाणित करने वालों की अटकल बाजियों को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी न किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को भी बल दिया। संवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनिजिनविजय द्वारा सम्पादित इस संग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते हैं जो विकृत अवस्था में रासो के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनिजिनविजय जी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि यह ग्रन्थ समूचा ही बनावटी है और सत्रहवीं शदी के आस-पास बना हुआ है। यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किए हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासो में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, लाख झूठे मोतियों में से मुट्ठी भर सच्चे मोतियों को अलग छांट सकता है, उसी तरह भाषा शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनावटी श्लोकों में से उन अल्पसंख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।[3]

---

१. ओझा निबंध संग्रह, भाग १, उदयपुर, पृ० ११२
२. वही, प्रस्तावना, पृ० २
३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, १९३१, पृ० ८-१०

मुनि जी के इस सद् प्रयत्न के कारण लोगों को रासो के किसी न किसी रूप की प्राचीनता में विश्वास करने का आधार मिला। मूल रासो अपभ्रंश के परवर्ती रूप में लिखा काव्य रहा होगा, उसकी लोकप्रियता उसकी वस्तु और भाषा दोनों के विकास का कारण हुई। इधर लघु और वृहद् दो रूपों की बात होने लगी है। अब तक इस प्रकार के रूपान्तरों की चार परम्परायें निश्चित की गई हैं। वृहद् रूपान्तर की ३३ प्रतियाँ, मध्यम की ११ लघु की ५ और लघुतम की २ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियों का सम्यक् विश्लेषण करने के बाद पाठ-विशेषज्ञ डा० माताप्रसाद गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वृहत् तथा मध्यम में ४६ स्थानों में से केवल १६ स्थानों पर बलाबल सम्बन्धी समानता है। शेष स्थानों पर विषमता है। वृहद् और लघु में ४६ स्थानों में केवल ५ स्थानों पर समानता है, शेष स्थानों पर विषमता है। और मध्यम तथा लघु में ५१ स्थानों में से केवल २४ स्थानों पर विषमता है। यदि वृहद् से मध्यम या वृहद् से लघु या मध्यम से लघु का संक्षेप हुआ होता तो तीन में से किन्हीं भी दो पाठों में इस प्रकार की विषमता न होती। इसलिए यह अनुमान निराधार है कि लघु और मध्यम वृहद् का अथवा लघु मध्यम का संक्षिप्त रूपान्तर है।[1] लघुतम प्रतियाँ स्वतंत्र हैं, यह विचार पुष्ट होता है, यदि इनमें से कोई प्राचीन प्रति मिले तो उसके विषय में कुछ विश्वस्त भी हुआ जा सकता है। किन्तु जबतक कोई प्रामाणिक संस्करण प्राप्त नहीं होता तब तक रासो की भाषा का सामान्य अध्ययन भी कम महत्त्व की वस्तु नहीं। इधर हाल में कविराज मोहन सिंह के सम्पादकत्व में साहित्य संस्थान् उदयपुर से पृथ्वीराजरासो का प्रकाशन आरम्भ हुआ है।[2] इस ग्रन्थ के सम्पादक ने देवलिया तथा बीकानेर की लघु प्रति के 'पंचसहस्स' शब्द से रासो की संख्या को पाँच सहस्र मानकर असली रासो का पता लगाने के लिए एक तरीका निकाला है। रासोकार ने स्वरचित छन्दों के विषय में लिखा है :

छंद प्रबन्ध कवित्त जति साटक गाह दुहत्थ
लघु गुरु मंडित खंडि यहि पिंगल अमरभरत्थ

अर्थात् इसमें कवित्त, साटक, गाह (गाथा), दुहत्थ (दोहा) छन्दों का प्रयोग हुआ है। सम्पादक ने इस प्रमाण के आधार पर 'पंच सहस्स' संख्या को सीमा मानकर वास्तविक रासो का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। जाहिर है कि यह रास्ता अत्यन्त खतरनाक और अनुमान को उचित से अधिक सही मानने के कारण लक्ष्यभ्रष्ट करने वाला है। पंच सहस से ज्यादा पद यदि इन्हीं छन्दों में मिले तो फिर ऐतिहासिक घटनाओं का वही ऊहापोह, वही विवाद।

रासो की भाषा—

§ १८५. रासो की भाषा प्राचीन ब्रज या पिंगल कही जाती है। हिन्दी के सर्वप्रथम इतिहासकार गार्सां द तासी ने प्रथम एशियाटिक सोसाइटी के हस्तलिखित प्रति के रासो

1. पृथ्वीराजरासो के तीन पाठों का आकार सम्बन्ध, हिन्दी अनुशीलन वर्ष ० अंक ४, १९५५ ई०
2. अब तक रासो के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशक : साहित्य संस्थान उदयपुर। १९५४ ई०

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तारीख पृथुराज वज़बान पिंगल तसनीफ़ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल जबान में, रचयिता चन्द बरदाई।[1] गार्सा द तासी १२वीं से आजतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोलियों में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्त्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स आव राजस्थान की सामग्री ली।[2] तासी जब ब्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिलसिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पैंगलम् की) उस भाषा-समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पैंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।'[3] जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को ब्रज का दूसरा कवि।[4] यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ़ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।'[5] डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'[2]

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवर्ती वंशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से मिलती-जुलती कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपैंगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुलती भाषा १६५० संवत् के जान कवि के क्यामखां रासा में है, नरहरिभट्ट के छप्पयों में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५३, पृ० २१
२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम सं० की पहली जिल्द की भूमिका १८३९ ई०
३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, खण्ड १, भाग प्रथम पृ० ६६

मुनि जी के इस सद् प्रयत्न के कारण लोगों को रासो के किसी न किसी रूप की प्राचीनता में विश्वास करने का आधार मिला। मूल रासो अपभ्रंश के परवर्ती रूप में लिखा काव्य रहा होगा, उसकी लोकप्रियता उसकी वस्तु और भाषा दोनों के विस्तार का कारण हुई। इधर लघु और बृहद् दो रूपों की बात होने लगी है। अब तक इस प्रकार के रूपान्तरों की चार परम्पराएँ निश्चित की गई हैं। बृहद् रूपान्तर की ३३ प्रतियाँ, मध्यम की ११ लघु की ५ और लघुतम की २ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियों का सम्यक् विवेचन करने के बाद पाठ-विशेषज्ञ डा० माताप्रसाद गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बृहद् तथा मध्यम में ४६ स्थानों में से केवल १६ स्थानों पर कथानक सम्बन्धी समानता है। शेष स्थानों पर विषमता है। बृहद् और लघु में ४६ स्थानों में केवल ५ स्थानों पर समानता है, शेष स्थानों पर विषमता है। और मध्यम तथा लघु में ५१ स्थानों में से केवल २४ स्थानों पर विषमता है। यदि बृहद् से मध्यम या बृहद् से लघु या मध्यम से लघु का संक्षेप हुआ होता तो तीन में से किन्हीं भी दो पाठों में इस प्रकार की विषमता न होती। इसलिए यह अनुमान निराधार है कि लघु और मध्यम बृहद् का अथवा लघु मध्यम का संक्षिप्त रूपान्तर है।[1] लघुतम प्रतियाँ स्वतंत्र हैं, यह विचार पुष्ट होता है, यदि इनमें से कोई प्राचीन प्रति मिले तो उसके विषय में कुछ विश्वस्त भी हुआ जा सकता है। किन्तु जबतक कोई प्रामाणिक संस्करण प्राप्त नहीं होता तब तक रासो की भाषा का सामान्य अध्ययन भी कम महत्त्व की वस्तु नहीं। इधर हाल में कविराव मोहन सिंह के सम्पादकत्व में साहित्य संस्थान उदयपुर से पृथ्वीराजरासो का प्रकाशन आरम्भ हुआ है।[2] इस ग्रन्थ के सम्पादक ने देवलिया तथा बीकानेर की लघु प्रति के 'पंचसहस्र' शब्द से रासो की संख्या को पाँच सहस्र मानकर असली रासो का पता लगाने के लिए एक तरीका निकाला है। रासोकार ने स्वरचित छन्दों के विषय में लिखा है :

छंद प्रबन्ध कवित्त जति साटक गाह दुहत्थ
लघु गुरु मंडित खंडि यहि पिंगल अमरभरत्थ

अर्थात् इसमें कवित्त, साटक, गाह (गाथा), दुहत्थ (दोहा) छन्दों का प्रयोग हुआ है। सम्पादक ने इस प्रमाण के आधार पर 'पंच सहस्र' संख्या को सीमा मानकर वास्तविक रासो का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। जाहिर है कि यह रास्ता अत्यन्त खतरनाक और अनुमान को उचित से अधिक सही मानने के कारण लक्ष्यभ्रष्ट करने वाला है। पंच सहस्र से ज्यादा पद यदि इन्हीं छन्दों में मिले तो फिर ऐतिहासिक घटनाओं का वही ऊहापोह, वही विवाद।

रासो की भाषा—

§ १२५. रासो की भाषा प्राचीन ब्रज या पिंगल कही जाती है। हिन्दी के सर्वप्रथम इतिहासकार गार्सा द तासी ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के हस्तलिखित प्रति के फारसी

---

1. पृथ्वीराजरासो के तीन पाठों का आकार सम्बन्ध, हिन्दी अनुशीलन वर्ष • अंक ४, १९५५ ई०
2. अब तक रासो के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशक : साहित्य संस्थान उदयपुर। १९५४ ई०

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तारीख पृथुराज बजबान पिंगल तसनीफ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल बयान में, रचयिता चन्द वरदाई।[1] गार्सा द तासी १२वीं से आजतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोलियों में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्त्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स आव राजस्थान की सामग्री ली।[2] तासी जब ब्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिलसिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पैंगलम् की) उस भाषा-समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पैंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।[3] जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को ब्रज का दूसरा कवि।[4] यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ़ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।' डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'[3]

§ १२८. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवर्ती वंशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से मिलती-जुलती कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपैंगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुलती भाषा १६५० संवत् के जान कवि के क्यामखां रासा में है, नरहरिभट्ट के छप्पयों में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५३, पृ० ३३

२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम सं० की पहली जिल्द की भूमिका १८३९ ई०

३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६

४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, खण्ड ९, भाग प्रथम पृ० ६६

मुनि जी के इस सद् प्रयत्न के कारण लोगों को रासो के किसी न किसी रूप की प्राचीनता में विश्वास करने का आधार मिला। मूल रासो अपभ्रंश के परवर्ती रूप में लिखा काव्य रहा होगा, उसकी लोकप्रियता उसकी वस्तु और भाषा दोनों के विकास का कारण हुई। इधर लघु और बृहद् दो रूपों की बात होने लगी है। अब तक इस प्रकार के रूपान्तरों की चार परम्परायें निश्चित की गई हैं। बृहद् रूपान्तर की ३३ प्रतियाँ, मध्यम की ११ लघु की ५ और लघुतम की २ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियों का सम्यक् विवेचन करने के बाद पाठ-विशेषज्ञ डा० माताप्रसाद गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बृहद् तथा मध्यम में ४६ स्थानों में से केवल १६ स्थानों पर बलाबल सम्बन्धी समानता है। शेष स्थानों पर विषमता है। बृहद् और लघु में ४६ स्थानों में केवल ५ स्थानों पर समानता है, शेष स्थानों पर विषमता है। और मध्यम तथा लघु में ५१ स्थानों में से केवल २४ स्थानों पर विषमता है। यदि बृहद् से मध्यम या बृहद् से लघु या मध्यम से लघु का संक्षेप हुआ होता तो तीन में से किन्हीं भी दो पाठों में इस प्रकार की विषमता न होती। इसलिए यह अनुमान निराधार है कि लघु और मध्यम बृहद् का अथवा लघु मध्यम का संक्षिप्त रूपान्तर है।[1] लघुतम प्रतियाँ स्वतंत्र हैं, यह विचार पुष्ट होता है, यदि इनमें से कोई प्राचीन प्रति मिले तो उसके विषय में कुछ विश्वास भी हुआ जा सकता है। किन्तु जब तक कोई प्रामाणिक संस्करण प्राप्त नहीं होता तब तक रासो की भाषा का सामान्य अध्ययन भी कम महत्त्व की वस्तु नहीं। इधर हाल में कविराज मोहन सिंह के सम्पादकत्व में साहित्य संस्थान, उदयपुर से पृथ्वीराजरासो का प्रकाशन आरम्भ हुआ है।[2] इस ग्रन्थ के सम्पादक ने ऐतिहासिक तथा बीकानेर की लघु प्रति के 'पंचसहस्र' शब्द से रासो की संख्या को पाँच सहस्र मानकर असली रासो का पता लगाने के लिए एक तरीका निकाला है। रासोकार ने रचित छन्दों के विषय में लिखा है :

छंद प्रबन्ध कवित्त जति साटक गाह दुहत्थ
लघु गुरु मंडित खंडि यहि पिंगल अमरभरत्थ

अर्थात् इसमें कवित्त, साटक, गाह (गाथा), दुहत्थ (दोहा) छन्दों का प्रयोग हुआ है। सम्पादक ने इस प्रमाण के आधार पर 'पंच सहस्र' संख्या को सीमा मानकर [illegible] रासो का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। जाहिर है कि यह रास्ता अत्यन्त अनुमानाश्रित और अनुपयुक्त उक्ति से अधिक सही मानने के कारण गड़बड़ करने वाला है। पंच सहस्र से अधिक पद यदि इन्हीं छन्दों में मिले तो फिर ऐतिहासिक घटनाओं का वही क्रम, वही विस्तार।

रासो की भाषा—

§ १२५. रासो की भाषा प्राचीन ब्रज या पिंगल कही जाती है। हिन्दी के बड़े [illegible] इतिहासकार [illegible] शर्मा ने [illegible] ऐतिहासिक [illegible] के [illegible] प्रति के [illegible]

1. पृथ्वीराजरासो के छंद [illegible] का आधार [illegible], हिन्दी अनुशीलन वर्ष ७ अंक १, १९५४ ई०
2. अब तक रासो के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशक : साहित्य संस्थान उदयपुर । १९५४ ई०

रासो का छप्पय—

अगह मगह ढाहिमी देव रिपराइ खयंकर
कूरमंत जिन करौ मिले जंबूवै जंगर
मो सह मामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै
अक्खै चंद बिरद बिभौ कोइ एहु न बुज्झै
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह संभलि
कैमास बलिष्ट बसीठ बिन म्लेच्छ बंध बंधो मरिस
(रासो पृ० २१८२ पद्य १०६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिन्हि लक्ख तुषार सबल पाखरी अइ जसु हय
चउदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर
ल्हूसडू अरु बलु यान संक कुजाणइ ताहं पर
छत्तीस लक्ख नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयऊ
जइ चंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूअ कि धरि गयउ ॥
(पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रासो का छप्पय—

असिय लक्ख तोषार सजउ पक्खर सायद्दल
सहस हस्ति चौसट्ठि गरुअ गर्जंत महाबल
पंच कोटि पाइक्क सुफर फारक्क धनुद्धर
जुध जुधान वर वीर तोर बंधन सद्धनभर
छत्तीस सहस रन नाइवौ विहि निम्मान ऐसो किओ
जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुड्डि कै धर लियौ ॥
(रासो पृ० २५०२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की संख्या ही 'त्रिन्हि' यानी तीन लक्ख से 'असी लक्ख' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यवधान मिटा कर नए रूप में सामने आई।

§ १२८. प्राचीन छप्पदों की भाषा में सर्वत्र उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छप्पदों में विवृत्ति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं। यथा—

खडहडिउँ > ख्यरहर्यौ (शब्दान्तर) लुस्यउ > लुस्यौ, कइवासह > कैमास, जंबूपय (इ) > जंबूवै, बुज्झइ > बुज्झै, सुज्झइ > सुज्झै, विअ (उ) > वियौ, चउदंइ > चौसंट्टि (शब्दान्तर) भयउ > भयौ

इस अवस्था को देखने से दो बातों का पता चलता है। प्राचीन छप्पदों की भाषा प्राकृत पैंगलम् की भाषा की तरह उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छप्पदों की भाषा ब्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती। इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रमाण

ब्रजभाषा के वर्तमान तिङन्त और भूतनिष्ठा के ऐ-कारान्त और औ-कारान्त रूपों के निर्माण में दिखाई पड़ता है।

§ १२९. प्राचीन छन्दों में उद्वृत्त स्वर सर्वत्र सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं उन्हें संयुक्त स्वर में परिवर्तित भी किया गया है, किन्तु यह परिवर्तन अउ>औ के बीच की स्थिति 'अओ' की सूचना देती है।

मुक्कओ (अप० मुक्कउ)=मुक्यौ

दाहिमओ (अप० दाहिमउ)=दाहिमौ

ठवओ (अ० ठवियउ)=ठयौ

वढओ (अप० वढउ)=वधौ

विनिडओ (अप० विनिडउ)=विनड्यौ

यहाँ प्राचीन छन्दों की भाषा में ओ-कारान्त (भूतनिष्ठा) की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में सर्वत्र प्रायः ओ-कारान्त ही रूप मिलते हैं या तो अपभ्रंश की तरह विवृत्ति वाले 'अउ' के रूप। प्राकृत पैंगलम् के उदाहरण पीछे टिप्पणी में देखे जा सकते हैं। लगता है १२ वीं १४ वीं तक औकारान्त रूपों का विकास नहीं हुआ था, यह अवस्था सन्देशरासक की भाषा में भी देखी जा सकती है।

§ १३०. पिंगल में नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की प्रमुख प्रवृत्ति यानी सरलीकरण का भी प्रभाव पड़ा है। प्राचीन छन्दों की भाषा में बहुत से रूप अपभ्रंश की तुलना में सरलीकृत कहे जा सकते हैं, किन्तु बहुत से रूपों में व्यंजन द्वित्व सुरक्षित है जो बाद की छन्दों की भाषा में सरल कर लिया गया है।

इक्कु (अप० एक्कु)>एक

विसट्ट (अप० वसिट्ट)>वसीठ

परमक्खर (अप०) परमाँ (रथ)

प्राचीन पद में पाखरी सरलीकृत रूप है जब कि नये में पक्खर कर दिया गया है।

§ १३१. व्यंजन द्वित्व (Simplyfication of Inter Vocalic Sounds) के प्रयोग भी मिलते हैं। चारण कवि का उद्देश्य युद्धोन्माद या शस्त्र ग्रहण की उत्तेजना का संचार होता था इसीलिये वह शब्दों के अर्थ की अपेक्षा उसके उच्चारणगत ध्वनि या गूँज की ओर अधिक ध्यान देता था। इसके लिये वह अनावश्यक द्वित्व का प्रयोग निर्विकार भाव से करता था। वस्तुतः उसका यह एक कौशल हो गया था। अमृतध्वनि और छप्पय छन्दों तथा नोटक आदि वर्णवृत्तों में वह इस कौशल का पूरा उपयोग करता था।

(१) पाइक्क (<पाइक<पदातिक)

(२) पारक्क (पारक)

(३) अग्गरो<आगर<आकर

नये पदों में सन्नद्ध<सन्नद्ध, विम्मान<विमान या विवान आदि रूप मिलते हैं। यह प्रवृत्ति डिंगल में तो बहुत प्रबल थी।

§ १३२. व>म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुवीस>पुहुमीस (पृथ्वीश)

कइवांसह>कइमासह (कदम्बवास)

ग्रियर्सन ने अलीगढ़ की, ब्रजभाषा में वं>म परिवर्तन लक्ष्य किया था। मनामन<मनावन (हिन्दी) वामन<वावन (हिन्दी) रोमवि<रोवति ।[1] अपभ्रंश में ऐसे प्रतिरूप मिलते थे।

मन्मथ>वम्मह

प्राचीन छपदो में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छपदों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है। वाण>वान, नंदण>नंदन, सइंभरिधणु>संभरिधन आदि। ब्रजभाषा में ण का न हो जाता है। वस्तुतः ब्रज में ण ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये ब्रज भाषा § १०५।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासो के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्व की नवीन अग्रसरीभूत भाषा-प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, क्रियारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित मालूम होती है। दूसरी ओर रासो का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छपदों की भाषा का सीधा संबंध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो सूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के भी बहुत से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासो की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।[2]

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छपदों की भाषा के सिलसिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासो की भाषा में तत्सम-प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में होता है अमृत>अमिय, कृत>किय, हृदय>हिय, मृत्यु>मीचु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में ब्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७१

२. रासो की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीम्स, स्टडीज़ इन ग्रामर आव चंदबरदाई, जे० ए० एस० बी० खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५–१९१

(ख) हार्नले, गोडियन ग्रामर में यत्र-तत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासो की भाषा, राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० १२४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासो की भाषा, काशी, १९५६

(ङ) डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी–चन्दबरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद, पृ० २८१–२११

§ १३४. उपधा या अन्त्य स्वरका लोप या ह्रस्वीकरण अपभ्रंश में भी था, रासो में भी है और यही बाद में ब्रजभाषा के रमनि, रैन, आस आदि में दिखाई पड़ती है। रासो की भाषा में धारा > धार, भाषा > माष, रजनी > रयणि, शोभा > सोम, लज्जा > लाज, भुजा > भुज आदि में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

§ १३५. स्वर संकोच या (Vowel Contraction) की प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट की सभी रचनाओं में पाई जाती है। सन्देशरासक, प्राकृत पैंगलम् आदि की भाषा के विश्लेषण के सिलसिले में हम इस पर विचार कर चुके हैं।

पदातिक > पाइक, ज्वालापुर > जलउर > जालौर, शाकंमरि > सायंमरि > संभरि, तृतीय > तीज, मयूर > मोर आदि इसके उदाहरण हैं।

§ १३६. मध्यग म > वँ —यह ब्रजभाषा की अत्यन्त परिचित प्रवृत्ति है। कुमारी > कुँवारी, तोमर > तोवँर, परमार > पवाँर, भ्रमर > भवँर, सामंत > सावँत आदि।

§ १३७. रेफ वाले शब्दों में कई स्थितियाँ होती हैं। संयुक्त पूर्ववर्ती र् मध्यस्वरागम द्वारा पूर्ण र हो जाता है तथा रेफवाले वर्ण द्वित्व (Gemination) हो जाता है। दुर्ग > दुरग्ग, वर्ष > वरस्स, अर्क > अरक्क, स्वर्ग > सुरग्ग, पर्वत > परब्बत, अर्द्ध > अरद्ध।

दूसरी प्रक्रिया में रेफ का पूर्ण र हो जाता है किन्तु आदि स्वरहीन (light) होकर उसमें मिल जाता है। बाद में क्षति पूर्ति के लिए समीकरण के आधार पर अन्त्य व्यंजन का द्वित्व हो जाता है। जैसे—

गर्व > ग्रब्ब, वर्ण > व्रन्न, सर्प > स्रप्प, गर्भिणी > ग्रम्मनिय
पर्व > प्रब्ब, धर्म > ध्रम्म आदि।

§ १३८. र का विकल्प से लोप भी होता है यथा समुद्र > समुद, प्रहर > पहर, प्रमाण > पमान। ब्रज में इस तरह के शब्द बहुत मिलते हैं।

§ १३९. द्वित्व वर्ण सरलीकृत होकर एक वर्ण रह जाता है और इसकी क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं। यह नव्य आर्य भाषाओं की बहुत प्रचलित प्रवृत्ति है। कार्य > कज्ज > काज, दर्दुर > दद्दुर > दाद्दुर, वल्गा > वग्ग > वाग या वाग, क्रियते > किज्जइ > कीजइ आदि।

§ १४०. स्वरभक्ति-उच्चारण सौकर्य के लिए संयुक्त व्यंजनों के टूटने के बाद उनमें स्वर का आगम होता है, यह प्रवृत्ति न केवल रासो की भाषा में है बल्कि मध्यकाल की ब्रज, अवधी आदि सभी में समान रूप से दिखाई पड़ती है। यत्न > जतन, दुर्दैव > दुरदेव, पूर्ण > पूरन, वर्ण > वरन, वर्ष > वरस, स्वप्न > सपना, शब्द > सबद, स्पर्श > परस, द्वार > दुवार, दर्शन > दरसन आदि।

रूप-तत्त्व—

§ १४१. ब्रजभाषा में बहुवचन में कर्ता, कर्म, करण आदि में न, नि विभक्ति का प्रयोग होता है, परिवर्तित रूप में 'यन' भी मिलता है (देखिये ब्रजभाषा §१५०) रासो की भाषा में ऐसे रूप प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। मीनन्नु मुत्ति, सखियनु, दरवलनि, सुरंधनि, करण में राजनु (—सम्मनवहिं) आदि।

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता। ब्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है। बीम्स ने रासो का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, बालप्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता-करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देखा। इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोड़कर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के पिंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता। किन्तु रासो में अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है। करण में सूं, सों यथा **लक्ख सों मिरे, राज सूं कहइ**। करण में ते का प्रयोग भी हुआ है। यह ते ब्रज में तैं' के रूप में दिखाई पड़ता है, **पानि ते मेरु ढिल्ले**। सम्प्रदान में लगि या लग्गि तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं **(१) जीव लगि छंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो**। ब्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (ओर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लगि का प्रयोग परवर्ती ब्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक ब्रज (१४००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

१—कवि को मन स्तउ २—पृथीराज कउ ३—रोस कैं दरिया आदि। अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्झ>मज्झ>माझ, मह माझारि आरि कई रूपों में मिलता है।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासो की भाषा बहुत घनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पड़ते हैं।

हौं, मैं—तो हौं छंडों देहि, मैं सुन्या साहिबिन अंप कोन
मो, मोहि—कह्यौ मोहनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक
मेरे, मेरी—मेरे कछु राय न व्यावहु, मेरी अरदासि
हम, हमारी—हम मरन दिवस हैं मंगलीक, आल्हा सुनो हमारी बानीय

इसी प्रकार तुमं, तुम्ह, तुम्हह, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। ब्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण ये साधित रूप हैं जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है। जाको देहन होई, मैं जाको साधित रूप है। इसी तरह ता को, ता सौं, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं। सर्वनामों की दृष्टि से रासो की भाषा बिल्कुल ब्रज कही जा सकती है।

§ १४४. वर्तमान में तिङन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास ब्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत पैंगलम् की तरह। झलकन्त कनक (कनक झलकता है) राइ अप्पंत दान (राजा दान अर्पता है) यह पिंगल और प्राचीन ब्रज की अपनी विशेषता है। भविष्य में—स—वाले रूपों के साथ ही—इ—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं। मिट्टिहै, जानिहै, मानिहै आदि रूप ब्रज के समान ही है। निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप स्त्रीलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं। क्रियार्थक संज्ञा ण—प्रत्यय के योग से बनती है। ब्रज की तरह ही, दिक्खण, चाहण, आदि जो उकारान्त होने से देखनो, चाहनो आदि ब्रजरूप ले लेते हैं।

§ १४५. भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं। भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग संभव है। वैसे ये गतः>ग बने प्रतीत होते हैं।

(१) फरिग देव दिग्गन नगर
(२) गहि छोरि दरिग्गन फिरिग
(३) उभय सहस हय गय परिग

संयुक्त क्रिया के प्रयोग भी मिलते हैं जो प्रायः ब्रजभाषा जैसे ही हैं। प्राचीन शौरसेनी के प्रभाव से (कधिन>कधिदो) आदि की तरह-ध-प्रधान कुछ रूप दिखाई पड़ते हैं। कीधौ (कियौ) लीधौ (लियौ) आदि। न, ध, त कृतप्रत्ययान्त रूप हैं जो संस्कृत में भी किसी न किसी रूप में हैं—दीन, हीन क्षीर्ण, शीर्ण, दुग्ध, मुग्ध, दग्ध, लब्ध, कृत, हृत, कथित।

(१) पर दीधी दुंदा नरिंद
(२) प्रथिराज ताहि दो देस द्दिद्ध
(३) पुत्री पुत्र उछाह दान मान धन दिद्धिय
(४) अहि थन मनि लिद्धिय

इस प्रकार के रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में बहुत प्रचलित हैं, बाद में प्राचीन गुजराती में भी इनका प्रचलन रहा, ब्रज की आरंभिक प्रद्युम्नचरित, हरिचन्द्र पुराण (१४००–१५००) आदि रचनाओं में इनका प्रयोग मिलता है। ये रूप कबीर, नरहरि तथा केशव की रचनाओं में भी मिलते हैं। बीम्स लिद्ध की उत्पत्ति $\sqrt{}$लभ् से करते हैं। जिसका रूपान्तर लब्ध बनता है, इसी लब्ध से लिद्ध तथा इसी के तुक पर अन्य क्रियाओं के भी ऐसे ही रूप बन गए।

§ १४६. क्रिया विशेषण के रूपों में ओर, कहं, कोंद (एक कोंद करि नेहु-सुर) किंवु, किंधो, के (विभाजक) आदि ऐसे रूप, जो १४ शताब्दी के किसी अपभ्रंश ग्रंथ में नहीं दिखाई देते और जो ब्रजभाषा के अत्यंत प्रचलित अव्यय रूप हैं, बहुत अधिक मिलते हैं।

§ १४७. संख्यावाचक विशेषण, न केवल विविध रूपों के बल्कि भाषा के विकास के कई स्तरों से गृहीत भी नाना प्रकार के दिखाई पड़ते है। अट्ठ, अढ, अट्ठ, आठ, आठ के ये चार रूप प्राप्त होते हैं इसी प्रकार प्रायः सभी पूर्ण संख्याएँ कई रूपान्तरों के साथ प्रयुक्त हुई हैं। अन्य संख्यावाचक विशेषणों के कुछ विचित्र संकेत भी मिलते है जैसे दस + दोइ = १२, दस + तीन = १३, दहतीय = १३, तेरहतीन = १६, दस आठ = १८, चौअग्गानी वीस = २४, तीस पर पांच = ३५, तैंतीसे नौ = ४२, तीसइ विय = ६०, पंचास वीस दो दून घटि = ६४, आदि।

§ १४८. शब्द समूह तो चन्द की स्वच्छन्दता और निरंकुशता का विचित्र नमूना है ही। तद्भव रूपों के नष्ट-भ्रष्ट अतिविकृत रूपों को पहचान सकना भी मुश्किल होता है। देशी शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है वागुर, बंब, अलगार, तिनक्क, माठी, ढोह, छोगा, वेद (रुकावट) गुदरन, औसर, ढीमर, आदि सैकड़ों शब्द इस विभाग में रखे जा सकते हैं। अरबी पारसी शब्दों का भी पूरा हुजूम दिखाई पड़ता है। इक्क, (इक्), इसम (नौकर), फुरमान (फ़रमान), अरदासि (अर्ज़दास्त), मुजरा, कब्बूल, हरवल (हरावल), मीसान, खान, नेज (नेज़ा) तसलीम, कहर, खरगोस, सिकार, बजार, जीन, कोटल (कोतल) गाज़ी, पीर, जहूर (ज़ाहिर होना) आदि बहुत से शब्द इस्तेमाल हुए हैं। यह सही है कि चन्द ने इन शब्दों में भी रद्दोबदल किया है। छन्दानुरोध और उच्चारण-सौकर्य के कारण इन विदेशी

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।[1] चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४९. पृथ्वीराज रासो के अलावा कई अन्य रासो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े और रत्न जड़ित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

भये भट्ट प्रथु यज्ञ ते है सिरोहिया अङ्ग।
वृतेश्वर यदुवंस के नङ्ग पङ्ग दल सङ्ग॥
घोसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते।
दिये सात सौ ग्राम सहर हिंडोन सुहाते॥
सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमे भरि अंबर।
कञ्चन रत्न जड़ाव बहुत दीने जु अडम्बर॥
कुल पूजित राव सिरोहिया यादव पति निज सम कियव।
नृप विजयपाल जू विजयगढ़ साहु ये जू सम्मपियव॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अलवर, भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के कुछ भागोंपर भी अधिकार कर लिया था।[2] पं० मोतीलाल मेनारिया ने इस ग्रंथ को १६०० का बताया है।[3] जबकि मिश्रबंधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमामित करते हैं। इस ग्रंथ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते हैं कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, ढूंढाड़ आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रंथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरंजन है। दूसरे यह कि इस ग्रंथ पर पृथ्वीराज रासो (१८ वीं शताब्दी) और वंशभास्कर (१८९७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है।[4] मेनारिया जी के दोनों तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निर्वाह वंशभास्कर जैसे परवर्ती ग्रंथ में यानी १८ वीं शती के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर जिसे इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरंजन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

१. अरबी फारसी शब्दों की एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्दवरदायी और उनका काव्य, पृ० ३१३-४१।

२. द रूलिंग प्रिंसेज चीफ्स एण्ड लीडिंग परसोनेजेज इन राजपूताना, दूसरा संस्करण, पृ० ११५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३-८४

४. वही, पृ० ८३-८४

अतिशयोक्ति का अनिवार्य प्रयोग है। इसे शैली की सामान्य त्रुटि या विशेषता जो चाहे कह सकते हैं।

विजयपाल रासो की भाषा पिंगल या प्राचीन ब्रज है। मेनारिया जी ने लिखा है कि इस ग्रंथ में सब ५२ छन्द, ८ छप्पय, १८ मोतीदाम, ८ पद्धरि, ६ दोहे और २ चौपाइ मिलती हैं। नीचे कुछ (छन्द—मोतीदाम) अंश उद्धृत किये जाते हैं—

> जुरे जुध यादव पंग मरद्द मही कर तेग चढ्यो रण मद्द
> हंकारिय जुद्ध दुहू दल सूर मनो गिरि सीस जवल्लधरि पूर
> हलौ हिल हांक बजी दल मद्दि, भई दिन ऊगत कूक प्रसिद्धि
> परस्पर तोप वहैं विकराल, गजै सुर भुम्मि सरग्ग पताल
> लगै वर यंत्रिय छत्तिय शुद्ध गिरे भुव भार अपार विरुद्ध
> वहैं भुवबान दरयौं असमान, समंजर खेचर पाव न जान।

नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो हिन्दी साहित्य का बहुचर्चित ग्रंथ रहा है। इसके रचना काल के विषय में बहुत विस्तृत विवाद[1] हो चुका है। नाहटा और मेनारिया इस ग्रंथ को १६ वीं शताब्दी से पहले का निर्मित मानने को तैयार नहीं है। डा० ओझा इसके रचना-काल १२७२ संवत् को प्रमाणित बताते हैं। यद्यपि इस विवाद का कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकल सका है पर विभिन्न प्रतियों के आधार पर डा० गुप्त द्वारा संपादित ग्रंथ १६ वीं से पहले की भाषा की सूचना अवश्य ही देता है। ग्रंथ की भाषा पिंगल के कम राजस्थानी के ज्यादा निकट है।

§ १५०. पिंगल की दृष्टि से श्रीधर व्यास के रणमल्लछन्द का महत्त्व असंदिग्ध है। श्रीधर ईडर के राठौर नरेश रणमल्ल के दरबारी कवि थे। इन्होंने संवत् १४५४ में रणमल छन्द की रचना की[2] जिसमें ईडर नरेश रणमल्ल और पाटण के सूबेदार जफरखां के संवत् १४५४ के युद्ध का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रंथ का संपादन 'प्राचीन गुर्जर काव्य' में रावबहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव बी० ए० ने १९२७ में किया जो गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ।[3] यह बहुत संतोषप्रद संस्करण नहीं है। इधर पुरातत्व मंदिर, जयपुर से मुनि जिनविजय जी के निरीक्षण में इस ग्रंथ का पुनः संपादन हो रहा है। के० ह० ध्रुव ने इस ग्रन्थ का संपादन पूना, डेकन कालेज के सरकारी संग्रह की प्रति के आधार

---

१. बीसलदेव रासो के रचनाकाल के लिए द्रष्टव्य श्री मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, ८१-९१, अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी जनवरी १९४०, पृ० [illegible], तथा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, नागरीप्रचारिणी पत्रिका १९३० पृ० ११५, तथा वर्ष ५४ (२००६ संवत्) पृ० ९१, तथा डा० माताप्रसाद गुप्त सं० बीसलदेव रास, प्रयाग १९५३।

२. के० एम० मुंशी, गुजराती एण्ड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ १०१

३. [illegible] ग्रंथमाला नं० ७, प्राचीन गुर्जर काव्य, १-११ पृ०

पर किया था जिसमें लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है।[1] रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम लसकर लोह रसि लोहइ सासन लक्कि
ईंदरवइ चउसइ चडइ तिम तिम समर कडक्कि ॥४४॥

पंच-चामर

कडक्कि मुंछ मोंछ मेंछ मल्ल मोलि मुग्गरि
चमक्कि चलि रण्णमल्ल भल्ल फेरि संमरि
चमक्कि धार छोडि धान छुण्डि धाडि धग्गडा
पडक्कि पाट पक्कडन्त मारि मारि मग्गडा ॥४५॥

चुपई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि भरि ईडरवइ आइउ
खान खवास खेलि बल धायु, ईडर भडर दुग्ग तल गाहयु ॥४६॥
दम दम कार दद्दाम दमक्कइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमक्कइ
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तर तर तुरक पडइ लरु टुट्टइ ॥४७॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रंगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा बिल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है "भाषा मनोहर है पर शब्दों की तड़ा तड़, पड़ापड़ से जी ऊबने लगता है।[2] तुलसीदास ने भी वीर प्रसंगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१. चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विकार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयंकर विकृति दिखाई पड़ती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालांकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का भद्दा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरबारों की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औक्तिक ब्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जब कि पिंगल ब्रज दरबारों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरसेन प्रदेश की अपनी जन बोली का भी विकास हो रहा था। पिंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इस

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १–२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१४–१५

जन-बोली की आत्मा का आभास मिलता है। किन्तु इसका शुद्ध रूप इससे कुछ भिन्न अवश्य था जो १६वीं शताब्दी में विकसित होकर भक्ति-आन्दोलन के साथ ही एक प्रौढ़ भाषा के रूप में दिखाई पड़ा। १२वीं से १४वीं तक के विभिन्न प्रादेशिक बोलियों का परिचय देनेवाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं यद्यपि इनमें से कोई भी सीधे रूप से ब्रज प्रदेश की बोली से संबद्ध नहीं है, फिर भी मध्यदेश और राजस्थान की बोलियों का विवरण प्रस्तुत करने वाले औक्तिक ग्रन्थों की भाषा के आधार पर ब्रजभाषा के आरम्भिक रूप का अनुमान सहज संभव है। उक्ति ग्रन्थों का जो साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पं० दामोदर का उक्ति व्यक्तिप्रकरण है जिसकी रचना काशी में १२वीं शताब्दी में हुई थी। इस ग्रन्थ के अलावा कुछ प्रमुख उक्ति रचनाओं का पता चला है।[1]

(१) मुग्धावबोध औक्तिक, कर्ता, कुल मंडन सूरि, रचना काल संवत् १४५० वि०
(२) बालशिक्षा „ संग्राम सिंह, रचना काल विक्रमी सं० १३३६
(३) उक्ति रत्नाकर „ श्री साधुसुन्दर गणि, रचनाकाल १६ वीं शती
(४) अज्ञात विद्वत्कर्तृक उक्तीयक, रचनाकाल १६ वीं शती।
(५) अविज्ञात विद्वत्संगृहीतानि औक्तिक पदानि, १६ वीं शती।

उक्ति व्यक्तिप्रकरण को छोड़कर बाकी सभी रचनाएँ राजस्थान-गुजरात में लिखी गई हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनमें पश्चिमी भाषाओं की बोलियों का ही मुख्यतया प्रतिनिधित्व हुआ है।

§ १५३. उक्ति का अर्थ सामान्य या पामरजन की भाषा है। जैसा मुनि जी ने लिखा है कि 'उक्ति शब्द का अर्थ है लोकोक्ति अर्थात् लोकव्यवहार में प्रचलित भाषा-पद्धति जिसे हम हिन्दी में बोली कह सकते हैं। लोक भाषात्मक उक्ति की जो व्यक्ति अर्थात् व्यक्तता 'स्पष्टीकरण' करे—वह है उक्ति व्यक्ति-शास्त्र।'[2] किन्तु इस उक्ति का अर्थ बहुत सीमित बोली के अर्थ में मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि बोली शब्द तो एक अत्यन्त सीमित घेरे के सामान्य अशिक्षित जन की भाषा के लिए अभिहित होता है जब कि इन ग्रंथों के रचयिता इस शब्द से साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न जन-व्यवहार की अपभ्रंश की ओर संकेत करना चाहते हैं।[3] इन

---

१. इन छहों उक्ति ग्रन्थों का संपादन मुनि जिनविजय जी ने किया है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण, सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है। मुग्धावबोध औक्तिक का अंश प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ (अहमदाबाद) में संकलित है। उक्ति रत्नाकर, जिनमें नं० ४ और ५ भी संगृहीत हैं, तथा बालशिक्षा शीघ्र ही राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर जयपुर से प्रकाशित होने वाले हैं। पिछले दोनों ग्रन्थों का मूल पाठ मुझे मुनि जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

२. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० ७

३. देशे देशे लोको वक्ति गिरा भ्रष्टया यया किंचित्।
सा तत्रैव हि संस्कृतरचिता वाच्यत्वमायाति ॥६॥
संस्कृत भाषा पुनः परिवर्त्य प्रयुज्यते सदाऽपभ्रंशभावेव दिश्यत्वं प्राप्नोति। पतिना ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति। उक्ति व्यक्ति प्रकरण, व्याख्या, पृ० १

लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जिस प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणी ही कहलाती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनविजय लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम पूर्वीया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुलीन भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का विवरण ब्रजभाषा के अत्यंत निकट पड़ता है। औक्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब करीब वैसा ही था जैसा प्राकृत पैंगलम् की विकसित भाषा का या पिंगल संबन्धी अन्य रचनाओं की भाषा का, किंतु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों को (व्यंजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं कर सकी वे या तो सन्धि या संकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रंथों में इस प्रकार के हजारों शब्द या पद मिलते हैं जो नई भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रंथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नई प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषतायें भी लक्षित होती हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण से :

§ १५५. १—दूजेण सउं (सौं) सब काहू तूट (त्रुट कलह कर्मणि) उक्ति व्यक्ति ३७।६२

(२) हौं करओं (मैं करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतुहिं दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण कर हिय साल (इ) उक्तिव्यक्ति (३८।१७)

(४) चोर (चोरो) धन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सुऔ (सुआ<शुक) माणुस जेउं (ज्यों) बोल (इ) ५०।२६

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के अन्तिम पत्र त्रुटित हैं इसलिए भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ' कारान्त प्रातिपदिक (प्रथमामें[1]) हउं सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसर्गों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हिं' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चाटुर्ज्या प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं।[2]) स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

1. I am inclined to look upon—o—as a form taken from Western Apabhramsa . . . later strengthened by the similar affix from old Braj.

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp. 40

2. This hi-is a short of made-of-all-work-so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhramsa and form old Braj.

Ukti vyakti Prakrana, Study, pp. 37.

है। यह लोकभाषा की एकदम नई और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति थी क्रमशः प्रभाव अन्य औक्तिक ग्रंथों की भाषा में भी समान रूप से दिखाई पड़ता है।

§ १५५. गितर तरं (उक्ति ४२।८) आगु काज विशेष (४२।६) परा वस्तु (४२।१६) गौरवे मान (४२।२०) ञाग शेष (४२।५) आदि शब्द पहले के अपभ्रंश में इस तरह तत्सम रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकते थे। नीचे तद्भव देशी आदि कई तरह के प्रयोग एकत्र उद्धृत किये जाते हैं—

ओझउ (उक्ति रत्नाकर पृ० ५<उपाध्याय) सनीचर (उक्ति० रत्नाकर ५<शनैश्चर) थाजउ (उ० र० १०<खाद्यम्), चोअ (उ० र० ६<चोद्यम्), आंसू (उ० र० ६<अश्रु) रीसालू (उ० र० ७<ईर्ष्यालु), कांजी (उ० र० ७=कांजी) आपणी भायउ (उ० र० ७< आत्मीय भ्रातः), जूआरय (उ० र० ७<द्यूतकारक), बहिनि (उ० र० ८<भगिनी), राख (उ० र० १०<रक्षा), करवत (उ० र०<करपत्रकम्), मसाण (उ० र० ११< श्मशानम्), बुहारी (उ० र० ११<बहुकरी), चूल्ही (उ० र० ११=चूल्हा,) बीछ (उ० र० १३<वृश्चिक), घोडउ (उ० र०<घोटक), अम्ह केरो (उ० र० १५=हमारो), तुम्ह करेउ (उ० र० १५=तुम्हारो), छाह (उ० र० १५<छाया), झीणउ (उ० र०=झीनो)

इस तरह के करीब डेढ़ हजार शब्द उक्ति रत्नाकर में एकत्र किए गए हैं इन शब्दों के अलावा संख्याओं, क्रियाविशेषणों एवं क्रिया रूपों के प्रयोग अलग से दिए गए हैं। इन क्रिया रूपों में से कुछ अत्यंत महत्व के प्रयोग उल्लेखनीय हैं।

गिणइ (३७<गिणयति), हिंडोलइ (३७<हिंदोलयति),
मांजइ (३७<मार्जति), बूडइ (३८=बूडता है), सूझइ
(३८=सूझता है), ताकइ (४१=ताकता है),
पतीजइ (४२<प्रतीयते), समेटइ (४२=समेटता है),
उदेगइ (४२<उद्वेगयति)।

विक्रमी संवत् १३३६ में रचित संग्राम सिंह के औक्तिक ग्रन्थ बालशिक्षा में कई अत्यंत विशिष्ट देशी क्रियायें एकत्र की गई हैं।[1] झंखइ (झंखता है), चाटइ (चाटता है), वघारइ (वघारता है), फडफडइ (फड़फड़ाता है), कडकडइ (कड़कड़ाता है) बोअइ (प्रतीक्षा करता है), हीडइ (हीड़ता है), फाडइ (फटता है), ओहटइ (हटता है), छेंकइ (रोकता है), हांकइ (हांकता है), फूकइ (फूकता है), मेल्लइ (छोड़ता है), छाटइ (चुनता है,), मांगइ (मागता है) भूतिनिष्ठा के रूप प्रायः सभी 'उ' कारान्त हैं, जो भूत-कृदन्त से निर्मित हुए हैं।

§ १५६. औक्तिक ग्रन्थों की भाषा में बहुत से ऐसे प्रयोग हैं जो १४वीं तक के अन्य प्रामाणिक रचनाओं में नहीं मिलते, ये प्रयोग ब्रजभाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में अपरिहार्य रूप से सहायक हैं।

---

1. प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ, पृ० २१४–२१७ से संकलित

१—प्राचीन ब्रज में संभवतः तीन लिंग होते थे। ग्रियर्सन ने नपुंसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे। उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक संज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलतः नपुंसक था। सोना का नपुंसक रूप उन्होंने 'सोनों' बताया। 'अपनों धन' में अपनों को भी उन्होंने नपुंसक ही माना।[1] संग्रामसिंह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

> लिंगु तीन। पुलिंगु स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु। भलु पुलिंगु, भली स्त्रीलिंग। भलं नपुंसक लिंगु।[2]

यहाँ भी नपुंसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनों या अपनों में। उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं। लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिया गया।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रंश के ग्रंथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणों का पता नहीं चलता जो ब्रजभाषा में पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं और जिनका संकेत औक्तिक ग्रंथों में पहली बार मिलता है लूं>लौं :

> उपरि लूं=ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६
> हेठि लूं =नीचे तक ,, ,, ,,
> तउ>तौ : तौ तहिं उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादौ कर्तरि वर्तमाने शतृशानशौ
(२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादौ कर्मण्यानश्
(३) करणहार, लेणहार देणहार इत्यादौ वर्तमाने तृण तृचौ
(४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादौ अतीते निष्ठा क्वसुकानौ च
(५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादौ क्त्वा
(६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादौ तुम्
(७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादौ कर्मणि तव्यानीयौ
(८) करणहार, लेणहार इत्यादौ भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्ययों से बने रूप ब्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं। करतौ, लेतौ आदि (कर्तरि वर्तमान के) कीजै, लीजै, दीजै (कर्मणि प्रयोग में) करनहार, देनहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, लै, दे, क्रियार्थक संज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करिवो, लेवो, देवो आदि तथा तव्यत् के करिवो, लेवो, देवो रूप ब्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७०
२. बालशिक्षा संज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ, पृ० २०५

४—नीचे उक्ति रत्नाकर से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किये जाते हैं जिनके व्याकरणिक रूप का ब्रजभाषा से साम्य देखा जा सकता है।

(१) श्री वासुदेव दैत्य मारइ (पृष्ठ ७२)

(२) ब्राह्मण शिष्य पाहिं (ब्रज, पै) पोथउ लिखावइ (पृष्ठ ७३)

(३) जु कर्ता प्रथम पुरुष हुइ तु क्रिया प्रथम पुरुष हुइ। जु कर्ता मध्यम पुरुष हुइ तु क्रिया मध्यम पुरुष हुइ। (पृष्ठ ६६)

(४) कुँभार हाँडी घडइ (पृष्ठ १६)

(५) वाछडउ गाइ धायउ (पृष्ठ १८) बछुरो गाइ धायौ

वस्तुतः औक्तिक ग्रंथों की भाषा लोक भाषा की आरंभिक अवस्था का अत्यंत स्पष्ट संकेत करती है। इस भाषा में वे सभी नये तत्व, तत्सम-प्रयोग, देशी क्रियायें, नये क्रिया विशेषण, संयुक्तकालादि के क्रियारूप अपने सहज ढंग से विकसित होते दिखाई पड़ते हैं। यह भाषा १४वीं शती के आस पास मुसलमानों के आक्रमण और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के द्विधा कारणों से, नई शक्ति, और संघर्ष से उत्पन्न प्राणवत्ता लेकर बड़ी तेजी से विकसित हो रही थी, १४वीं के आसपास इसका रूप स्थिर हो चुका था।

ब्रजभाषा का निर्माण

औक्तिक से परिनिष्ठित तक

[वि० सं० १२००–१६००]

§ १५७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्ताविक' में ही संकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता था, इसीलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही संतोष कर लिया गया क्योंकि अव्वल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा अत्यंत विशृङ्खलित और भग्नप्राय थी, दूसरे १४००से१६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही भिन्न भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेषण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था, किन्तु १४००से१६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्टतः बहुत उत्साह नहीं था, वैसे ही उनकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। वहीं कुछ विस्तार

भारत में छा गयी थी, इसमें बहुत बाद तक काव्य रचना होती रही। १८ वीं शती में भी 'वंश भास्कर' जैसे ग्रंथ इसमें लिखे गए, किन्तु यह सर्वमान्य साहित्य भाषा का स्थान खो चुकी थी। इस प्रकार विचारणीय केवल तीन भाषाएं बच जाती हैं, तथाकथित सधुक्कड़ी, पूरबी और ब्रज।

§ १५९. 'पूरबी' शब्द को लेकर कुछ विद्वानों ने बहुत खींच-तान की है। पूरबी का अर्थ भोजपुरी या था अवधी या कुछ और इस पर निर्णायक ढंग से विचार नहीं हो सका है। कुछ लोग 'पूरबी' का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'पूरबी' के बारे में लिखते हैं कि "पूरब दिशा द्वारा उस मौलिक स्थिति (?) की ओर संकेत किया गया है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुभूति नहीं रहती। अतएव कबीर साहब की ऊपर उद्धृत साखी का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना समीचीन होगा।[1] कबीर के शब्द हैं—बोली हमारी पूर्व की। 'पूर्व की बोली' का आध्यात्मिक अर्थ संगत हो सकता है, अर्थात् पूर्वकाल के लोगों ऋषियों या स्वयं परमात्मा की। टीकाकारों ने भी ऐसा अर्थ किया है। हालांकि इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए भी चतुर्वेदी जी ने कबीर की भाषा में अवधी-तत्त्वों के खोज-बीन का प्रयत्न किया है। मुझे लगता है कि 'पूरबी' शब्द कबीर ने जान बूझ कर 'पछाँही' या 'पश्चिमी' से अपनी भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया। 'पूरबी' शब्द 'पश्चिमी' का सापेक्ष्य है, जो इस बात की सूचना देता है कि हिन्दी प्रदेश में दोनों प्रकार की भाषायें प्रचलित थीं। पूरबी का अर्थ साधारणतः वही है जो पूर्वी हिन्दी का है। कबीरदास भाषा के सूक्ष्म भेदों के प्रति अधिक सचेत भले ही न रहे हों किन्तु तत्कालीन सन्तों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा और खड़ी बोली से अपनी निजी बोली का भेद तो वे पहचानते ही रहे होंगे। सम्भवतः कबीर ने सर्वमान्य भाषा यानी ब्रज में अपने पूरबी प्रयोगों का स्पष्टीकरण करते हुए स्वीकार किया कि पूरब का होने के कारण अपनी भाषा 'पूरबी' का कुछ प्रभाव भी आ गया है। वैसे कबीर के कई पद भोजपुरी या अवधी में भी दिखाई पड़ते हैं। रमैनी की भाषा में अवधी का प्रभाव स्पष्ट है। दोहे चौपाई में लिखी अवधी रचनाओं का कबीर के समय तक काफी प्रचार हो चुका था। 'नूरकचन्दा', 'हरिचरित्र' जैसे काव्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे और उनका काफी प्रचार था। पूरबी का अर्थ भोजपुरी ही है। जिन पदों में भोजपुरी-प्रयोग हैं वे कितने प्राचीन है, यह कहना कठिन ही है। बीजक में ही यह अधिक मिलता है। बीजक सत्रहवीं शताब्दी में धनौती (छपरा) मठ से प्रथम प्रचलित हुआ। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

§ १६०. तथाकथित सधुक्कड़ी और ब्रज पर हम साथ-साथ विचार करें तो ज्यादा समचीन होगा। खड़ी बोली और ब्रज के उद्गम, विकास और पारस्परिक सम्बन्धों पर बहुत विवाद हुआ है। परिणामतः इनकी विभिन्नता को उचित से ज्यादा महत्त्व दिया गया और १८वीं शताब्दी के अन्त में इनके समर्थकों में काफी वाद-विवाद भी हुआ। खड़ी बोली और ब्रज दोनों ही पड़ोसी बोलियाँ हैं इसलिए इनमें समता ज्यादा है, विभिन्नता कम। दोनों के उद्गम और विकास के स्रोतों का सही अभिज्ञान उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करता है।

---

१. कबीर साहित्य की परख, संवत् २०११, पृ० २१०

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों में ही दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी और खड़ी बोली की प्रारंभिक प्रवृत्तियों की सूचना देनेवाले भाषा-तत्त्वों का प्राचुर्य है, कुछ ब्रज की ओर ज्यादा उन्मुख हैं। यह विभेद बहुत स्पष्ट नहीं है, फिर भी खड़ी बोली और ब्रज की मूल विशेषताओं के आधार पर इनका विश्लेषण किया जा सकता है। खड़ी बोली और ब्रज की विभिन्नता दर्शाने वाले मुख्य विभेदक तत्त्व ये हैं।

१—भूत काल की क्रियाओं में खड़ी बोली के रूप आकारान्त होते हैं जबकि ब्रज के ओकारान्त। वर्तमान काल में खड़ी बोली की क्रियाएँ कृदन्त और सहायक क्रिया के योग से बनती हैं जबकि ब्रज क्रियाएँ प्रायः प्राचीन तिङन्त रूपों से विकसित हुई हैं।

२—सर्वनामों में खड़ी बोली के *जिस, तिस, उस* आदि रूपों से भिन्न ब्रजभाषा में इनके साधित रूप जा, ता, या आदि बनते हैं जिनसे जाको, ताको या वाने आदि रूप निर्मित होते हैं।

भूतकाल की क्रिया के ओकारान्त या आकारान्त की विभिन्नता पर बहुत जोर दिया गया। *डा० चाटुर्ज्या ने लिखा कि ब्रजभाषा के साधारण पुलिंग संज्ञा शब्द तथा विशेषण-*ओ या आकारान्त होते हैं जबकि दूसरे समूह में ये शब्द आकारान्त होते हैं।[1] इस कथन पर हम पीछे विचार कर चुके हैं और *मिर्जा खाँ का हवाला* भी दे चुके हैं कदुवा तथा कदूवो और बेटा तथा बेटो दोनों ही रूप ब्रज में चलते थे (देखिये §११६)। आज भी ब्रजभाषा प्रदेश में घोड़ो नहीं बोला जाता। साहित्यिक ब्रजभाषा में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। यद्यपि इस अन्तर को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विभेदक-तत्त्व मानें और इसी दृष्टि से हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा को देखें तो उसमें भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ मिलेंगी।

(१) ढोल्ला मइं तुहुँ वारिया माँ कुरु दीहा माण
(२) *गरुआ भर* पिक्खेवि
(३) *अग्गिण दड्ढा जइवि घरु*
(४) भल्ला हुआ जो मारिया बहिणि म्हारा कन्त
(५) विसमा संकडु एहु

इन पंक्तियों में दोहा, गरुआ, भल्ला, विसमा आदि विशेषण, हुआ, वारिया, दड्ढा, मारिया आदि भूतनिष्ठा के रूप, आकारान्त हैं। ओ-कारान्त प्रयोगों के उदाहरणों की आवश्यकता नहीं मालूम होती क्योंकि इनके मूल रूप अ + उ के प्रयोग इन दोहों में हर पंक्ति में मिल जाते हैं।

§ १६१. *यह स्थिति मूल शौरसेनी में ही वर्तमान थी। यह सत्य है* कि इस प्रकार की भाषास्थिति के मूल में कुछ कारण अवश्य रहे होंगे जिन्होंने इस प्रकार के अन्तर को और *बढ़ावा दिया। प्रारंभिक अपभ्रंश में आ-कारान्त और ओ-कारान्त क्रियाओं का* इतना बड़ा अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। गुजराती, राजस्थानी, ब्रजभाषा तीनों में ही भूतकालिक निष्ठा रूप ओकारान्त है जब कि खड़ी बोली में आकारान्त। शौरसेनी अपभ्रंश के इन दोहों का कोई

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १८४

स्थानगत संबंध नहीं मालूम हो पाया है लेकिन संभवतः इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पंजाब के पास वाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली की आकारान्त-प्रवृत्ति का मूल कारण पंजाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पंजाबी भाषा की आ-कारान्त प्रवृत्ति कही जा सकती है। डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि किसी कारणवश दिल्ली में विकसित नई भाषा (खड़ी बोली) पर पंजाबी-बांगरू जनपद हिन्दुस्तानी का संमिलित प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।[1] चाटुर्ज्या ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यंजन-सुरक्षा को भी पंजाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पंजाबी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अपभ्रंश की कई प्रवृत्तियाँ सामान्य वर्तमान के तिङन्त रूप सविभक्तिक पद (खड़ी बोली में केवल परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घरहिं, द्वारे, मधुपुरिहिं आदि, व्यंजन द्वित्व की सरलता की ओर झुकाव, उकारान्त क्रिया और संज्ञा तथा विशेषण रूप को ब्रजभाषा ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया इसके विपरीत पंजाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२. खड़ी बोली के इसी प्रारम्भिक रूप को जिसमें अपभ्रंश के बीज विन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पंजाबी प्रभावों को भी समेटे हुई थी, और दिल्ली के आस-पास की बोली होने के कारण जिसे मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रोत्साहन मिला, संतों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने संदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आकस्मिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामयिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६ वीं शताब्दी तक गँवारों की ही भाषा समझी जाती थी। खुसरो ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिका' नामक कृति में खुसरो ने लिखा है: यह मेरी गलती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि हिन्दी पारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, यह भाषाओं की मलका अरबी से थोड़ी हीन लग सकती है पर राय और रूप में जो जबान चलती है वह हिन्दी से हीन है।[2] जाहिर है कि खुसरो की हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका साफ मतलब ब्रजभाषा या अपभ्रंश से था क्यों कि भारतीय सांस्कृति परंपरा का विकास इसी भाषा में हो रहा था। खुसरो के इस कथन को दृष्टि में रखकर डा० सैयद महीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दोस्तान के हर हिस्से में अज़ीमुश्शान लासानी इन्क़िलाबात हो रहे थे और नई ज़बानें आलमें वुजूद में आ रही थीं। चुनांचे खुसरो ने भी इन तब्दीलियों की तरफ़ इशारा किया है और पंजाब में और देहली के अतराफ़ व अकनाफ़ जो बोलियाँ उस वक्त मुरव्विज थीं उनके मुख्तलिफ़ नाम गिनाए हैं। इनकी ज़बान (खुसरो की) ब्रजभाषा से मिलती जुलती है। यह यक़ीन के साथ

---

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १८५

2. The History of India as told by its own Historians by Henery Illot Vol. 3, P.P. 556

को तथा परवर्ती मीर को भी इसी रेख़ते का उस्ताद कहा है। रेख़ता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्खिनी का पुराना कवि ख्वाजा बन्दानवाज गैसूदराज़ मुहम्मद हुसेनी है (१३१८–१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल आशकीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनायें मिलती हैं जिनमें मुहम्मदकुली कुतुबशा, इब्ननिशाती, शेखसादी आदि काफी प्रसिद्ध हैं।[1]

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दों में 'सधुक्कड़ी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायँ, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के विनाश के समय शैव हो गये थे।[2] गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।[3] यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल सांकृत्यायन उनका काल पालवंशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०६-४६ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।[4] इस प्रकार गोरखनाथ को वे नवीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।[5] डा० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ का समय संवत् १०५० माना है और डा० फर्कुहर उन्हें १२५७ संवत् का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनुसन्धित्सु विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी (जोगेसुरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अवश्य किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे लिपिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

---

१. देखिए—दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद
२. इनसाइक्लोपीडिया आव रेलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३२८
३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ३२९–३३०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९६

नहीं कहा जा सकता कि जिस जबान में यह शाअर गोई करता था वह वही थी जो आम तौर पर हिन्दू मुसलमान बोलते थे।"[1] कादरी साहब के ये विचार उपयुक्त हैं क्यों कि आम तौर पर दिल्ली में बोली जाने वाली हिन्दू और मुसलमानों की बोली को गुसरो फारसी के बराबर दर्जा नहीं दे रहे थे क्यों कि उसको तो १६वीं शताब्दी में भी यह दर्जा प्राप्त नहीं था और मुसल्मानों से प्रेरित यह भाषा बाबर के काल तक गँवारू ही मानी जाती थी। हिन्दुस्तानी के बारे में हाब्सन-जाब्सन का यह उद्धरण देखिए–[2]

"इसके बाद उन्होंने (टॉम कोरिएट) इन्दोस्तान अथवा गँवारू भाषा में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली। श्री राजदूत महोदय के निवास गृह में एक ऐसी वाचाल महिला थी जो सुबह से शाम तक टांटपट किया करती और अंट-शंट बकती रहती। एक दिन उन्होंने उसी की भाषा में उसकी बुरी गत बनाई और आठ बजते बजते उसका बोलना मुहाल कर दिया।'

१६०० ईस्वी तक हिन्दुस्तानी को यही दर्जा प्राप्त था यानी गँवारू बोली का। मैं उर्दू हिन्दी, हिन्दुस्तानी के विवाद में नहीं जाना चाहता, किन्तु इतना सत्य है कि खड़ी बोली को साहित्य की भाषा बनाने का कार्य मुसलमानों ने ही किया क्योंकि हिन्दू अपनी शुद्ध परंपरा-प्राप्त भाषा संस्कृत या ब्रजभाषा में ही अपना सांस्कृतिक कार्य करते थे। मुसलमान विजेताओं के विस्तार और उत्तर भारत के प्रमुख शहरों में उनके प्रभाव के कारण इस नई भाषा का प्रचार तेजी से होने लगा था। इसलिए संक्रान्तिकालीन संत, जिनमें अधिकांश मुसलमानी संस्कृति से किसी न किसी रूप में प्रभावित थे इसी का सहारा लेने को बाध्य थे। इस नई भाषा का कोई ठीक नाम न था। समय समय पर हिन्दी, दक्खिनी, रेखता, उर्दू इसके विभिन्न नाम हुए। जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी के दो भेद स्वीकार किये। बोलचाल की हिन्दुस्तानी, साहित्यिक हिन्दुस्तानी। साहित्यिक हिन्दुस्तानी की उन्होंने चार शैलियां मानीं उर्दू, रेखता, दक्खिनी और हिन्दी।[3] इन चारों नामों में भाषा की दृष्टि से रेखता शब्द का प्रयोग सबसे प्राचीन है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या रेखता का अर्थ 'विकीर्ण प्रयोग' मानते हुए लिखते हैं 'तब की भाषा पश्चात्कालीन उर्दू की तरह फारसी से बिल्कुल लदी हुई न थी। फारसी के शब्द अपेक्षाकृत कम संख्या में मिलाये जाते थे। एक पंक्ति में कहीं-कहीं छितरे हुए (रेखता) रहते थे। इसीलिये आधुनिक उर्दू-हिन्दुस्तानी पद्य की भाषा का आद्य रूप रेखता कहलाता था। १५ वीं शती के कबीर के ही नहीं १२ वीं १३ वीं शती के बाबा फरीद के पद्य भी रेखता कहकर पुकारे जा सकते हैं। इस दृष्टि से वली की अपेक्षा बाबा फरीद को 'बाबा-ए-रेखता' कहना अधिक उपयुक्त जंचता है।[4] गालिब ने अपने

---

१. उर्दू शहपारे, जिल्द १. पृ० १०

2. After this he (Tom coryate) got a great mastery in the Indostan or mor vulgar lsnguage. There was a woman a landress belonging to my lor Ambassador's house hold who had such a freedom and liberty of speech that she would sometimes scould, brawe and rail from the sun rising to the sun set. one day he undertook her in har own language and by eight of the clock he so silenced her that she had not one word to speak.
Tery extracts Relating to T. C. (Hobson-Jobson P.P. 317).

3. Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part I, page 46.

४. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १०१-२०१

को तथा परवर्ती मीर को भी इसी रेख्ते का उस्ताद कहा है। रेख़ता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्खिनी का पुराना कवि ख्वाजा बन्दानवाज मैयुदराज़ मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८-१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनायें मिलती हैं जिनमें मुहम्मदकुली क़ुतुबशा, इब्ननिशाती, शेखसादी आदि काफी प्रसिद्ध हैं।[1]

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दों में 'सधुक्कड़ी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायँ, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के विनाश के समय शैव हो गये थे।[2] गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।[3] यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल सांकृत्यायन उनका काल पालवंशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०९-४९ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।[4] इस प्रकार गोरखनाथ को वे नवीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।[5] डा० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ का समय संवत् १०५० माना है और डा० फर्कुहर उन्हें १२५७ संवत् का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनुसन्धित्सु विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी (जोगेसुरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अवश्य किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे लिपिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

---

१. देखिए—दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद
२. इनसाइक्लोपीडिया आव रेलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३२४
३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ३२९-३३०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५९
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९६

(१) ना जाने गुरु कहाँ गेला मुझ नींदड़ी न आवै (१३६।३)

(२) उदै माहि अस्त हेत माहि पवन मेला
    बोलिले हमिया निज साइ गेला (२१।२८)

(३) पाइलेहि आकार निराकार होइसि (१६१।४०)

(४) अकथ कथिले कहाणी

(५) गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला
    गुरु बिनु ज्ञान न पाईला रे भाइला (गो० बा० पृ० १२८)

पूर्वी प्रयोगों के आधार पर कोई गोरखनाथ का सम्बन्ध पूर्वी प्रदेश से जोड़े तो उसे नीचे के वाक्यों में घोर राजस्थानी प्रभाव भी देखना चाहिए—

गोरष बालदा बोलै सतगुरु वाणी रे
जीवतो न पराया तेन्हूँ अगिनि म पाणी रे
पीलो दूझे भेमि विरोलै सासूड़ी पाढवड़ै बहुंडी हिंडोलै
कोप मोरी भाग्यो बास्यो गगन मथुलड़ी वगलौं मास्यो। १५५।६०

यह पूरा पद राजस्थानी से रंगा हुआ है। इस तरह और भी बहुत से प्रयोग छाँटे जा सकते हैं। किन्तु इन प्रयोगों के बावजूद भाषा का खड़ी बोली ढाँचा स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

(१) गगन मंडल में गाय वियाई कागद दही जमाया
    छाछि छांडि पिंडता पानी सिधा माणस खाया (६६।१८६)

(२) अवधू हिरदा न होता तब अकुलान रहिता सबद गगन न होता तब अंतरष रहिता चंद (१८८।२८)

(३) आकास की घेनु बछा जाया, ता धेन के पूछ न पाया (१४७।२१)

(४) गुदड़ी में अतीत का वासा, भणत गोरष मछींद्र का दासा (६६।१८७)

गोरख नाथ की रचनाओं में इस सधुक्कड़ी भाषा के साथ काव्य की भाषा ब्रजभाषा का भी प्रयोग कम नहीं हुआ। उनका एक ब्रज पद नीचे दिया जाता है।

त्रिभुवन डसति गोरख नाथ डीठी
        मारो सपणीं जगाई ज्यौं भौंरा
जिन मारी सपणीं ताको कहा करै जौंरा
        सापणीं कहै मैं अबला बलिया
ब्रह्मा विस्न महादेव छलिया
        मार्ता मार्ता सपनी दसौ दिसि धावै
गोरषनाथ गारुड़ी पवन वेगि ल्यावै।

(१३७।४५)

गोरखबानी में संकलित रचनायें यदि प्रामाणिक मानी जायें तो हम कह सकते हैं कि गोरखनाथ की भाषा खड़ी बोली का आरम्भिक रूप है जो अभी संक्रान्तिकाल से गुजर रही थी जिसमें स्थिरता नहीं आई थी और यह स्थिरता इस भाषा को आगे की कई शताब्दियों तक नहीं प्राप्त हुई क्योंकि इस भाषा के विकास के पीछे पूरे मध्यदेश के जन-मानस का योग दान

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का संकेत करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। संतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी ओजस्वी उपदेशों, रूढ़िखंडन, पाखंड-विरोध या उसी प्रकार के अन्य परंपरा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित खड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली की ब्रजभाषा में करते थे। रेख़ता या खड़ी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धों की नामावली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईपा और मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से संबद्ध बताती हैं।[1] मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० बागची ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरंजन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिसका रचनाकाल ११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोधपुर की किसी प्रति में प्राप्त किए थे। इन दो पदों में से एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग धनाश्री

पखेरू ऊडिसी आय लीयो वीसराम
ज्यों ज्यों नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
जल कूं चाहे माछली घण कूं चाहे मोर
सेवग चाहे राम कूं ज्यों चितवत चन्द चकोर ॥ १ ॥
यो स्वारथ को सेवड़ो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविंद किरपा करी म्हारो मन वो समायो आय ॥ २ ॥
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास।
तत निरंजण पाइय कहै मछन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्पटी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पंचमेल यानी रेख़्ता है। डा० मल्लिक ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अंश लिया गया है वह संवत् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६

हिन्दुस्तानी का मिश्रण कहा है। जो ठीक नहीं लगता। यह ब्रजभाषा में लिखी रचना है। वैसे मुझे इसकी प्राचीनता पर सन्देह है। एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है।[1]

"आगे मत्स्यनाथ असत्य माया स्वरूपमय काल ताको खंडन कर महासत्य तें सोभत भयो। आण निर्गुणातीत ब्रह्मनाथ ताकूं जानै यातै आदि ब्राह्मण सूक्ष्म देवी। ब्राह्मण वेद पाठी होतु है, ऋग यजु साम इत्यादि का इनके सूक्ष्म भेद कहिये। ब्राह्मण बहिवे में चतुर वर्ण को गुरु भयो अरु इहाँ च्यारों आश्रम को समाबेस गये होय है याते ही अत्याश्रमी आश्रमन केई गुरु भयो। सो विशेष करि शिष्य पद्धति में कह्यो ही है। तात्पर्य भेदा-भेद रहित अविरल वासना युक्त जीव होयते तो कुल मार्ग करियौ में आवतु है। अरु समस्त वासना रहित भये हैं अतः करण जिनके ऐसे जीवन जोग भजन में आवतु हैं।" यह भाषा १३ वीं के पहले की गद्य भाषा नहीं मालूम होती। उक्त व्यक्ति प्रकरण की भाषा को दृष्टि में रखकर विचार करें तो स्पष्ट मालूम होगा कि यह परवर्ती शैली है किसी ने बहुत पीछे खड़ी बोली की गद्य शैली की चेतना और प्रेरणा लेकर इस गद्य का निर्माण किया है।

§ १६६. इस प्रकार सधुक्कड़ी या खड़ी बोली के प्रचार में आने और कवियों द्वारा उसके स्वीकृत होने के पहले से ब्रजभाषा में काव्य-रचना के संकेत मिलते हैं। खड़ी बोली को कविता की भाषा के उपयुक्त तो बहुत बाद में माना गया। खड़ी बोली की विजय कविता की भाषा के रूप में १६वीं शताब्दी की घटना है, किन्तु ब्रज से उसका युद्ध बहुत पुराना है। १२वीं शताब्दी संक्रान्तिकाल में इस संघर्ष का आरम्भ हुआ। नई भाषा को मुसलमानी आक्रमण के साथ ही कई राजनैतिक कारणों से प्रोत्साहन मिला और यह उन्हीं के द्वारा प्रचारित प्रसारित भी हुई, इसीलिए भारतीय संस्कृति के पोषक लेखक-कवि इसे स्वीकार नहीं कर सके। १४ वीं १५ वीं शताब्दी का संत-आन्दोलन भारतीय वैधी भक्ति परम्परा का विरोधी था, उस काल में सन्तों ने इस नई भाषा को स्वीकार किया, कुछ तो अपने उपदेशों के प्रचार के लिए, लेकिन ज्यादा इसीलिए कि वे शिष्ट वर्ग की साहित्यिक भाषा से वाकिफ नहीं थे। उसकी साहित्यिक विशेषताओं को पूर्णतः प्राप्त कर सकना न उनके लिए संभव ही था और न तो साहित्यिक वैशिष्ट्य की उपलब्धि उनका उद्देश्य ही था। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के इस सम्पर्क को ठीक पहचान न सकने के कारण कई प्रकार की भ्रान्तियाँ हुई हैं। बहुत से लोगों ने खड़ी बोली को ब्रजभाषा से उत्पन्न माना। मुहम्मद हुसेन आजाद ने अपने आबेहयात में लिखा कि हमारी जबान (उर्दू) ब्रजभाषा से निकली है।[2] बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी भाषा की भूमिका प्रस्तुत करते हुए बताया कि वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्म भूमि दिल्ली है, वहीं ब्रजभाषा से यह उत्पन्न हुई, और वहीं इसका नाम हिन्दी रखा गया। आरम्भ में नाम रेख़्ता था, बहुत दिनों तक यही नाम रहा, पीछे हिन्दी कहलाई।[3] एक तरफ ब्रज के समर्थक खड़ी बोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा से दिखाते हैं, जो उचित नहीं है तो दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी लोग हैं जो ब्रजभाषा को सदा के लिए भुला देने का उपदेश देते हुए कहते हैं। 'हिन्दी कवि'

---

१. वही, मत्स्येन्द्रनाथ का पद, पृ० ७१

२. आबेहयात, पृ० ६

३. हिन्दी भाषा की भूमिका

और भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य-भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य ग्रन्थों में किसी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।'[1] 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खड़ी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए। ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृंखला में विकसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की बानियों के रूप में संकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, यह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उत्तराधिकारिणी और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्य-प्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु प्राकृतपैंगलम् की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोपाल नायक आदि संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोक गीतों के ढंग का ही होता है। देशी भाषा के संगीत की चर्चा तो बृहद्देशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी।

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रुच्यते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बड़ा मान था और राजपूत रजवाड़ों का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं, यही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिट-पुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नाथों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोरख बानी में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिलित। नाथों के बाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४९२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू सुदूर पूरब में असम के शंकरदेव (दे० § ४२७-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था।

---

1. हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा, पृ० ५०

पदों के अलावा इस काल में और भी कई प्रकार के काव्य-रूपों के माध्यम से साहित्य लिखा गया। चरित, मंगल, रास, प्रेमाख्यान, बेलि, आदि काव्य रूपों में कई प्रकार की साहित्य-सृष्टि हुई। इसका परिचय आगे दिया गया है।

§ १६८. इस काल के बहुत से कवि ग्वालियर से संबद्ध थे। श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'मध्यदेशीय भाषा' में इसी आधार पर ये तर्क दिये हैं–

(१) मध्यकालीन काव्य-साहित्य की भाषा केवल ब्रज के संकुचित क्षेत्र में बोली जाने वाली ब्रजभाषा न होकर, वह मध्यकालीन हिन्दी है जो मेवाड़, दिल्ली, कन्नौज, आगरा और बुन्देलखंड आदि प्रदेश में बोली जाती है। इस भाषा का जन्म ग्वालियर में हुआ, इसलिए इसे ग्वालियरी कहना चाहिए (पृ० ६६)।

(२) हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल और डा० धीरेंद्र वर्मा प्रभृति साहित्य-मर्मज्ञों ने मध्यकालीन काव्य-साहित्य की भाषा को ब्रजभाषा कहा है जो उनके मत से ब्रज के आस-पास बोली जानेवाली भाषा के टकसाल में ढाली गई है (पृ० ६-७)।

(३) किन्तु ११वीं से १५वीं तक जो हिन्दी बुन्देलखंड में विकसित हुई वही १६वीं १७वीं १८वीं शताब्दी में कवियों द्वारा अपनाई गई, इसलिए इसे ब्रज की संकुचित सीमा में बांध देना ठीक नहीं (पृ० ६-७)।

(४) ग्वालियरी भाषा के स्थान पर ब्रजभाषा प्रचार के पीछे मुगलों का बुन्देलखंड के राजवाड़ों से द्वेष तथा वृन्दावन के गोस्वामियों के प्रति अनुराग मूल कारण था (पृ० ११५)। द्विवेदी जी ने यदि ब्रज के कुंभनदास या सूर और ग्वालियर के विष्णुदास, मानिक या बैजनाथ जैसे कवियों की भाषाओं की तुलना करके, उसका मथुरा या ब्रजमंडल की बोली से पार्थक्य दिखाया होता तो संभव है उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मत पर शंका करने की कुछ गुंजायश होती। केवल इसी आधार पर कि ये कवि ग्वालियर के हैं इसलिए इनकी भाषा 'ग्वालियरी' मानी जाये, बहुत युक्तिपूर्ण तर्क नहीं मालूम होता। 'ग्वालियरी भाषा' शब्द का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है, हालांकि कोई भी प्रयोग १७वीं शताब्दी के पहले का नहीं है। ग्वालियरी भाषा का प्राचीनतम प्रयोग 'हितोपदेश' नामक ग्रंथ में बताया गया है जिसे द्विवेदी जी बकौल अगरचंद नाहटा १५वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। किन्तु हितोपदेश में न रचना काल दिया है और न लिपिकाल। फिर श्री नाहटा ने न तो इस ग्रंथ की भाषा का विश्लेषण किया न कोई ऐतिहासिक अन्तर्साक्ष्य दिया, केवल यों ही कह देने से तो यह १५वीं शताब्दी का ग्रंथ नहीं हो जायेगा। दूसरा प्रयोग कवि पृथ्वीराज की बेलि पर १६२६ ईस्वी में कविवर समय सुन्दर के प्रशिष्य जयकीति की लिखी टीका में मिलता है जिसमें जयकीर्ति अपने पूर्ववर्ती टीकाकार गोपाल का उल्लेख करता है और कहता है कि उसकी टीका ग्वालियरी भाषा में थी, किन्तु गोपाल अपनी भाषा को स्वयं क्या कहता है ?

मरुभाषा निरजल तजि करि ब्रजभाषा चोज
अब गुपाल यातैं लहैं सरस अनूपम मौज

इस तरह द्विवेजी जी की 'ग्वालियरी भाषा' नाम का दूसरा स्तंभ भी टूट जाता है जो गोपाल की भाषा ग्वालियरी मान कर बनाया गया, जिसे गोपाल ने स्वयं ब्रजभाषा कहा।

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंडन में वल्लभ संप्रदाय से मुगलों के साँठगाँठ का जो जिक्र किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के अनुराग या वल्लभ संप्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-श्रद्धा की बात तो समझ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में वल्लभ संप्रदाय को मुगलों ने सहायता दी—यह बात बिलकुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पड़ा करते। शूरसेन के आधार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिए यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ १६६. ईस्वी १६७६ में मिर्जा खां ने ब्रजभाषा का जो व्याकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

'मथुरा से ८४ कोश के घेरे में पड़ने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।' इस कथन के बाद पत्र संख्या १६५ ख पर मिर्जा खां इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोपभेदों में ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

(१) परिनिष्ठित ब्रज—चल्यो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
(२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्यो
बुलन्दशहर
(३) परिनिष्ठित ब्रज नं० ३ चलो
पूर्वी आगरा, धोलपुर ग्वालियर
(४) कन्नौजी—चलो
एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
(५) बुन्देलखण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
(६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्यो
भरतपुर, डाँग बोलियाँ
(७) राजस्थानी ब्रज नं० २ मेवाती—चल्यो
गुड़गाँव
(८) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि 'हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

हुई, यह बंगाल की देन है। उस समय काव्य भाषा की टकसाल कहीं अन्यत्र थी वह उस प्रदेश में (ग्वालियर में) थी जिसे डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रन्थ ब्रजभाषा में ब्रजभाषा क्षेत्र से बाहर बताया है।[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने समूचे ग्वालियर को ब्रजक्षेत्र से बाहर नहीं बताया है। भारतीय भाषाओं का जो सर्वेक्षण डा० ग्रियर्सन ने प्रस्तुत किया उन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर भाषाओं के क्षेत्र का निर्धारण हुआ है। डा० ग्रियर्सन उत्तर पश्चिमी ग्वालियर को ही ब्रजक्षेत्र मानते हैं, तथा यहाँ की भाषा को वे परिनिष्ठित ब्रज स्वीकार करते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ग्वालियर को ब्रज क्षेत्र में तो रखा ही है, उन्होंने ब्रज बोलियों का अध्ययन करने के लिए ग्वालियर से भी सामग्री एकत्र कराई थी।[2]

§ १७०. श्री द्विवेदी की ही तरह कुछ और विद्वानों को यह गलतफहमी हुई है कि ब्रजभाषा का नामकरण बंगाल की देन है और 'ब्रजबुलि' के आधार पर मथुरा की भाषा को बाद में ब्रजभाषा कहा जाने लगा। ब्रजभाषा शब्द का बहुत पुराना प्रयोग नहीं मिलता। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि निश्चित रूप से ब्रजभाषा का उल्लेख १८ वीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। इसी प्रकार के निष्कर्षों को देखते हुए कुछ लोग सोचते हैं कि १८ वीं शताब्दी में अचानक 'ब्रजभाषा' का नामकरण किया गया और उसे बंगाल की देन समझने लगते हैं। ब्रजभाषा को पुराने लेखक 'भाषा' कहा करते थे। मिर्जा खाँ ने भी संस्कृत, प्राकृत के बाद 'भाखा' ही नाम लिया है। लगता है 'ब्रजभाखा' शब्द पुराना था। संक्षेप में लोग 'भाखा' कहा करते थे। 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग भी १८ वीं शताब्दी के पहले से होने लगा था। संवत् १६४४ में लिखी गोपाल कृत रसविलास टीका में 'ब्रजभाषा' का प्रयोग हुआ है।

मरुभाषा निरजल तजी करि ब्रजभाषा चोज
अब गुपाल यातें लहैं सरस अनूपम मोज
—अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति, पत्र ४५

ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली भाषा जिसे शौरसेनी कहते हैं, उसका हिन्दी में सदैव अस्तित्व रहा है, यही नहीं, शौरसेनी भाषाएँ हिन्दी प्रदेश तो क्या सम्पूर्ण उत्तर भारत की मान्य साहित्यिक भाषायें रहीं हैं।

१. मध्यदेशीय भाषा, ग्वालियर, संवत् २०१२ वि०, पृ० ७
२. ब्रजभाषा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० (६) तथा पृ० १३५

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में ब्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-संचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट्र (सर्वे आफ द हिन्दी मैन्युस्क्रिप्ट्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा "यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनायें लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बंबई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितों का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी संवत् की रचना है"[1]। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे रूपधरमा नामक किसी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबंकी के जैन मंदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मंदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्तूबर १९५५ में जयपुर में श्री बधीचंद जी के जैन मन्दिर के अव्यवस्थित भांडार में, जिसका अब तक 'कैटलाग' भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रंथ

---

1. सर्वे रिपोर्ट, १९२३-२५, पृ० ३७

की एक प्रति मुझे अनायास ही मिल गई। इस दूसरी प्रति के अन्त में लिपि-संबंधी पुष्पिका इस प्रकार है[1]—

'संवत् १६६४ वर्षे आसोज वदि मंगलवारे श्री मूलसंघे लिलापित श्री ललितकीर्ति सा० धादा, सा० सरणम् सा नाथू सा दशायोग्य दत्तं। श्रेयास्तु शुभमस्तु मांगल्यं ददातु'।

इस पुष्पिका से स्पष्ट है कि यह सर्च रिपोर्ट में सूचित प्रति से पुरानी है। ग्रन्थकर्त्ता के विषय में बहुत थोड़ी बातें मालूम हो पाई हैं। अन्तिम हिस्से से पता चलता है कि ग्रन्थ आगरे में लिखा गया था। कवि अग्रवाल वंशीय जैन था।

अग्रवाल को मेरी जाति, पुर आगरे माँहि उत्पति। ७०२
सुधणु जननि गुणवइ उर धरिउं, सामइ राज घरहं अवतरिउं
एरच नगर वसन्ते जाणि, सुणिउं चरित मोहिं रचिउं पुराण। ७०५

अग्रवाल नामक एक दूसरे कवि की भी कुछ रचनायें प्राप्त होती हैं। इसी सर्च-रिपोर्ट में एक दूसरे अग्रवाल कवि का भी जिक्र है[2] जो वंश-परम्परा से आगरे के ही मालूम होते हैं। वैसे इस कवि का परिचय देते हुए सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक ने लिखा है : अग्रवाल, मदन और गौरी के पुत्र, जिसके आदित्यवारकथा की सूचना सर्च-रिपोर्ट १६०० नम्बर ११ में प्रकाशित हुई है। उक्त रिपोर्ट में कवि का नाम गौरी बताया गया है जबकि यह उसकी माँ का नाम है। निरीक्षक ने इस द्वितीय अग्रवाल का नाम नहीं दिया, जो ग्रन्थ के अन्तिम हिस्से में स्पष्टतया दिया हुआ है—

अग्रवाल तिन कियौ बखान, गौरी जननि तिहुयणगिरि थान
गरग गोत मल्हू को पूत, भाऊ कवि सुभ भगति सजुत्त

स्पष्ट ही कवि का नाम भाऊ अग्रवाल है जिसने रविवार व्रत की कथा लिखी, आमेर भांडार के सूचीपत्र में भी इस कवि का विवरण दिया हुआ है। आमेर भांडार की प्रशस्ति संग्रह में कवि का नाम अज्ञात तथा ग्रन्थ का अन्तिम अंश इस प्रकार है।[3]

अग्रवालीय कीयो बखान, कुंवरि जननि तिहुभनगिरि थान
गरग गोत मल्हू को पूत, भायो कविजन भगति संजूत

यहाँ 'भायो' वस्तुतः भाऊ का ही भ्रष्टलेखोत्पन्न रूपान्तर है। इन दोनों अग्रवालों के माँ-बाप, तथा जन्मस्थान में कोई साम्य नहीं मिलता, कुंवरि, गौरी या सुधणु में किंचित् भी साम्य नहीं। सर्च रिपोर्ट १६२३-२५ में बाराबंकी प्रति से जो उद्धरण दिया हुआ है उसमें—

'सुद्धि जणणी गुणवइ उर धरिउ, साहु महराज घरहिं अवतरिउ' पंक्ति आती है जिससे 'सुद्धि माता और बड़े साहु पिता का पुत्र' होने का पता चलता है। किन्तु इनकी रचनाओं में कुछ स्थलों पर किंचित् साम्य मिलता है जैसे :

---

१. यह प्रति आजकल अतिशय क्षेत्र के कार्यकर्ता श्री कस्तूर चन्द कासलीवाल, जयपुर के पास सुरक्षित है। इस प्रति के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

२. सर्च रिपोर्ट, १९२३-२५, पृ० २१

३. आमेर भांडार की सूची, जयपुर, पृ० संख्या ६५

रविवार व्रत कथा से—

> दीन्हीं दृष्टि मैं रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं कियो वखाण
> हीण अधिक अक्षर जो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

> हौं मति हीण बुद्धि अयाण, मइं सामि को कियो वखाण
> मन उछाह मइं कियउं विचित्त, पंडित जण सोहइ दे चित
> पढ़ित जण विनवउं कर जोरि, हउं मति हीण म लावहु खोरि।

§ १७२. इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसंग कुछ साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रूढ़िगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनों अग्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अगरचंद नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता' शीर्षक एक निबंध जनवरी १६५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियों की सूचना हम आरंभ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल संवत् १६६८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सींधिया ओरियंटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नंबर ७४१ है जिसमें इस ग्रंथ का रचना काल संवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय बदी ११ आदित्यवार संवत् १६३४ है।

> सम्वत् पंचसइ हुइ गया
> ग्यारहोत्तरा अहवइ (?) भया
> भाद्रय वदि पंचमी ति, सारू
> स्वाति नक्षत्र शनीचर वारू ।१।

१८ मई १६५६ की 'वीर वाणी' में आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भांडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भांडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, बाराबंकी और दिल्ली की चार प्रतियों में रचनाकाल संवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन संवतों की जंत्री को देखा गया पर वदी पंचमी, सुदी पंचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता'[1] किन्तु सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ६ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पड़ता है।[2] श्री नाहटा ने सम्भवतः उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

1. हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अंक १-४, पृ० १६
2. He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday, the 5 th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August, 1354 A. D. Search Report, 1923-25, page 17

दिया। श्री नाहटा ने विभिन्न प्रतियों के आधार पर कवि का नाम निश्चित करने का भी प्रयास किया है जो विचारणीय कहा जा सकता है, कई स्थानों पर 'सधारु' शब्द का प्रयोग हुआ है जो कवि का नाम हो सकता है।

> सो सधारु पणमइ सुरसती
> तिन्हि कउ बुद्धि होइ कत हुती ॥११॥
> हंस चढ़ी करि लेखन लेइ
> कवि सधारु सारद पणमेइ ॥१६॥
> जिण सासण मइ कहियउं सारु
> हरिसुव चरित करइ साधारु ॥१२॥

इन सभी स्थलों को देखते हुए कवि का नाम 'सधारु' ही मालूम होता है। कवि के जन्म-स्थान और माता पिता के नाम पर भी श्री नाहटा ने विचार किया है। कुछ प्रतियों में स्पष्ट ही 'आगरे मांहि उतपति (बारावंकी, पद्य संख्या ७०२) दिया हुआ है। किन्तु नाहटा ने कामा वाली प्रति में 'अगरो वे मेरी उतपति' (प० सं० ७०१) पाठ देखा है।

लेखक ने अपने को एरछ नगर का रहने वाला कहा है (पद्य सं० ७०५) कुछ प्रतियों में एरच, एलचि शब्द भी आता है। इसी आधार पर श्री नाहटा कवि को मध्यप्रान्त के एलचिपुर का रहनेवाला मानते हैं। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। पिता का नाम शाह महराज और माता का नाम गुणवइ मानना भी एकदम सही नहीं लगता क्योंकि कामा वाली प्रति में साहु महाराज दिया है, और बारावंकी वाली प्रति में सामहराज। माता का नाम 'गुणवइ' और भी गड़बड़ी पैदा करता है क्योंकि 'सुधनु जननि गुणवइ उर धरिउ' में गुणवइ का अर्थ गुणवती है जो विशेषण लगता है, मूल नाम सुधनु हो सकता है।

प्रद्युम्न चरित की विषय वस्तु

§ १७३. चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना के बाद कवि ने द्वारकापुरी का वर्णन किया। एक दिन नारद ऋषि घूमते-घामते कृष्ण के पास पहुँचे। प्रेमपूर्ण वर्तालाप के बाद वे आज्ञा लेकर रनिवास को गए। सत्यभामा ने दर्पण में अपने पीछे खड़े नारद को देखा किन्तु उठी नहीं बल्कि उनकी कुरूपता का उपहास किया। नारद क्रोध से उबलते-उफनते श्रीगिरि पहुँचे और वहाँ सत्यभामा के मान-मर्दन के उपाय सोचने लगे। कुण्डनपुर में राजा भीष्मक की सुन्दरी कन्या को देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई। उन्होंने शिशुपाल की वाग्दत्ता का कृष्ण के साथ विवाह होने की भविष्यवाणी की। कृष्ण-रुक्मिणी प्रेम विवाह में परिणत हुआ। नारद ने सत्यभामा को चिढ़ाया और दोनों स्त्रियों में यह बाजी लगवा दी कि जिसके प्रथम पुत्र होगा उसी के चरणों तले दूसरी केश रखेगी। सत्यभामा और रुक्मिणी दोनों को पुत्र उत्पन्न हुआ और दोनों के घर बधाई बजी। एक दिन बालक प्रद्युम्न को एक दैत्य उठाकर तक्षक पर्वत पर ले गया, और उसे एक शिला के नीचे दबा कर रख दिया। पूर्वसंचित पुण्यों के कारण बालक की मृत्यु नहीं हुई। इसी बीच मेघकूट नरेश कालसंवर अपनी रानी कनकमाला के साथ उधर से निकले, हिलती हुई शिला के नीचे से बच्चे को निकालकर राजा लौट आये और रानी के गूढ़ गर्भ का संवाद प्रचारित करके प्रद्युम्न को उन्होंने अपना पुत्र घोषित किया।

पुत्र-वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने बटपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाभ और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुनः अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बड़ा होने पर प्रद्युम्न ने कालसंवर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा की अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्ध शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुयें में गिराया, वन में छोड़ा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अगणित आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से ब्याह किया। संवर-पत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को झुकाना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुंदन की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौटा, उसने न केवल अपने मायावी घोड़ों से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकड़ने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पड़ी। नाराज बलराम स्वयं पकड़ने आये और मंत्र प्रभाव से सिंह बनते-बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वांग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में आकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पांडवों से सुसज्जित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण—वल्लभा को अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल बल—पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुड़ाओ, यादवों की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विफल कर देता। दाहिने अंगों से बार-बार फड़कने से कृष्ण को किसी रक्त संबंधी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लड़के से रुक्मिणी लौटा देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का उद्घाटन किया। कृष्ण ने व्यंग्यपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणी को ले आने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रास्ते में कौरवों को पराजित कर दुर्योधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में बहुत वर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव-विनाश द्वारका ध्वंस का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

प्रद्युम्न चरित के कई अंश परिशिष्ट में दिये हुए हैं। इस ग्रन्थ का साहित्यिक मूल्यांकन साहित्य-भाग में दिया गया है।

हरिचन्द पुराण (विक्रमी संवत् १४५३)

§ १७४. हरिचन्द पुराण की सूचना खोज रिपोर्ट (१९००) में प्रकाशित हुई किन्तु तब से आज तक ब्रजभाषा के इतने सुन्दर और प्राचीन ग्रन्थ के प्रकाशन-परिचय का कोई कार्य नहीं हुआ। खोज-रिपोर्ट में उक्त ग्रन्थ की अत्यन्त संक्षिप्त सूचना प्रकाशित हुई थी। सूचना से मालूम होता है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि विद्याप्रचारिणी जैन सभा, जयपुर में मौजूद थी, किन्तु आज न तो वह सभा है और न तो उक्त प्रति का पता चलता है। ऐसा जान पड़ता है कि इसी ग्रन्थ की प्रति घूम-घामकर श्री अगरचन्द नाहटा के पास पहुँची है और अब वहीं सुरक्षित है, सर्व रिपोर्ट में वर्णित प्रति के २८ पत्र, ९"×८" का आकार, २१ पंक्तियों के पृष्ठ, और ६१० पदसंख्या, नाहटा वाली प्रति में भी दिखाई पड़ते हैं। सर्व-रिपोर्ट में वर्णित प्रति में भी लिपिकाल यहीं है और नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति में भी।

हरिचन्द पुराण के लेखक के विषय में कुछ विशेष पता नहीं चलता। सर्व रिपोर्ट के निरीक्षक महोदय लिखते हैं : ग्रन्थ कर्ता का नाम कदाचित् नारायण देव हो।[2] किन्तु यह बिल्कुल निराधार अनुमान है। ग्रन्थ कर्ता का नाम जाखू (जाखू) मणयार है जिसने विक्रमी संवत् १४५३ अर्थात् १३९६ ईस्वी में यह कथा छन्दोबद्ध की। निरीक्षक के अनुमान का आधार अन्त की पंक्ति है जिसका ठीक अर्थ नहीं किया गया। अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> पुहुप विवाँण वैठि करि गयौ, हुयो बधावो आणद भयौ
> एहि कथा कौ आयौ छेव, हम तुम्ह जयो नरायण देवु

निचली पंक्ति में लेखक नारायण देव कृष्ण का स्मरण करके ग्रन्थ समाप्त करता है और मंगलवाक्य के रूप में अपने और पाठक की विजय के लिए नारायण का आशीर्वाद माँगता है। 'हम' से लेखक का नाम होने के भ्रम का परिहार हो जाना चाहिये था क्यं 'हम' तो लेखक के लिए है ही फिर लेखक नारायण देव कैसे हो सकता है। जाखू शब्द प्रयोग लेखकीय रूप में कई बार आया है, कुछ पंक्तियों में जाखू मणयार भी आता है। ल है लेखक मणयार या मनियारा जाति का था जिसने किसी शारद दूबे से इस पुराण की व सुनी थी जिसे चैतमास की दशमी रविवार के दिन १४५३ संवत् में पूरा किया।

> सारद दूबे कथ्यो पुराण, पावी मति बुधि उपनों जाण
> कर्हूं कवित्त मन लावों वार, सत हरिचंद पवाडो संसार ॥३॥
> चौदह सै तिरपनैं विचार, चैतमास दिन आदित वार
> गन मांहि सुंमिरयो आदीत, दिन दसराहे कियो कवीत ॥४॥

इसी के नीचे 'आंचली' छन्द के अन्तर्गत कवि के नाम का प्रयोग हुआ है—

---

१. खोज रिपोर्ट १९००, नम्बर ८९, पृ० ७६-७७

२. वहीं, पृ० ७७

आँचली

सूरिज वंस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त
सुणो भाव धरि जापू कहै, नासै पाप न पीढी रहै ॥८॥

§ १७५. हरिचंद पुराण की कथा राजा हरिचंद की पौराणिक कथा पर ही आधृत है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के औक्तिक प्रयोगों के साथ ही अपभ्रंश के अवशिष्ट रूप भी दिखाई पड़ते हैं। हँणीज्जइ, थुणीज्जइ, सुणन्तु, आपणँइ (षष्ठी) फाडइ, दीयउ, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव को सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-सुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पड़ती है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ़ प्रयोगों को छोड़कर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र बुंधि घन भीतर जाइ, रानी अकली परी विलखाइ।
सुत सुत कहै वयण उचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ॥
हा प्रिग हा प्रिग करै संसार, फाटइ हियो अति करै पुकार।
तोडइ लट अरु फाडइ चीर, देपै मुख अरु धोवै नीर॥
धरि उछंग मुख चूमा देइ, अरे वच्छ किम थान न पेइ।
दीपउ करि दीजै अँधियार, चन्द विहुण निसि घोर अंधार॥
वछ विण गो जिमि कारयो आहि, रोहितास विणु जीवों काहि।
तोहि विणु मां अम पालट भयो, तोहिं विणु जिवतहँ मारउ गयो॥
तोहि विणु मैं दुप दीठ अपार, रोहितास लायो अँकवार।
तोहि विणु नयन ढलै को नीर, तेहि विणु सास ज्यां मुके सरीर॥
तोहि विणु बात न श्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ॥

विष्णुदास (संवत् १४९२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध-शताब्दी पहले, जिन दिनों ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओं की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १९०६–८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १९०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गारोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बताई गईं।

विष्णुदास के बारे में इतना ही मालूम हो सका कि ये गोपाचल गढ़, या ग्वालियर के रह वाले थे जो उन दिनों डोंगर सिंह नामक राजा के अधीन था। महाभारत कथा में लेखक रचनाकाल का भी उल्लेख किया था इस आधार पर रिपोर्ट में उन्हें १४३५ ईस्वी का कवि बताया गया।[1] महाभारत कथा और स्वर्गारोहण की पांडु लिपियों के विवरण से ज्ञात हुआ कि ये क्रमशः संवत् १७६७ ईस्वी और १७७५ ईस्वी की लिखी हुई हैं। महाभारत की पांडुलिपि २४ पंक्तियों के ७६ पत्रों की पुस्तक है जिसमें २५११ श्लोक आते हैं। स्वर्गारोहण महाभारत से छोटी रचना है जिसमें २० पंक्तियों के १५ पत्र हैं। श्लोक संख्या ४१८ है। चार वर्षों के बाद पुनः १६१२ की खोज रिपोर्ट में विष्णुदास की सूचना प्रकाशित की गई। इसमें विष्णुदास के रुक्मिणी मंगल का विवरण भी दिया गया। रचना के आदि अन्त के कुछ पद भी उद्धृत किये गए। अन्त का विष्णुपद इस प्रकार है।[2]

> महलन मोहन करत विलास।
> कहाँ मोहन कहाँ रमन रानी और कोउ नहीं पास।
> रुकमन चरन सिरावत पिय के पूजी मन की आस ॥
> जो चाहै यिसौ अब पायो हरि पति देवकी सास।
> तुम विनु और कौन थो मेरो धरत पताल अकाश ॥
> पल सुमिरन करत तिहारो सशि पूस पर गास ॥
> घट घट व्यापक अन्तर्यामी सब सुखरासी ।
> विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दासी ॥

सन् १६२६-२८ की खोज रिपोर्ट में विष्णुदास की रचनाओं का नया विवरण प्रकाशित हुआ। इस पर्व विष्णुदास की दो रचनायें रुक्मिणी मंगल और सनेहलीला प्रकाश में आईं। रुक्मिणी मंगल की चर्चा तो १६०६-८ की रिपोर्ट में ही आ चुकी थी, किन्तु वह इतनी … और भ्रष्ट थी कि उससे कुछ विशेष बात मालूम न हो सकी। १६२६-२८ की रिपो… रुक्मिणी मंगल की काफी सविस्तार सूचना प्रकाशित हुई। पिछली खोज रिपोर्ट में रुक्मि… मांगल से जो अन्तिम विष्णुपद ऊपर उद्धृत किया गया है, यही १६२६-२८ की रिपो… उद्धृत किया जाय तो एक नया रूप दिखाई पड़ेगा।

> मोहन महलन करत विलास।
> कनक मंदिर में केलि करत हैं और कोउ नहिं पास।
> रुक्मिनी चरन सिरावै पी के पूजी मन की आस।
> जो चाहो सो अंबे पायों हरि पति देवकि सास ॥
> तुम बिनु और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकास।
> निस दिन सुमिरन करत तिहारो सब पूरन परकास ॥

---

१. सर्च रिपोर्ट, १६०६-८, पृ० १२, नंबर २६८

२. वही, पृ० ३२७-३२६, संख्या १६८ ए और बी०

३. वृन्दावन के गोस्वामी राधाचरण की प्रति, खोज रिपोर्ट १६१२-१४ पृ० १५१

घट घट व्यापक अन्तर जामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दास॥

दो समान पदों में लिपी के कारण कितना बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। पहले पद की पंक्तियाँ भ्रष्ट और त्रुटिपूर्ण हैं। रुक्मिणी मंगल कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का मंगल-काव्य है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और शृंगार का अनोखा समन्वय किया है।

§ १७७. व्रजभाषा में सगुण कृष्णभक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०, ६० साल पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सत्य है। १६२६–२८ की रिपोर्ट में ही विष्णुदास की दूसरी कृति सनेह लीला का भी विवरण दिया हुआ है।[1] सनेहलीला भ्रमरगीत का पूर्व रूप है। कृष्ण को एक दिन अचानक व्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्धव को गोपियों के लिए ज्ञान का संदेश देकर गोकुल भेजते हैं। ज्ञान-गम्भीर उद्धव व्रज की धूलि में सारी निर्गुण-गरिमा को लुटाकर वापिस आते हैं। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्धव का उत्तर सुनिये—

तब ऊधो आये यहाँ श्री कृष्ण चन्द के धाम
पाय लागि बन्दन कियो बोलत ले ले नाम १०६
ग्वाल बाल सब गोपिका ब्रज के जीव अनन्य
तुमहीं पाय लागन कह्यो सुनो देव ब्रह्मन्य ११०
नन्द जसोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै तुम भले मो पै कह्यो न जाय १११
वे चित टारत नहीं स्याम राम की ओर
मध नामक पुरती भई मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम की महिमा कछू अनन्त
मैं पूछो षट् मास लौं तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब छाणि के करत रूप को ध्यान
मन को भजन विचारिये सो सब फीको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विरै वे सब ब्रज की नार
चरण सरज रहीं सदा मिथ्या लोग विसार ११५
उनके गुण नित गाइये करि करि उत्तम प्रीति
मैं माहिन देखँ कहुँ ब्रज बासिन की रीत ११६
तब हरि ऊधो सो कह्यो हूँ जानत सब अंग
हौं कहुँ चाल्यो नहीं ब्रज बासिन्ह को संग ११७
ब्रज तजि अनत न जायहो मेरे तो या टेक
भूतल भार बसाहो धरिहौं रूप अनेक॥ ११८

---

१. खोज रिपोर्ट, १६२६–२८, पृ० ७५६, संख्या ४६८ ए
२. वही, पृ० ७६०, संख्या ४६६

सन् १९२९-३१ की खोज रिपोर्ट में विष्णुदास की चौथी बार सूचना प्रकाशित हुई जिसमें महाभारत कथा, स्वर्गारोहण पर्व और स्वर्गारोहण इन रचनाओं की सूचना प्रकाशित हुई। अन्तिम दोनों पुस्तकें संभवतः एक ही हैं। किंतु इनके जिन अंशों के उद्धरण दिये गये हैं, वे भिन्न भिन्न हैं और विवरण में इससे अधिक कुछ पता भी नहीं चलता। संभव है दोनों ग्रन्थ ही मूल ग्रन्थ के हिस्से हों। पाँचों पांडवों के स्वर्गारोहण की कहानी को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। महाभारतकथा, और स्वर्गारोहण के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

§ १७८. इस प्रकार विष्णुदास के बारे में अब तक खोज रिपोर्ट में चार बार सूचनाएँ प्रकाशित हो चुकीं, इनके ग्रन्थों का परिचय भी दिया गया, किन्तु अभाग्यवश ब्रजभाषा के इस संस्थापक कवि का हिन्दी साहित्य के इतिहास में शायद ही कहीं उल्लेख हुआ हो।[1] विष्णुदास ग्वालियर नरेश डूंगरेन्द्र सिंह के राज्यकाल में वर्तमान थे। १४२४ ईसी में डूंगरेन्द्र सिंह ग्वालियर के राजा हुए। डूंगरेन्द्र सिंह स्वयं साहित्य और कला के संरक्षक नरेश थे। विष्णुदास की रचनाएँ—

(१) महाभारत कथा
(२) रुक्मिणी मंगल
(३) स्वर्गारोहण
(४) स्वर्गारोहण पर्व
(५) स्नेह लीला।

विष्णुदास की भाषा १५ वीं शती की ब्रजभाषा का आदर्श रूप है। इस भाषा में ब्रज के सुनिश्चित और पूर्ण विकसित रूप का आभास मिलता है जो १६ वीं शती तक एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में दिखाई पड़ा। कूँ (कों), हूँ (हों), सूँ (सों) दूँ या लो (लौं) आदि पुरानी भाषा के चिह्न हैं। विष्णुदास की भाषा में भूत कृदन्त के निष्ठा रूप में 'आ' अन्त वाले रूप भी मिलते हैं। स्वर्गारोहण पर्व में घरिया, खरखरिया, कढ़िया, रहिया आदि अवहट्ठ की परंपरा के निश्चित अवशेष हैं। खड़ी बोली में केवल आकारान्त रूप ही दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ब्रज में और खास तौर से प्राचीन ब्रज में दोनों प्रकार के रूपों का प्राधान्य था। तिङन्त के वर्तमान काल का रूप करई (महा॰ २) मनई (स्वर्ग॰) सुनइ, (स्वर्ग) धरइ (स्व॰) आदि रूप भी अपभ्रंश का लगाव व्यक्त करते हैं। भाषा की अर्धविकसित अवस्था की सूचना इन रूपों से चलती है। विष्णुदास की भाषा का विवेचन इस काल के अन्य कवियों की भाषा के साथ ही आगे हुआ है।

कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (विक्रमी १५१६)

§ १७९. ईस्वी सन् १९०० के, नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा संचालित हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज में कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा का पता चला। खोज

---

1. मिश्रबन्धु विनोद में सूचना मात्र मिलती है।

रिपोर्ट में इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है।[1] अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता, संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सतमी लिखितं फूलपेड़ा मध्ये। पोथी के विवरण में १० पत्र, ६३''×८''२६ पंक्तियाँ और ४८८ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्रीअगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिपथगा में प्रकाशित कराया है।[2] नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है 'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सतमी लिखितं फूलपेड़ा मध्ये। वही २६ पंक्ति, वही ६३''×८'' के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिपिकाल, वार, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति बताते हैं किन्तु खोज रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन सभा, जयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नहीं। न तो आज जयपुर में उस सभा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ वस्तुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतियों की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहटा जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्च रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है।

सुणो कथा रस लील विलास, योगी मरण राय बनवास
मेलो करि कवि दामो कहइ, पदमावती बहुत दुःख सहइ ॥१॥
काश्मीर हुँत नीसरइ, पंचन सत अमृतरस भरइ
सुकवि दामउ लागइ पाय, हम वर दीयो सारद माय ॥२॥
नमूँ गणेश कुंजर शेष, मूसा वाहन हाथ फरेस
लाड़ू लावन जस भरि थाल, विघन हरण समरूं दुंदाल ॥३॥

केवल तीन चौपाइयों में ही भाषा-भेद देखें। सुणउ (ना०) सुणों (सर्च०) मेलउ (ना) मेलो (सर्च) दामउ (ना) दामो (स) वाहण (ना०) वाहन (स०) लावण (ना०) लावन (स०)। सर्च रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह पूर्णतः ब्रजभाषा है। किन्तु नाहटा वाली प्रति में उद्वृत्त स्वर ज्यों के त्यों हैं उनमें पुरानापन दिखाई पड़ता है, जबकि सर्च रिपोर्ट वाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्वृत्त की संधि करके अउ > औ कर लिया है। ण के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मामूली अन्तर व्यक्त होता है बस। प्रतियाँ प्रायः एक ही मालूम होती हैं।

दामो कवि के बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता। इस आख्यान की रचना के विषय में कवि की निम्न पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

संवतु पनरह सोलोत्तरा मझारि
जेठ बदी नवमी बुधवार
सप्त तारिका नक्षत्र दृढ़ जान
वीर कथा रस करूँ बखान ॥४॥

---

१. खोज रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५
२. त्रिपथगा अंक १०, जुलाई, १९५९ पृ० ५३-५८

सरस विलास काम रस भाव
जाइ दुरीय मनि हुअ उछाह
कह इति कीरत दामो कवेस
पदमावती कथा चहुँ देस ॥५॥

ऊपर की चौपाई से मालूम होता है कि कवि ने १५१६ संवत् अर्थात् १४५९ ईस्वी में इस आख्यानक काव्य की रचना की। दूसरी चौपाई की दूसरी अर्धाली से लगता है कि कवि का पूरा नाम कीर्तिदाम था, जिसके संक्षिप्त दामो नाम से कवि प्रसिद्ध था जैसा कि ग्रन्थ में कवि ने कई स्थानों पर अपने को दामो ही लिखा है। यह अपभ्रंश कथा शैली में लिखा प्रेमाख्यानक है जिसकी कहानी चिरपरिचित मध्यकालीन कथाभिप्रायों (Motif) से पूरित है।

§ १८०. कथा का सारांश नीचे दिया जाता है—

सिद्धनाथ नामक प्रतापी योगी हाथ में खप्पर और दंड लेकर नव-खण्ड पृथ्वी पर घूमता रहता था। एक बार योगी हंसराय के गढ़ सामोर में पहुँचा। वहाँ उसने राजकन्या पद्मावती को देखा। वह बातें करती तो मानो चन्द्रमुख से अमृत की वर्षा होती। सौन्दर्यमुग्ध योगी ने बाला से पूछा कि तुम किसी की परिणीता हो या कुमारी? नरपति कन्या बोली: मैं सौ राजाओं का वध करने वाले को अपना पति वरूँगी। कामदग्ध योगी तब—संयम से भ्रष्ट होकर सुन्दरी राजकन्या को देखता ही रह गया, किसी तरह वापिस आया। एक सौ एक राजाओं के वध का उपाय सोचने लगा। उसने एक कुएँ से सुरंग का निर्माण किया जो सामौर गढ़ से मिली हुई थी। योगी राजाओं को पकड़-पकड़ कर लाता और उसी कुएँ में डालता जाता। इस तरह उसने चण्डपाल, चण्डसेन, अजयपाल, धरसेन, हमीर, हरपाल, दण्डपाल, सहसपाल, सामन्तसिंह, विजयचन्द्र, बैरिशाल, भिण्डवाल, आदि निन्यानवे राजाओंको पकड़ कर कुएँ में बन्द कर दिया। दो अन्य राजाओं को पकड़ने के उद्देश्य से उसने फिर यात्रा की। हाथ में बिजौरी नीबू लेकर वह लखनौती के राजा लक्ष्मण के महल के द्वार पर पहुँचा और जोर की हाँक लगाकर आकाश में उड़ गया। इस सिद्ध करामाती योगी को देखकर आश्चर्यचकित द्वारपालों ने राजा को खबर दी, राजा ने योगी को ढूँढ़ लानेका आदेश दिया किन्तु योगी ने आना अस्वीकार किया। लाचार राजा स्वयं योगी के पास पहुँचा। योगी ने लखनौती छोड़कर यहाँ आने का कारण पूछा। प्यासे राजा ने पानी माँगा। योगी ने कहा कि तालाब आदि सूख गये हैं, कुएँ के पास चलो। राजा ने पानी निकाल कर पहले योगी को पिलाया। अपने पीने के लिये दुबारा पानी लाने कुयें पर पहुँचा तो योगी ने उसे कुयें में ढकेल दिया जहाँ उसने बहुत से राजाओं को देखा। पूछने पर राजाओं ने बताया कि यह सिद्धनाथ योगी एक सौ एक राजाओं का वध कर पद्मावती से विवाह करना चाहता है। लक्ष्मणसेन ने उन कैद राजाओं को मुक्त करके बाहर निकाल दिया और सुरंग के रास्ते एक स्वच्छ जल के सरोवर के किनारे पहुँचा। पानी पीकर प्यास बुझाई और एक ब्राह्मण के घर जाकर अपने को लखनौती का राजपुरोहित बताकर शरण ली। ब्राह्मणी ने उसे सामौर के राजपुरोहित का पद दिला दिया।

राजकुमारी पद्मावती के स्वयंवर में लक्ष्मणसेन ब्राह्मण युवक के वेश में पहुँचा, राजकुमारी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर वरमाला पहना दी। इस पर स्वयंवर में आये राजा बहुत क्रुद्ध हुए, किन्तु उनकी एक न चली। लक्ष्मण सेन ने सबको पराजित किया और आनन्द

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने वह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक जल पीने से इन्कार किया जब तक राजा वचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खंग, धनुषवाण, वस्त्र और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कपूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके डूबते हुए लड़के की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बड़ी दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामों की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की स्वभावप्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

> घरि चाल्यउ लखणउती राय, अति अणंद हरख्यउ मन भाय
> कहइ बधावउ आयउ राइ, तब तिण लाधउ बहुत पसाइ ॥६२॥
> लखन सेन लखनौती गयउ, राज माँहि बधावउ भयउ
> बंभण भाट करइ कइ वार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥६३॥
> मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भउ उछाह घणा
> माय पूत अरु धीय कुमारि, लखन सेन भेट्यो तिणि वार ॥६३॥
> भणइ प्रधान स्वामि अवधारि, काइ देव रहियो इणवार
> योगी सरिसउँ भइ दुःख सहयउँ, घालयउँ कुँआ कष्ट मागेयउँ ॥६४॥
> गढ सामउर रहइ छइ राय, तासु धीय परणी रंग माहि।
> पछइ कपूर धार हूँ गयउँ, चन्द्रावती विहाइण लियउँ ॥६४॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

डूंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि डूंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन श्रावक और कवि थे। डूंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

१५८१ ईसी सन् में सम्पूर्ण की। लिपिकाल का जो संकेत कवि करता है, उसका अर्थ १५८ भी हो सकता है।

> संवत पनरह साल तीनि अठ लख उरधत्ता
> रासखार मागंहि माघ तिहि मास वसन्ता
> सुकुल पख द्वादसी वार रवि सुमिर सुमिरइड
> पूरब पाइ। नखत जोग हरसिमि तिहि निरुत्तड
> सुभ लगन महूरत सुभ घड़ी पद्मनाम इम उच्चरइ
> बावनी किय डूंगरतनी ए मदियम बहु विस्तरइ ॥५०॥

डूँगर कवि की बावनी की प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के अभय जैन ग्रन्थागार में सुरक्षित है। कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपने पूर्व-पुरुषों का परिचय दिया है। श्रीमालि कुल की पोरुल्या शाखा में श्री पुन्नपाल हुए, जिनके पुत्र श्री रामदेव की धर्मपत्नी वारु देवी के गर्भ से दो पुत्र रत्न उत्पन्न हुए डूँगर और दीसागर।

ग्रन्थ को देखने से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि पद्मनाम ने डूँगर कथित उपदेशों को बावनी रूप में लिखा या डूँगर और पद्मनाम एक ही व्यक्ति थे जिन्होंने इन नीति, विनय, बावन छप्पयों का निर्माण किया। क्योंकि कहीं 'संघपति डूगर कहइ' या 'नृपति डूँगर कहइ' इस प्रकार की भणिता का प्रयोग है।

> धर्म होइ धन रिद्धि भरइ भण्डार नवइ निधि
> धर्महि धवल आवास तुंग तोरण विविह परि
> धर्महिं सुन्दर इति नारि पदमिणी पीन स्तनि
> धर्महिं पुत्र विचित्र पेखि सन्तोष हुवइ मनि
> धरमहि पसार निरवाण फल एह वयन निज मन धरहु
> संघपति राय डूँगर कहइ धर्म एक अहनिस करहु ॥५॥

दूसरे स्थान पर कवि 'पद्मनाथ उच्चरइ' कहता है जैसा पचासवें छप्पय में आता है, जिसे रचनाकाल के सिलसिले में पहले उद्धृत किया गया है। जो भी हो, दो एक पदों को छोड़कर अधिकांश में 'डूगर कहइ' ही आता है और ग्रन्थ का नाम भी डूँगर बावनी है जो छीहल कवि की छीहल बावनी की, तरह कवि के नाम की पुष्टि करती है।

§ १८३. डूँगर कवि की रचनाएँ अपभ्रंश प्रभावित दिखाई पड़ती हैं किन्तु यह छप्पय शैली का परिणाम है। १६ वीं १७ वीं तक की छप्पय रचनाओं में भी अपभ्रंश-प्रभाव को सुरक्षित रखा गया है। नरहरिभट्ट के छप्पय और छीहल (१५८० संवत्) की बावनी के छप्पय इस तथ्य के प्रमाण हैं। डूँगर के छप्पय प्रायः नीति विषयक ही हैं। किन्तु नीति में उपदेश के साथ ही कविता का गुण भी समन्वित किया गया है। तीन छप्पय नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

> रितु वसन्त उल्हणो विविहि वणराय फलइ सहु
> कंटक विकट करीर पत्त पिक्खंत किंपि नहु
> धाराहर वर धवल धारि वरसंत घोर घन
> [illegible]

जिस कालि जिसउ वांछइउ, तिसउ तिम काल पावंत जन
संघ पति राय डूंगर कहइ भलिय दोष दिजइ कवन ॥२०॥
इन्द्र अहल्या रम्यउ आनि तसु भइलि उपर्या
कान्ह रम्यउ ग्वालिनी पेखि करि रूप रवर्या
दस कंधर दस सीस सीय कारनि सिर खण्डयउ
कीचक अरु द्रुपदी कज देउल सिरि भड्येउ
रखिय न भप्पइ इमि जानि सो नर अवगाहि हुब्वयउ
तिनि मयन नृपति डूंगर कहइ को को को न विंट्यउ ॥६॥
औषधि मूल संग्री सर्प नहिं मानइ दुर्जन
सर्प डसी वेदना एहि दिट्ठइ हुई गंजन
लागइ दोष अनन्त कियइ संसर्ग एनि परि
सखरी जल हरइ घणी पीडियइ सुकल्मरि
बइरी वेसास कीजइ नहीं, नींद न आवइ सुक्ख करि
परिहरउ सदा डूंगर कहइ भलउ न वंछइ पिसुन नर ॥१०॥

डूंगर के कुछ छप्पय अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छप्पयों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।[1]

§ १८४. मानिक कवि

१९३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की वैतालपचीसी की सूचना प्रकाशित हुई।[2] इस त्रैमासिक विवरण का संक्षिप्त अंश नागरीप्रचारिणी पत्रिका में संवत् १९९६ में छपा, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।[3]

मानिक कवि ने विक्रमी संवत् १५४६ अर्थात् १४८९ ईस्वी में वैताल-पचीसी की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, ओठ वरस आगरो छियाल।
निर्मल पाख आगहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द को वास॥
आठे द्योस वार तिहि भानु, कवि भाषे वैताल पुरानु।
गढ़ ग्वालियर थान अतिभलो, मानुसिंघ तोवर जा बलौ॥
संवई खेमल बीरा दीयो, मानकि कवि कर जोरें लीयो।
मोहि सुनावहु कथा अनूप, जो वैताल कियो बहु रूप॥

ग्वालियर में मानसिंह तंवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी संवत् के अगहन महीने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

---

१. डूंगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर के पास सुरक्षित।
२. त्रैमासिक खोज विवरण १९३१-३४ पृ० २४०-४१
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, अंक ४

मानिक-कवि ने किसी संघई खेमल का नाम लिया है। राजा ने कवि के लिए जो ताम्बूल-बीटिका प्रदान की, उसे प्रथम संघई खेमल ने लिया और मानिक कवि को प्रदान किया। लगता है संघई खेमल कोई राजकर्मचारी तथा राजा का निकटवर्ती था। मानिक कवि को राज दरबार में पहुँचने में इसने सहायता की। मध्यकालीन कवियों को राजकवि का अथवा विशेष सभाकवि का सम्मान प्रदान करने के लिए राजा कवि को ताम्बूल प्रदान करता था इसका उल्लेख कई कवियों ने बड़ी गर्वोक्ति के साथ किया है।

मानिक कवि का निवास स्थान अयोध्या था। ये जाति के कायस्थ थे। मानिक के पूर्व-पुरुष भी कवि थे।

§ १८५. वैतालपचीसी[1] प्राचीन 'वैतालपंचविंशति' का अनुवाद प्रतीत होता है, वैसे भाषा-कार ने कई प्रसंगों को अपने ढंग पर कहा है जिसमें मौलिक उद्भावना भी दिखाई पड़ती है। आरम्भ का अंश नीचे उद्धृत किया जाता है :

> सिर सिंदूर बरन मैमंत, विकट दन्त कर फरसु गहन्त
> गज अनन्त नेवर झंकार, मुकुट चन्द अहि सोहै हार
> नाचत जाहि धरनि धमसमसे, तो सुमरिन्त कवितु हुलसे
> सुर तैंतीस मनावैं तोहि, मानिक भने बुद्धि दे मोहि
> पुनि सारदा चरन अनुसरों, जा प्रसाद कवित्त उचरों
> हंस रूप ग्रंथ जा पानि, ता को रूप न सकौं बखानि
> ताको महिमा जाइ न कही, कुरि कुरि माइ कन्द मा रही
> तो पसाइ यह कवितु सिराइ, जा सुवरनों विक्रम राइ

मानिक की भाषा शुद्ध ब्रज है। अयोध्या का कवि मानसिंह तोमर की सभा में जाकर ब्रजभाषा काव्य करने लगता है। जिस दिन 'संघई खेमल' ने मानिक कवि का राजा मानसिंह से परिचय कराया और वैताल पचीसी लिखने की आज्ञा मिली, उसी दिन काव्य आरम्भ हो गया—भाषा ब्रज है जो इस बात की सूचना देती है कि उस समय भी अवध में उत्पन्न किसी कवि के लिए ब्रजभाषा में काव्य लिखना सहज व्यापार था। यह स्थिति ब्रजभाषा की सर्वप्रियता और व्यापक मान्यता की पुष्टि करती है।

कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०)

§ १८६. कवि ठक्कुरसी की सूचना पहली बार प्रकाशित की जा रही है। आमेर भण्डार के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इस कवि का नामोल्लेख मात्र हुआ है।[2] इनकी तीन रचनाओं का पता चला है जो (१५५०–७८ संवत्) के बीच लिखी गई हैं। ठक्कुरसी

---

१. प्रति कोसीकलाँ, मथुरा के पं० रामनारायण के पास सुरक्षित।

२. राजस्थान के जैन शास्त्र भाण्डारों की ग्रन्थ-सूची—

(१) पार्श्वनाथ सकुन सत्तावीसी पृ० ८७

(२) गुणवेलि १८

(३) नेमिराजमतिवेलि १५२

जैन लेखक थे। कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका। विक्रमी संवत् १५५० में उन्होंने पंचेन्द्रियवेलि या गुण-वेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। पंचेन्द्रियवेलि की अंतिम पंक्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

> कवि घेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी भावो।
> ते वेलि सरस गुन गायो, चित चतुर पुरख समुझायो ॥३५
> संवत् पन्द्रह सौ पंचासो, तेरस सुदि कातिग मासो।
> इ पाँचो इन्द्रिय वस राखै, सो हरत धरत फल चाखै ॥३६

'इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त। संवत् १६८८ आसोज वदि दूज, सुकुर वार लिखितम जोतावारणी आगरा मध्ये।'

घेल्ह सम्भवतः ठक्कुरसी के पिता का नाम था। पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अन्त में 'घेल्ह नंदणु ठक्कुर सी नाँव' यह पंक्ति आती है। किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय वेलि में इन्द्रियों के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें संयमित रखने की चेतावनी दी है। लेखक की भाषा प्रायः व्रज है। किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है।

> केलि करन्तो जन्म जलि गाल्यो लोभ दिवालि।
> मीन मुनिप संसार सर सौं काढ्यो धीवर कालि ॥
> सो काढ्यो धीवर कालि, दिगाल्यो लोभ दिवालि।
> मछि नीर गहीर पईठै, दिठि आइ नहीं तहँ दीठै ॥
> इहि रसना रस के घाले, थल आइ मुवै दुष साले।
> इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
> इहि रसना रस के ताईं, नर मुसै बाप गुरु भाई।
> घर फोडे मारे बाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
> मुखि झूठ साच यहु बोले, घरि छंडि देसाउर डोलै।
> इहि रसना विषय अकारी, वसि होईं भोगनि मारी ॥
> जिन जहर विषै वस कीते, तिन्ह मानुष जनम विगूते।
> कवंलिय पइट्ठो भँवर दल, प्राण गन्ध रस रूढ़ि ॥
> रैनि पड़ी सो संकुर्यौ नीसरि सक्यो न मूढ़ि।

ठक्कुरसी ने नेमि राज-मति के प्रेम-प्रसंग पर भी एक वेलि की रचना की है। इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथसकुन सत्तावीसी है।

छिताई-वार्ता

§ १८७. छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १६४१-४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई। उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८८ विक्रमी उल्लिखित है। खोज रिपोर्ट में छिताई चरित

के लेखक श्री रतनरङ्ग बताये गये हैं, रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं है। १६४२ ईस्वी में विशालभारत के मई अङ्क में नाहटा-बन्धु श्री अगरचन्द और भँवरमल ने 'छिताई-वार्ता' की सूचना प्रकाशित की और बताया कि उक्त रचना के लेखक कवि नारायणदास हैं। प्रति का लिपिकाल १६४७ विक्रमी है। ईस्वी सन् १९४६ में नागरीप्रचारिणी के खोज विभाग के कार्यकर्ता श्री बटेकृष्ण ने 'छिताई चरित' पर एक निबन्ध प्रकाशित कराया जिसमें इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्त्व पर विचार किया गया।[1]

यह छिताई वार्ता और चरित मूलतः एक ही ग्रन्थ के दो भिन्न नाम हैं, जैसा कि श्री बटेकृष्ण ने अपने निबन्ध में स्वीकार किया। डा० माताप्रसादगुप्त ने इस ग्रन्थ की उपलब्ध दोनों प्रतियों का निरीक्षण करके इसके रचनाकाल और रचयिता के बारे में अपना विचार 'छिताई वार्ता : रचयिता और रचनाकाल' शीर्षक निबन्ध में प्रकाशित कराया।[2] नाहटा बन्धुओं द्वारा सङ्कलित प्रति उन्हीं के अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित है जिसके आरम्भिक पाँच-पत्र त्रुटित हैं। पुस्तक के अन्त में यह पुष्पिका दी हुई है।

'छिताई वारता समाप्त श्री संवत् १६४७ वर्षे माघ वदी ६ दिने लिखितं बेला करम सी, साहराय जी पठनार्थं। शुभम् भवतु।' इस प्रति में कई स्थानों पर नरायनदास-भणिता से युक्त पंक्तियाँ मिलती हैं। 'कवियन कहै नरायन दास' यह अर्धाली कई बार प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार कई पंक्तियों में कवि नाम की तरह रतनरंग शब्द का प्रयोग भी हुआ है। दोनों ही प्रतियों में छन्द १२८, १४३, ५४२, ६६० आदि में नारायनदास का नाम दिया हुआ है, साथ ही छन्द १६०, २६६ में ग्रन्थकर्ता के रूप में रतनरंग का नाम आता है। इस प्रकार एक ही ग्रन्थ में दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थकर्ताओं के नाम एक नई समस्या उत्पन्न करते हैं। पाठ विशेषज्ञ डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने निबन्ध में इस समस्या का समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। 'छिताई वार्ता' की उक्त संवत् १६४७ की प्रति (जो प्राचीनतर है) नारायणदास अथवा रतनरंग में से किसी के भी हस्तलेख में नहीं है, अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि ग्रन्थ की रचना-तिथि सं० १६४७ के पूर्व होगी। फिर दोनों प्रतियों का मिलान करने पर ज्ञात होता है कि किसी एक की सारी भूलें और पाठ-विकृतियाँ दूसरी में नहीं हैं, इसीलिए यह भी प्रकट है कि दोनों में से कोई भी दूसरे की प्रतिलिपि नहीं है। फिर भी दोनों में कुछ सामान्य भूलें और पाठ-विकृतियाँ हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि दोनों की कोई, भले ही वह ऊपर की किसी पीढ़ी में हो, सामान्य (उभयनिष्ठ) पूर्वज प्रति थी, जिसमें ये भूलें या पाठ विकृतियाँ हो गई थीं, और इसीलिए ये भूलें या पाठ विकृतियाँ इन दोनों प्रतियों में भी सामान्य रूप से आ गई हैं। किन्तु ये भूलें और पाठ विकृतियाँ इस प्रकार की हैं जो उल्लिखित ग्रन्थकारों नारायनदास अथवा रतनरंग से होना सम्भव न थीं, अतः यह भी मानना पड़ेगा कि इन प्रतियों की यह सामान्य पूर्वज प्रति इनमें से किसी के हस्तलेख में नहीं थी। फिर दोनों प्रतियों के प्रथम लगभग ६८४ छन्दों में नारायनदास की रचना के साथ साथ उसमें किये हुए रतनरंग

---

1. नागरीप्रचारिणी पत्रिका सं० २००३, वैशाख पृ० ११४-१२१
   माघ, पृ० ११०-१२०
2. त्रैमासिक आलोचना, अङ्क १६, नवम्बर १९५५, पृ० ६०-७१

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।[1] इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरंग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरंग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायनदास की रचना की रतनरंग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। संवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूपमें काफी पुरानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरंग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० संवत् ठहरता है, वैसे मेरा अपना अनुमान है कि भावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाध स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरंग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नरायणदास की रचना का समय संवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'[2]

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता व्रजभाषा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खाँ को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानी सेना के आक्रमण और अत्याचार से संत्रस्त प्रजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्ली गया। वहाँ उसने सुल्तान के भाई उलू खाँ को एक लाख टंक प्रदान करके अपना मित्र बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बीत गए—इधर उसकी युवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देश भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार में एक अच्छा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राज कन्या छिताई अंकित चित्रों को देखने आई। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अंकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ़ के राजा

१. रतनरंग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायनदास की रचना को संवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रंग कवियन बुधि लई सभी बिचरी कथा बनई।
गुनियन गुनी नारायन दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

२. त्रैमासिक आलोचना, अंक ११, पृ० ८१

भगवान् नारायण के पुत्र मुरली से हो गया। एक दिन मृगया के समय मुरली मनुहरि के तपोभूमि में आ पहुँचा और उसने हिंसा से विरत करने का उपदेश देनेवाले मुनि की अवज्ञा उपेक्षा की जिससे नारी-वियोग का शाप मिला। चित्रकार ने देवगिरि से लौटकर अलाउद्दीन से छिताई के रूप की प्रशंसा की, चित्र देखकर बादशाह ने ससैन्य देवगिरि को प्रस्थान किया। देवगिरि में देवी-पूजन के अवसर पर छलपूर्वक छिताई को पकड़ लिया गया और बाद में शाह दिल्ली लौट आया। मुरली पत्नी-वियोग में संन्यासी हो गया और चन्द्रगिरि पर योगी चन्द्रनाथ से दीक्षा लेकर गोपीचन्द की भाँति हाथ में वीणा लेकर भिक्षा माँगते इधर से उधर घूमता रहा। दिल्ली में उसके वीणा-वादन से अलाउद्दीन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने रनिवास में छिताई को भी वीणा सुनाने की आज्ञा दी। वीणा वादन के समय व्यथित छिताई के आँसू बादशाह के कन्धे पर गिरे, जिससे उसे शोक हुआ, छानबीन करके सारा हाल मालूम किया और मुरली को छिताई लौटा दी।

कथा की यह मामूली रूपरेखा है लम्बी कथा नाना प्रकार की मार्मिक उद्भावनाओं, प्रेम प्रसंगों और सौन्दर्य-चित्रणों से भरी हुई है।

§ १८६. छिताई वार्ता की भाषा पूर्णतः ब्रजभाषा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने टीका ग्रन्थ पद्मावत में इसे अवधी पुस्तकों की सूची में रखा है।[1] डा० हरिकान्त श्रीवास्तव छिताई वार्ता की भाषा पर लिखते हैं 'इसकी भाषा राजस्थानी है पर कहीं-कहीं डिंगल का पुट भी मिलता है, यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि नाहटा जी से प्राप्त प्रतिलिपि उतनी ही अशुद्ध है जितनी इलाहाबाद म्यूजियम की। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी कुछ ऐसा है कि वास्तविक भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देना दुस्तर कार्य है।'[2] डा० अग्रवाल ने सम्भवतः सर्च रिपोर्ट की सूचना के आधार पर ही छिताई वार्ता को प्रेमाख्यानक की परंपरा में देखते हुए इसे अवधी भाषा का काव्य स्वीकार कर लिया। डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने जरूर दोनों प्रतिलिपियाँ देखीं थीं, जैसा वे कहते हैं, किन्तु उनका भाषा विषयक निर्णय तो इसका प्रतिवाद ही करता है। राजस्थानी और डिंगलका भेद भी वे अभी नहीं निश्चित कर पाए हैं। छिताई वार्ता की भाषा कहीं-कहीं प्रतिलिपि के दोष के कारण अशुद्ध हो सकती है किन्तु ऐसी तोड़ी-मरोड़ी तो बिल्कुल ही नहीं है कि वास्तविक भाषा सम्बन्धी निर्णय देना दुस्तर कार्य हो। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस रचना के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए ठीक ही लिखा है कि यह एक ऐसी रचना है जो हमारी भाषा और साहित्य को महत्त्व प्रदान करती है क्योंकि चन्द और हितहरिवंश-सूरदास के समय में भी ब्रजभाषा और उसके साहित्य के अनुपेक्षणीय अस्तित्व की सूचना देती है। 'छिताई वार्ता' का एक अंश नाहटा जी प्रति से उतार कर मैंने परिशिष्ट में दिया है, भाषा का नमूना उस अंश में देखा जा सकता है। एक दूसरे अंश के पाँच पद नीचे दिये जाते हैं। छिताई में नख-शिख वर्णन देखिये—

> तैं एते सन्तनु गुण हन्यौ, न्याय वियोग विधाता कन्यौ।
> तैं सिर गुंथी जु बेनी भाल, लाजनि गए भुयंग पयाल ॥५४४॥

---

१. पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, झाँसी, २०१२ विक्रमी, पृ० २१

२. भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, काशी १९५५, पृ० २१०

बदनि जोति तैं ससि कर हरीं, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी ।
हरे हरिण लोचन तें नारि, ते मृग सेवैं अजौं उजारि ॥५४५॥
जे गज कुम्भ तोहिं कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए ।
तैं केहरि मंक स्थुल हन्यौ, तो हरि ग्रेह कंदल नीसर्यौ ॥५४६॥
दसन ज्योति ते दारिउँ भए, उदर फूटि हैं दारिउँ गए ।
कमल वास लइ अंग छिपाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥५४७॥
जइ तैं हरी हंस की चाल, मलिन मान सर गए मराल ।
होइ सन्त माननी मान, तजै देस कै छुंडे जान ॥५४८॥

क्रिया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से छिताई वार्ता[1] की भाषा १५वीं शताब्दी की ब्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है ।

थेघनाथ

§ १९०. मानसिंह के शासन-काल में ग्वालियर ब्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था । थेघनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं मालूम होते किन्तु उनके किसी राज-पुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था । थेघनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना खोज रिपोर्ट (१९४४–४६) में प्रकाशित हुई ।[2] इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक संग्रह में सुरक्षित है । इस प्रति का लिपिकाल संवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति संवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादस स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिखी हुई थी जो बाद में जिल्द टूटने से अलग-अलग हो गई । स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'थेघनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है । दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं । देखो प्रति नम्बर २७८।५० । जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग-अलग हो गई हैं ।'[3]

श्री थेघनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ संकेत किया है । विक्रमी १५५७ अर्थात् इस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन मानु, गढ गोपाचल उत्तम थानु ।
मानसींह तिहि दुग्ग नरिन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥४॥
नीत पुँज सो गुन आगरौ, वसुधा रावन को अवतारौ ।
जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै ब्रह्मा जाके हिय शुद्धि ॥५॥
जीभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो थुत मान स्यंध की करै ।
जाकै राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

---

1. पुस्तक प्रकाशित होते होते सूचना मिली है कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छिताई वार्ता नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है
2. १९४४–४६ की रिपोर्ट अभी तक अप्रकाशित है
3. याज्ञिक संग्रह, नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की टिप्पणी

§ १६१. मानसिंह की प्रजापरायणता, उदारता और विद्वत्ता की प्रशंसा करने के बा
कवि अपने आश्रयदाता भानुकुँवर की चर्चा करता है। कवि के वर्णनों से मालूम होता
कि भानुकुँवर कीरतसिंह के पुत्र और राजामानसिंह के विश्वासपात्र राजपुरुष थे। कीर्तिसि
को थेघनाथ राजपुत्र बताते हैं, इससे संभव है कि भानुसिंह भी राज घराने के व्यक्ति थे
थेघनाथ भानुसिंह के विषय में लिखते हैं—

सबही विद्या आहि बहुत, कीरतिसिंह नृपति कैं पूत।
षट दर्शन कै जानै भेव, मानै गुरु अरु ब्रह्मनु देव ॥
समुद समान गहर ता हिये, इक वत पुत्र बहुत तिह किये।
भले बुरे को जाने मर्म, भानुकुँवर जनु दूजौ धर्म ॥
भानुकुँवर गुन लागहिं जिते, मोपे वर्नै जाहिं न तिते।
कै आइबंल होइव घने, बरनै गुन सो भानुहिं तनै ॥
अगनित गुन ता लहै न पारू, कल्प वृच्छ कलि भानुकुमारू।
तिहि तंबोर थेघू कहु दयो, अतिहित करि सो पूछन ठयो ॥

इस कलि कल्पवृक्ष भानुसिंह ने एक दिन अत्यन्त प्रेमपूर्वक कवि थेघनाथ को ताम्बूल-
वीटिका प्रदान की और कहा कि इस संसार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं, सारा विश्व माया
जाल है। ऐसे विश्व में गीता के ज्ञान-बिना मनुष्य शाला में बंधे हुए पशु की तरह निरर्थक
है। इसलिए गीताकथा को छन्दोबद्ध करके लिखो। इस आज्ञा को सुनकर एक क्षण के लिए
कवि मौन बैठा रहा, उसने सोचा शायद मेरे कार्य का लोग उपहास करें किन्तु:

सायर को बेरा करि तरैं, कोऊ जिन उपहासहिं करै
जों मेरे चित्त गुरु के पाय, अरु जो हियँ बसे अनुराग
तो यह मोपै ह्वैहै तैसे, कह्यो कृस्न अर्जुन को जैसे

परिणामतः थेघनाथ ने गीता को भाषा में बद्ध किया। गीता भाषा में प्रायः मूलभाव
को सुरक्षित रखा गया है। कवि ने अत्यन्त सहज और प्रवाहपूर्ण शैली में गीता के मूल विषय
को छन्दोबद्ध किया है। एक अंश नीचे दिया जाता है—

कुल छय भये देखिहै जबहीं, बिनसै धर्म सनातन तबहीं
कुल छय भयौ देखिहै जाई, बहुरि अधर्म होई मन भाई
अबहि कृस्न यह होइ अधर्म, तब वे सुन्दरि करैं कुकर्म
दुष्ट कर्म वे करिहै जबहीं, वर्न संकर कुल उपजै तबहीं
परहिं पितर सब नरक मझार, जो कुटुम्ब घालिये मारि
मारिन को नहिं रच्छक कोई, धर्म गए अपकीरति होई
कुल धर्महिं नर कांडै जबहीं, परै नर्क संदेह न तबहीं
यह मैं वेदव्यास पहिं सुन्यौ, बहुरि पंथ कृस्न सो भन्यौ

गीता भाषा का प्रथम अध्याय परिशिष्ट में दिया हुआ है। थेघनाथ की भाषा
शुद्ध टकसाली ब्रज है। इस काव्य की ब्रजभाषा के व्याकरण में इस पर विस्तृत विचार
किया गया है।

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६२. जनवरी सन् १६३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अगरचन्द नाहटा ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया । मंझन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया । सितम्बर १६५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना-काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया । डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल संवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया । डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना-प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ संकेत मिलते हैं । अन्तिम अंश इस प्रकार है ।

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई ।
एक साथ ब्राह्मन सोई, दूजौ कायथ कुल में होई
एक साथ माधव बह होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई
कायथ नाम चतुर्भुज जाकौ, मारू देस भयौ गृह ताकौ
पहली कायथ कही जब जानी, पाछे माधव उचरी बानी
कछु क यामै चरित मुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी
माधव ता तैं गाइयौ यौं रस पूरन सोय
कौन काम रस स्यौं हु तौ जानत हैं सब कोय
काइथि गाई जानि कै रसक निरसि की बात
नाम चत्रभुज हो भयौ मारू माँहि विख्यात् ।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी संसार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब जानी पाछे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारूदेश में विख्यात हो चुका था।'[1] डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

संवत् सोरै सै बरसि जैसलमेर मझारि ।
फागुन मास सुहावने करी बात विस्तार ॥

'इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि माधव संवत् १६०० में न केवल वर्तमान थे, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके हस्तक्षेप का समय संवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा । उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना-काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। डा० गुप्त इस ग्रंथ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं ।

---

1. चतुर्भुज दास की मधुमालती का रचना काल, कल्पना, सितम्बर १९५४ पृ० २०–२१

इस अनुमान के प्रति सबसे बड़ी शंका 'माधव' को लेकर ही की जा सकती है। डा० गुप्त ने माधवानल काम कन्दला (१६००) से रचनाकार माधव के नाम का संकेत देने वाली पंक्तियाँ उद्धृत नहीं की। १६०० संवत् में लिखे माधवानल कामकन्दला की एक प्रति श्री उमाशंकर याज्ञिक लखनऊ के संग्रहालय में भी बताई जाती है। किन्तु उससे रचनाकार का पता नहीं चलता। यदि यह ग्रन्थ माधव नामक किसी कवि का लिखा मान भी लिया जाये तो शंका की गुंजाइश फिर भी रह जाती है कि क्यों इस माधव को मधुमालती के रचयिता माधव ही माना जाये। इस प्रकार की शंका के निवारण के लिए डा० गुप्त ने माधव दोनों का प्रेमाख्यान लेखक होना बताया है, किन्तु यह बहुत सबल प्रमाण नहीं कहा जा सकता। प्रेमाख्यान लिखनेवाले एक नाम के दो व्यक्ति भी हो सकते हैं।

रचना ब्रजभाषा में है जैसा कि उपर्युक्त पद्यांश से पता चलता है। किन्तु जब तक इस ग्रन्थ के रचनाकाल का निश्चित पता नहीं लग जाता, तब तक इसकी भाषा की प्राचीनता आदि पर भी विचार करने में कठिनाई रहेगी। वैसे भाषा की दृष्टि से यह रचना छिताईवार्ता की भाषा से बहुत साम्य रखती है। और यदि केवल भाषा के आधार पर ही इसके रचनाकाल का निर्णय देना हो तो इसे हम १६ वीं शती के उत्तरार्ध की कृति मान सकते हैं।

चतुर्भुज की मधुमालती का सबसे बड़ा महत्त्व उसके काव्य-रूप का है। आख्यानक काव्यों की इतनी आधार स्फुट विशेषताएँ शायद ही किसी काव्य में एकत्र दिखाई पड़ें। इस रचना की कई प्रतियाँ ग्वालियर में प्राप्त हुई हैं। पूरी रचना सामने आ जाने तथा तिथि-क्रम आदि का पूरा विवरण प्राप्त हो जाने के बाद ही इसकी भाषा और साहित्यिक विशिष्टता का अध्ययन किया जा सकता है।

चतुरुमल

§ १२३. विक्रमी संवत् १५७१ (१५१४ ई० में) कवि चतुरुमल ने नेमिश्वर गीत[1] की रचना की। इस गीत में नेमि और उनकी पत्नी राजल दे के प्रेम प्रसंगों और विरह आदि का वर्णन है। नेमिनाथ के ऊपर कई जैन लेखकों ने अत्यन्त उच्चकोटि के काव्य लिखे हैं। चतुरुमल की रचना बहुत उच्चकोटि की तो नहीं है, किन्तु भाषा और साहित्य की दृष्टि से इसका कुछ महत्त्व अवश्य है।

कवि जैन थे। यशवन्त श्री मल्ल श्रावक के पुत्र थे। ग्वालियर के रहनेवाले थे। कवि ने ग्वालियर नरेश मानसिंह का नाम लिया है जिनके राज्य में प्रजा अत्यन्त सुखी और संतुष्ट थी। जैन लोग अपने धर्म का स्वच्छंदतापूर्वक पालन करते थे।

नेमि देस सुख सयल निधान, गढ़ गोपाचल उत्तिम थान।
एक सोवन की लंका जिसी, तो वर राउ सबल वर किसी॥
भुजबल आपु जु साहस धीर, मानसिंघ जा जानिये वीर।
ताके राज सुखी सब लोग, राज समान करहिं दिन भोग॥
निह्चै चित लावहीं निज धर्म, श्रावग दिन जु करहिं षट कर्म।
संवत् पन्द्रह से दो गनै, गुर उनहत्तरि ता ऊपर भनै॥

---

[1] प्रशस्ति संग्रह, पृ० २३३ प्रति आमेर भाण्डार जयपुर में सुरक्षित

भादो वदि तिथि पंचमी, वार सोम नषत रेवती ।
चन्द मत्र चलु चाहयौ, लगन भली सुम उपजी मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा ब्रज है ।

धर्मदास

§ १६४. जैन कवि थे । इन्होंने संवत् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में धर्मोपदेश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा । इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे बारहसेनी जाति के थे । अपने पूर्व-पुरुषों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल संघ-विख्यात श्रावक बारहसेनी जाति में होरिल साहु नामक पुरुष हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र करमसी जिन के परम उपासक और परमविवेकी दयालु व्यक्ति थे । उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया । प्रशस्ति संग्रह में इनकी रचना के कुछ अंश उद्धृत किये हुए हैं ।[1] ग्रन्थ की रचना के विषय में कवि ने लिखा है—

पन्द्रह सो अठहतरि वरिसु, सम्वच्छर कुवलह कन सरसु
निर्मल वैसाखी अखतीज, बुधवार गुनियहु जानीज
तादिन पूरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पंथ
मंगल कह अरु विघनि हरनु, परम सुख कवियनु कहुं करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी मंगल कामना व्यक्त की है । यह प्रसंग धर्मदास की सहजता और जनमंगल की सदिच्छा का परिचायक है । भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रवाहयुक्त है ।

धन कन दूध पूत परिवार, बाढै मंगल सुवक्षु अपार
मेदिनि उपजहु अन्न अनन्त, चारि मास भरि जल वरषन्त
मंगल बाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहिं मंगल चार
घर घर सीत उपजहु सुक्ख, नासै रोग आपदा दुक्ख
घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहिं आप आचार
नंदउ जिन सासन संसार, धर्म दयादिक चली अपार
नंदउ जिन पडिमा जिन गेह, नंदउ गुन निर्ग्रन्थ अदेह

छीहल

§ १६५. १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर जहाँ सूर और तुलसी जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की गैरिक-वाणी से पवित्र होकर हमारा श्रद्धा-भाजन बना वहीं देव, बिहारी और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण सहृदय व्यक्तियों के गले का हार भी । बहुत से लोग रीतिकालीन शृङ्गार-भावना के साहित्य को

---

१. प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित । पाण्डुलिपि आमेर भंडार, जयपुर में सुरक्षित

भक्तिकाल की आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया भी मानते हैं, यद्यपि १४वीं शताब्दी में विद्यापति ने श्रृङ्गार-भावना से परिप्लुत अद्वितीय कोटि की साहित्य-सृष्टि की, किन्तु उसमें भक्ति भाव का प्रेरणा-स्रोत भी ढूँढ़ा ही गया। इस स्थिति में यदि कवि छीहल की श्रृङ्गारिक रचनाओं का विवेचन हुआ होता तो रीतिकालीन श्रृङ्गार-चेतना के उद्गम के लिए अधिक ऊहापोह करने की जरूरत न हुई होती।

छीहल के बारे में हिन्दी के कई इतिहासकारों ने यत्र-तत्र किंचित् विचार किया है, खास तौर से छीहल की 'पंच सहेली' का उल्लेख पाया जाता है। आचार्य शुक्ल ने छीहल के बारे में बड़ी निर्ममता के साथ लिखा 'संवत् १५७५ में इन्होंने पंच सहेली नाम की एक छोटी सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी मिली भाषा में बनाई जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इनकी लिखी एक बावनी भी है जिसमें ५२ दोहे हैं।'[1] पंच सहेली को बुरी रचना कहने की बात तो कुछ समझ में आ सकती है, क्योंकि इसे रुचि-भिन्नता मान सकते हैं, किन्तु बावनी के बारे में इतने निःसंदिग्ध भाव से जो विचार दिया गया वह ठीक नहीं है। बावनी ५२ दोहे की एक छोटी रचना नहीं है, बल्कि इसमें अत्यंत उच्च कोटि के ५३ छप्पय छन्द हैं।[2] डा० रामकुमार वर्मा ने छीहल की 'पंच सहेली' का ही जिक्र किया है। वर्मा जी ने छीहल की कविता की श्रेष्ठता, निकृष्टता पर कोई विचार नहीं दिया, किन्तु उन्होंने पंच सहेली की वस्तु का सही विवरण दिया। 'इसमें पाँच तरुणी स्त्रियों ने—मालिन, छीपन, कलालिन और सोनारिन प्रोषितपतिका नायिका के रूप में अपने प्रियतमों के विरह में अपने करुण आवेगों का वर्णन अपने पति के व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के उल्लेख और तत्सम्बन्धी उपमाओं और रूपकों के सहारे किया है।'[3] वर्मा जी ने बावनी का उल्लेख नहीं किया। और भी कई इतिहासकारों ने छीहल का नामोल्लेख किया है, पर बावनी की चर्चा प्रायः नहीं दिखाई पड़ती।

§ १९६. छीहल कवि की चार रचनाओं का पता चला है 'आत्मप्रतिबोध जयमाल', पंच सहेली, छीहल-बावनी, पन्थीगीत।[4] इन चारों रचनाओं में मैं शुरू की तीन की प्रतिलिपियाँ ही देख सका। इनमें अन्तिम दो रचनाएँ केवल जयपुर के आमेर भाण्डार में दिखाई पड़ीं और स्थानों पर इनकी सूचना नहीं मिली। पन्थी गीत और आत्मप्रतिबोध जयमाल में कवि का नाम छीहल ही दिया हुआ है, किन्तु पन्थीगीत अत्यन्त साधारण कोटि की रचना है जिसमें जैन-कथाओं के सहारे कुछ उपदेश दिए गए हैं। आत्मप्रतिबोध जयमाल भी मात्र ऐसे कोई जैन धार्मिक ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। शेष दो रचनाओं में श्रृङ्गार और नीति की प्रधानता है, कवि के जैन होने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। वैसे पन्थीगीत और आत्मप्रतिबोध की

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २०००, पृ० ११८
2. आमेर भंडार जयपुर, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर, अभय पुस्तकालय, बीकानेर की चार प्रतियों के आधार पर लेखक द्वारा संपादित इन रचनाओं के कुछ अंश परिशिष्ट में दिए हुए हैं।
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ११४ और ३३४
4. चारों की प्रतियाँ आमेर भाण्डार जयपुर में सुरक्षित हैं।

वस्तु को देखने से लेखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के शुरू के कुछ छप्पयों के प्रथम अक्षर से 'ॐ नमः सिद्ध' बनता है, इससे भी लेखक के जैन होने का पता चलता है।

§ १६७. पंच सहेली के अन्तिम दोहों से मालूम होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ संवत् में लिखा—

सम्वत पनरह पचहत्तरइ पूनिम फागुन मास।
पञ्च सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

चउरासी आगल्ल सइ जु पन्द्रह सम्वच्छर।
सुकुल पक्ख अष्टमी मास कातिग गुरुवासर॥
हिरदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो।
सारद तनइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो॥
नालि गाव सिनाथ सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी बसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल्ल कवि॥

बावनी की रचना १५८४ संवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ९ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नालि गाँव था। पिता शिवनाथ थे जो अग्रवाल वंशीय थे।

कवि छीहल की पंच सहेली आरंभिक रचना मालूम होती है। कवि ने इस छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओं की मर्म-व्यथा को अत्यंत सहज ढंग से व्यक्त किया है। मालिन, तंबोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिन अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये भोली नायिकाएँ अपने दुःख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओं तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिन अपने दुःख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

पहिली बोली मालिनी हम कूं दुक्ख अनन्त।
बालो जोवन छंडि के चलो दिसाउरि कंत ॥१७॥
निस दिन बहइ प्रनाल ज्युं नयनइ नीर अपार।
विरहउ माली दुक्ख का सूभर भरया किंयार ॥१८॥
कमल बदन कुंमलाइया सूकी सुख वनराइ।
पिय विण मुझ इकु पिण बरस बराबर जाइ ॥१९॥
चंपा केरी पंखरी गूँथ्या भवसर हार।
जो एहि पहिरउँ पीव बिनु लागइ अंगु अंगार ॥२२॥

तँबोलिनी कहती है कि हे चतुर, मेरा दुख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

हाथ मरोरउं सिर धुनउं किस सो कहूँ पुकार।
तन दाझइ मन कलमलइ नयन न खंडइ धार ॥२५॥
पान ज्यूँ सब सूख के बेलि गई सब सूकि।
दूभरि रात बसंत की गयो पियारा मूकि ॥२६॥

हियरा भीतर पइसि करि विरह लगाई आग।
प्रिय पानी बिनु ना बुझइ, जलइ सुलगि सुलगि ॥२७॥

दर्जी की पत्नी का सारा शरीर विरह अपनी तीखी कैंची से काट कर दुःख की बखिया देकर सी रहा है, यह भला अपने दुखको क्या कहे ?

तन कप्पड़, दुक्ख कतरनी विरहा दरजी एहु।
पूरा ब्योंत न ब्योंतइ, दिन दिन काटइ देहु ॥३२॥
दुक्ख का तागा बीटिया सार सुइ कर लेइ।
चीनजि बंधइ काय करि नाना बखिया देइ ॥३३॥
देहीं मदनै यौं दहीं देइ मजीठ सुरंग।
रस लीयो अंवटाइ कइ वा कस कीयो अंग ॥३४॥

कलालिन का पति तो उसके शरीर को विरह-भट्टी पर चढ़ा कर अर्क ही बना रहा है—

मो तन भाटी ज्यूँ तपइ नयन चुवइ मदधार।
विनही अवगुन मुझ सूँ कसकरि रहा भरतार ॥३६॥
माता योवन फाग रति परम पियारा दूरि।
रली न पूजै जीव की मरउं विसूरि विसूरि ॥४२॥

सुनारी के विरह ने तो उसका 'रूप' (सौन्दर्य) और सोना (नींद) दोनों ही चुरा लिया। उसके शरीर को विरह के काँटे पर तौल कर जाने उसे क्या सुख मिला।

विरहै रूप चुराइया सोन हमारा जीव।
कासुं पुकारूँ जाइकै जो घर नाहीं पीव ॥४८॥
तन तौले काँटउ धरी देयइ कसि रक्खाइ।
विरहा अंग सुनार जूँ धरइ फिराइ फिराइ ॥४९॥

छीहल ने पाँचों सहेलियों के इस विरह-दुःख को बड़ी सहानुभूति के साथ सुना, सान्त्वना देकर वे लौट आए, दूसरी बार जब वे फिर पहुँचे तो सारा समा बदल चुका था।

मालिन का मन फूल ज्यूँ बहुत विगास करेइ।
प्रेम सहित गुंजार करि प्रिय मधुकर रस लेइ ॥५८॥
चोली खोलि तँबोलिनी काढा गात्र अपार।
रंग किया बहु पीव सूँ नयन मिलाये तार ॥५९॥

छीहल की पञ्च सहेली १६वीं शती का अनुपम शृंगार-काव्य है, इस प्रकार का विरह वर्णन, उपमानों की इतनी स्वाभाविकता और ताजगी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। संभवतः शुक्ल जी ने बिना पूरे काव्य को देखे आरम्भ के दो चार दोहों की सूचना के आधार पर ही उसे सामान्य कोटि की रचना कह दिया।

इस पुस्तक की भाषा पर कुछ विचार करना आवश्यक है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर की चारों प्रतियाँ[1] अत्यन्त स्पष्ट और सुवाच्य हैं।

---

1. प्रतियों का नम्बर अनूप संस्कृत लाइब्रेरी कैटलाग के राजस्थानी सेक्शन में दिया हुआ है। राजस्थानी सेक्शन की सूची शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है।

(१) पंच सहेली री बात (नम्बर ७८, छंद संख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-काल १७१८ सं०)।

(२) पंचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७-७६)।

(३) पंचसहेली री बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ संस्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं।

(४) पंचसहेली री बात (नम्बर ७७) पत्र ९८-१०२। लिपिकाल १७४६ सं०।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है। आमेर भांडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इसे लिपिकर्ता की विशेषता मान सकते हैं। वैसे कई प्रतियों में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पञ्च सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है। राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न>ण में तथा भूतकालिक क्रिया के आकारान्त रूपों में दिखाई पड़ता है। चुराइया (४८) काढ्या (५६) बीटिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि में। किसी किसी प्रति में ये ही क्रियायें ओकारान्त भी दिखाई पड़ती हैं। प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं। सहेलियाँ (६), प्रवालियाँ (१२) यौवनवालियाँ (१३) आदि। बाकी प्रयोग पूर्णतः ब्रजभाषा के ही हैं।

बावनी

§ १९८. कवि छीहल की बावनी भाषा और भाव दोनों के परिपाक का उत्तम उदाहरण है। नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नहीं हुआ है इसीलिए प्रायः उसकी कविता में नीति की एक नए ढंग से तथा नए भावों के साथ अभिव्यक्ति हुई है। रचना के अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं। इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि।
करि रासभ आरूढ धरि आनियो गुण भरि॥
देकरि लत्त प्रहार मूड गहि चक्क चढ़ायो।
पुनरपि हाथहिं कूट धूप धरि अधिक सुखायो॥
दीनी अगिनि छीहल कहै कुंभ कहै हउँ सह्यां सब।
पर तरजि याह टकराइणे ये दुखसालै मोंहि अब॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझ-कर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चलती रही। भाषा ब्रज है, आगे बावनी की भाषा पर संयुक्त रूप से विचार किया गया है।

वाचक सहज सुन्दर

§ १९९. ये जैन कवि थे। इन्होंने संवत् १५८२ में यतनकुमार रास[1] की रचना की। ग्रंथ का रचनाकाल कवि के शब्दों में ही इस प्रकार है।

> सम्वत् पनरै बयासीइ संवछरि ये रची तुम्ह रास रे।
> वाचक सहज सुन्दर इमि बोले आनु बुद्धि प्रकास रे॥

रचना बहुत ही सुन्दर और सरस है।

> सरसति हंस गमन पय पणमूं अविरल वाणि प्रकास रे।
> विनता नगरी थी रिसहेसर भाख्यी सुक्ख विकास रे॥१॥
> संगत साधु सवे नयीजइ पूरइ मनह जगीस रे।
> गुरु गुण रतन समुद्र भरउं जिमि विद्या लइ रितु रंग रे॥२॥
> बिनु गुरु पंथ न लहीयइ गुरु जग माहि प्रदृम्न रे।
> माता पिता गुरुदेव सरीखा सीख सुनो नर नाहि रे॥३॥
> हंस पपइ जिमि मान सरोवर राज पपइ जिमि पाट रे।
> सांभर को जल विण जिम लोयण गरथ पपइ जिमि हाट रे॥४॥
> विण परमल जिम फूल करंडी सील पपइ जिमि गोरी रे।
> चन्द्रकला पखि जिम रयणी, ब्रह्म जिसिय विण वेद रे।
> मारग पुण्य पवित्र तिमि गुरु बिन, कोइ न बूझे भेद रे॥६॥

भाषा पर किंचित अपभ्रंश और राजस्थानी प्रभाव भी है, वैसे ब्रज ही है।

---

[1] प्रतिलिपि, अभय पुस्तकालय, बीकानेर में श्री नाहटा के पास सुरक्षित।

गुरुग्रन्थ में व्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० सं० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अन्न-वस्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायुषी रही हैं, वहीं नित-प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है। सौभाग्यवश संवत् १६६१ में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कराकर इन्हें धर्म-ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गई। इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ साहब में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, फरीद, नानक और मीरां का नाम सम्मिलित है। इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और न्यून। इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियों के अत्यन्त संक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ २०१. नामदेव—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त कवि *नामदेव* का आविर्भाव-काल १४वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। डा० भंडारकर के अनुसार इनका जन्म नरसी-बमनी (सतारा) में एक दर्जी परिवार में संवत् १३२७ अर्थात् ईस्वी १२७० में हुआ।[1] नामदेव साधुओं के सत्संग में रहने वाले भ्रमण-प्रिय सन्त थे। ज्ञानेश्वर जैसे प्रतिष्ठित महात्मा के साथ इन्होंने देश-भ्रमण किया। कहा तो यह भी जाता है कि इन्होंने जीवन के अन्तिम काल में पंजाब को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया था। ८० वर्ष की अवस्था में ईस्वी सन् १३५० में इनकी मृत्यु हुई।[2] नामदेव के जीवन के साथ कई चमत्कारिक घटनायें भी लिपटी हुई हैं।[3]

अत्यन्त व्यापक पर्यटन करने वाले नामदेव की भाषा में कई प्रकार के भाषिक-तत्वों का समिश्रण अनिवार्य था। १४ वीं शताब्दी में उत्तर भारत में प्रचलित भाषाओं की एक सूची हमने पिछले अध्याय में प्रस्तुत की है।[4] इसमें पिंगल, अपभ्रंश के कुछ परवर्ती रूप, पुरानी राजस्थानी तथा कई प्रकार की जनपदीय बोलियों की स्थिति का विवेचन हो चुका है। नामदेव की भाषा पर इन भाषाओं का किसी-न-किसी रूप में प्रभाव दिखाई पड़ता है। १४ वीं शती में मध्यदेशीय आरम्भिक खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी आदि के मिश्रण से रेख़ता हिन्दी का निर्माण हो रहा था। जिसे बाद में दक्खिनी हिन्दी और दिल्ली के पिछले खेवे के उर्दू कवियों की हिन्दुई या हिन्दवी का अभिधान भी प्राप्त हुआ। इस रेख़ता में पंजाबी भाषा के तत्त्व भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। नामदेव की हिन्दी रचनाओं का एक संग्रह '*सकल सन्तगाथा*' नाम से पूना से प्रकाशित हुआ है,[5] किन्तु इस संकलन में संगृहीत रचनाओं की प्राचीनता सन्दिग्ध है। नामदेव की रचनाओं में जो गुरु ग्रन्थ साहब में संकलित है,[6] आधी करीब इसी मिश्रित रेख़ता या आरम्भिक खड़ी बोली की रचनाएँ हैं। इस प्रकार की भाषा का एक पद नीचे दिया जाता है।

माइ न होती बाप न होता करमु न होती काइया।
हम नहीं होते तुम नहीं होते कवनु कहाँ ते आइया ॥१॥
राम न कोई न किस ही केरा, जैसे तरुवर पंषि बसेरा।
चन्द न होता सूर न होता पानी पवणु मिलाइया।
सासतु न होता वेद न होता करमु कहाँ ते आइया ॥२॥
पेचर भूचर तुलसी माला गुर परसादी पाइया।
नामा प्रणवै महतम ततु है सत गुरु होइ लषाइया ॥३॥

---

१. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रीलिजस सिस्टम्स, पृ० ९२।
२. एम० ए० मैकालिफ्—दि सिख रिलीजन, भाग ६ पृ० ३४।
३. नाभादास कृत भक्तमाल का 'नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही' छप्पय पृ० ३०१।
४. देखिए § ८४
५. नामदेव और उनकी हिन्दी कविता, श्री विनयमोहन शर्मा, विश्वभारती खण्ड ६ अंक २ सन् १९४७ ईस्वी
६. नामदेव के ६१ पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं।

प्रायः ब्रह्म की निराकार-भावस्थिति, पाखंड-खंडन, शास्त्र-वेद की असमर्थता, साधु के फक्कड़ जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रद्युम्न चरित, हरीचंदपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—बदहु किन होड माधउ मोसिउ
ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर खेल परिउ है तोसिउ
आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा
जल ते तरंग तरंग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥
आपहिं गावै आपहिं नाचै आप बजावै तूरा
कहत नामदेउ तूँ मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥

२—मैं बउरी मेरा राम भतारु रचि रचि ताकउ करउ सिंगार
भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोग।
तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥
बाद-बिवाद काहु सिउ न कीजै, रसना राम रसाइनु पीजै।
अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान बजाई ॥३॥
उस तति निन्दा करे नरु कोई, नामे श्री रंगु भेटल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। माधउ>माधौ, मो सिउ>मो सौं, परिउ>पर्यो, तोसिउ>तो स्यों, सुनन कउ>सुनन कौं, करउं>करौं, निदउं>निंदौं में उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसर्गों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में व>उ को परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिये सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा में बउरी <बाउल< व्याकुल, नामदेउ<नामदेव, देउ<देव, माधउ<माधव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताकउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मराठी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, खास तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है। यह ब्रजभाषा के विकास और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी द्योतक है।

§ २०३. त्रिलोचन—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवन वृत्त की कोई सविस्तार सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्कुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,[1] पंढरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

---

1. आउट लाइन आव द रीलिजस लिटरेचर इन इण्डिया, पृ० २९०–३००।

सिक वार्तालाप सम्बन्धी कुछ दोहे उपलब्ध होते हैं। त्रिलोचन साधारण कोटि के रचनाकार थे, इनके केवल चार पद गुरुग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं।[1] त्रिलोचन की रचनाओं की भाषा शुद्ध ब्रज नहीं है। इनमें रेखता शैली की हिन्दी का प्राधान्य है। ब्रजभाषा के कुछ रूप भी मिले हुए दिखाई पड़ते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है जो भाषा की दृष्टि से ब्रज के ज्यादा नजदीक मालूम होता है।

> अन्त कालि जो लछमी सिमरै ऐसी चिन्ता महि जे मरै।
> सरप जोनि वलि वलि अउतरै ॥१॥
> अरी बाई गोविन्द नाम मति बीसरै।
> अन्त कालि जो इसत्री सिमरे, ऐसी चिन्ता महि जे मरे।
> वेसवा जोनि वलि वलि अउतरे ॥२॥
> अन्त काल जो लड़िके सिमरे ऐसी चिन्ता महि जे मरे।
> सूकर जोनि वलि वलि अउतरे—आदि

§ २०४. जयदेव—संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव के दो पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। हालाँकि बहुत से विद्वान् यह स्वीकार नहीं करते कि गुरुग्रन्थ साहब के जयदेव और संस्कृत के गीतकार जयदेव एक ही व्यक्ति हैं। इस आशंका का सबसे बड़ा कारण यह माना जाता है कि गुरुग्रन्थ साहब के पद, भावभूमि और शैली की दृष्टि से गीतकार जयदेव की संस्कृत रचनाओं से मेल नहीं खाते। इन पदों में निर्गुण भक्ति का प्रभाव स्पष्ट है साथ ही शैली की दृष्टि से भी ये उतने सहज और श्रेष्ठ नहीं हैं। हमने प्राकृतपैंगलम् के वस्तु विवेचन के सिलसिले में कुछ कविताएँ उद्धृत की हैं जो जयदेव के गीत गोविन्द के श्लोकों के सिंगल रूपान्तर हैं (देखिए § ११०)। इन रचनाओं में दशावतार की स्तुति, कृष्ण-राधा के प्रेम-प्रसंग चित्रित हुए हैं, साथ ही भाषा और छन्द दोनों ही दृष्टियोंसे ये कवितायें जयदेव की संस्कृत उपलब्धियों की तुलना कर सकती हैं। गीत गोविन्द के आधार पर यह कहना ठीक न होगा कि जयदेव निर्गुण-भक्ति से प्रभावित काव्य नहीं कर सकते। निर्गुण और सगुण भक्ति का मध्यकालीन विभेद भी १२वीं शती के जयदेव के निकट बहुत महत्त्व नहीं रखता। इन दो पदों में से एक की भाषा और शैली तो प्राकृत पैंगलम् की भाषा और शैली से अत्यधिक साम्य रखती है। उदाहरण के लिए हम जयदेव का वह पद, साथ ही प्राकृत पैंगलम् की एक कविता नीचे उद्धृत करते हैं—

> चंदसत भेदिया नादसत पूरिया सूरसत षोडसादतु कीया।
> अबल बलु तोड़िया अचल चलु थप्पिया अघडु घडिया तहाँ अपिउ पीया ॥१॥
> मन आदि गुण आदि वखाणिया, तेरी दुविधा दृष्टि संमानीया।
> अरधिकउ अरधिया सरधिकउ सरधिया
> सललिकउ सललि संमानि आइया।
> बदति जै देव जैदेव कउ रंमिया।
> ब्रह्म निरवाणु लवलीण पाइया ॥२॥

---

1. सिरी राग पद १ पृष्ठ ९१, राग गूजरी पद १–२ पृ० ५२५–५२६, रागधनासरी पद १ पृ० ६९९।

प्राकृत पैंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

> जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहिं दंतहिं ठाउ धरा।
> रिउवच्छ वियारे छलतणु धारे वंधिअ सत्तु सुरज्ज हरा॥
> कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कंसअ केसि विणास करा।
> करुणा पयले मेछह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा॥
> (प्राकृत पैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अक्षरशः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पिंगल अवहट्ठ में अनुवाद किया होगा किन्तु अव्वल तो प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है। जो भी हो प्राकृत पैंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणिता से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य–इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कवितायें प्रारम्भिक ब्रजभाषा अथवा पिंगल अपभ्रंश में भी लिखीं थीं।

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७९–१२०५ ईस्वी माना जाता है। भागवत की (दशम स्कंध ३२।८) भावार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे।[2] जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है :

> वाचः पल्लवयुमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
> जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतः।
> शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनः
> स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः क्ष्मापतिः॥
> (गीत० १।४)

इस श्लोक में आये कवियों का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है।[3] कुछ लोग जयदेव को उड़ीसानरेश कामार्णवदेव (११६६–१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७–३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं।

---

१. राग मारू, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन संस्करण।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमंत्रिवरेणोमापतिधरेण सहः (दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)

३. रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बाँकीपुर १८१० पृ० १२

जयदेव के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि उन्होंने वृन्दावन की यात्रायें की थीं, न भी की हों, तो भी १४ वीं शताब्दी में पिंगल या प्राचीन ब्रज का इतना प्रचार था कि बंगाल के कवियों ने भी इसमें रचनायें कीं। विद्यापति की कीर्तिलता और मिश्री के पदों की भाषा इसका प्रमाण है। जयदेव के केवल इन दो पदों के आधार पर भाषा का निर्णय करना उचित नहीं मालूम होता, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह भाषा अत्यन्त विकृत, टूटी-फूटी और अव्यवस्थित होनेके बावजूद प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्वों पर आधारित है। पहले उद्धृत किये गये मारू राग वाले पद में क्रिया रूप प्रायः आकारान्त हैं जो ब्रज की मूल प्रवृत्ति के मेल में नहीं हैं किन्तु उकारान्त प्रातिपदिक, कउ > कौ परसर्ग, आदि ब्रजभाषा के प्रभाव की सूचना देते हैं। इन पदों में पाये जाने वाले ब्रज प्रभावों को ही लक्ष्य करके डा० चाटुर्ज्या ने कहा था कि ये पद पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश के मालूम होते हैं।[1]

§ २०५. बेणी—बेणी के बारे में कोई विशेष संधान नहीं हो सका है। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने अपने एक पद में बेणी की चर्चा की है। उक्त संदर्भ में केवल बेणी कवि के विषय में इतना ही मालूम होता है कि बेणी को अपने सद्‌गुरु की कृपा से प्रकाश (ज्ञान) प्राप्त हुआ।[2] श्री परशुराम चतुर्वेदी इन्हें नामदेव से भी पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में हैं क्योंकि वे बेणी की भाषा को नामदेव से पुरानी बताते हैं।[3] बेणी की भाषा वस्तुतः पुरानी है नहीं, अत्यधिक भ्रष्टता से उत्पन्न दुरूहता के कारण ही यह ऐसी लगती है। नामदेव की भाषा से कई अर्थोंमें यह परवर्ती लगती है। उदाहरण के लिए उनका एक पद लीजिए—

> इड़ा पिंगुला अउर सुखमना तीन बसहिं एक ठांई
> बेणी संगमु तंह पिरागु मनु मजन करे तिथाई
> संतहु तहाँ निरंजन राम है, गुर गमि चीन्है बिरला कोइ
> तहाँ निरंजन रमइया होइ ॥१॥
> देव स्थाने कीया निसाणी, तहं बाजे सबद अनाहद बाणी।
> तहँ चन्द न सूरजु पउणु न पाणी, साखी जाकी गुरु मुख जाणी।
> उपजै गियान दुरमति छीजै, अमृत रस गगन सरि भीजै।
> एसु कला जो जाणै भेउ, भेटै तासु परम गुर देउ ॥२॥
> दसम दुआरा अगम अपारा परम पुरुष की घाटी।
> ऊपरि हाट हाटु परि आला, आले भीतर थाटी ॥४॥
> जागतु रहै सो कबहु न सोवै, तीन तिलोक समाधि पलोवै।
> बीज मंत्र लै हिरदै रहै, मनूआ उलटि सुन महि गहै ॥५॥

यह भाषा नामदेव से परवर्ती ही कही जायेगी। न तो नामदेव की भाषा की तरह इसमें उद्‌वृत्त स्वर की सुरक्षा दिखाई पड़ती है और न तो अपभ्रंश के उतने अधिक अवशिष्ट

---

१. ओरीजिन एँड डेवलेपमेन्ट आव द बेंगाली लैंग्वेज पृ० १२१।

२. बेणी कउ गुरु कीउ प्रगासु रे मन तभी होई दास
राग महला ५ गुरग्रन्थ पृ० १६६२।

३. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० १०४।

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा ब्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किंचित् छाप भी दिखाई पड़ती है।

§ २०६. सधना—संत सधना के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिंध) में हुआ था। मेकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और ज्ञानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में संत सधना से एलौरा की कंदरा के निकट मुलाकात हुई थी।[1] इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका अविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, मांस बेचना पुश्तैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।[2]

> नृप कनिया के कारने इकु भइया भेषधारी।
> कामारथी सुआरथी वाकी पैज सँवारी ॥१॥
> तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।
> सिंह सरन कत जाइये जउ जंबुक ग्रासै ॥२॥
> एक बूँद जल कारने चात्रिक दुख पावै।
> प्रान गये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥३॥
> प्रान जो थाके थिरु नहीं कैसे बिरमावउं।
> बूँड़ि मुवै नउका मिलै कहु काहि चढ़ावउं ॥४॥
> मैं नाहीं कछु हउं नहीं किछु आहि न मोरा।
> अउसर लज्जा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन ब्रज के कई चिह्न दिखाई पड़ते हैं। जउ>जो, नउका>नौका, बिरमावउ>बिरमावौ, चढ़ावउ>चढ़ावौं आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७. रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन-वृत्त सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कवियों और उनके कुछेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक कम प्रशंसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।[3] यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढ़ी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत ज्यादा मालूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुछ और प्रमाणों से इसकी

---

१. मैकलिफ : दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० ३२
२. राग बिलावल पद १, पृ० ८५८
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१

पुष्टि होती है। श्री परशुराम चतुर्वेदी रामानन्द को रामानुजाचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न बताते हैं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'रामार्चन पद्धति में रामानन्द जी ने अपनी गुरु-परम्परा दी है उसके अनुसार रामानुजाचार्य जी रामानन्द जी से चौदह पीढ़ी ऊपर थे, अब चौदह पीढ़ियों के लिए यदि हम ३०० वर्ष रखें तो रामानन्द जी का समय वही (१५ वीं का चतुर्थ चरण) आता है।'[1] अगस्त्य संहिता में रामानन्द का जन्म कलियुग के ४४०० वें वर्ष में होना लिखा है जो १३५६ विक्रमी संवत् में पड़ेगा। कबीर के नाम से प्रसिद्ध एक पद में रामानन्द की चर्चा आती है हालाँकि श्री परशुराम चतुर्वेदी के मत से,[2] 'कबीर साहब की उपलब्ध प्रामाणिक रचनाओं में स्वामी रामानन्द का नाम कहीं भी नहीं आता, कबीर-पन्थियों के मान्य धर्म ग्रन्थ बीजक में एक स्थल पर रामानन्द शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है।'[3] चतुर्वेदी जी बीजक की प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त करते हैं और निम्नोद्धृत पद में रामानन्द का अर्थ स्वामी रामानन्द समझने को उचित नहीं मानते, किन्तु कबीर के इस प्रकार के प्रयोगों की प्रामाणिकता वहीं सन्दिग्ध होनी चाहिए जहाँ उनमें साक्षात् गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, क्योंकि रामानन्द कबीर के पहले एक प्रसिद्ध सन्त हो चुके थे, इसलिए उनकी रचनाओं में रामानन्द की चर्चा मिलना ही अप्रामाणिक नहीं हो जायेगा। रामानन्द के एक शिष्य सेन भी माने जाते हैं। सेन के एक पद में रामानन्द की चर्चा आती है।[4] सेन का समय भी विवादास्पद है। भक्तमाल सटीक में. रामानन्द की जन्मतिथि संवत् १३५६ दी हुई है। इसके अनुसार स्वामी श्री १०८ रामानन्द जी दयालु प्रयागराज में कश्यप जी के समान भगवद्धर्म युक्त बड़भागी कान्यकुब्ज ब्राह्मण पुण्य सदन के घर विक्रमीय संवत् १३५६ के माघ कृष्ण सप्तमी तिथि में सूर्य के समान सबों के सुखदाता सात दण्ड दिन चढ़े चित्र नक्षत्र सिद्धयोग लग्न में गुरुवार को श्री सुशीला देवी से प्रगट हुए।[5] डा० आर० जी० भण्डारकर भी इस तिथि को प्रामाणिक मानते हैं।[6]

§ २०८. कहा जाता है कि रामानन्द जी की हिन्दी और संस्कृत में कई रचनाएँ थीं। किन्तु उनके नाम पर गिनाये जानेवाले ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है। हिन्दी में इनकी बहुत कम रचनायें प्राप्त होती हैं। डा० बड़थ्वाल ने योगप्रवाह में उनकी कुछ रचनायें दी हैं। हाल ही में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 'रामानन्द की हिन्दी रचनायें' शीर्षक एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई है।[7] इस पुस्तक में रामानन्द की राम रक्षा, ज्ञान लीला, हनुमान् जी की आरती, योग

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ११८, संवत् २००७ काशी
२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० २२५
३. रामानन्द राम रस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।
    —बीजक शब्द ७७।
४. रामभगति रामानन्द जानै, पूरन परमानन्द बखानै—ग्रन्थ साहब, धनाश्री।
५. भक्तमाल सटीक, पृ० २७३
६. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स्, पृ० ६६।
७. रामानन्द की हिन्दी रचनायें, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, संवत् २०१२

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पद्ममात्रा, भगति जोग, रामाष्टक आदि रचनायें संकलित की गई हैं। पुस्तक में स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के लिखे हुए कुछ महत्वपूर्ण लेख भी संगृहीत हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबन्धों में डा० बड़थ्वाल ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण-काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सांस्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बन्धी घटनाओं का संकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में संकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित खड़ी बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि बिनु जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई धन मद अंधमति सोयो रे॥
अति उतंग तरु देखि सुहायो सैंवल कुसुम सुवा सेयो रे।
सोई फल पुत्र कलत्र विषै सु अति सीस धुनि-धुनि रोयो रे॥
सुमिरन भजन साधु की संगति अंतरमन मैल न धोयो रे।
रामानन्द रतन जम त्रासै श्रीपत पद गहे न जोयो रे॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

मूरष तन धरि कहा कमायौ, राम भजन बिनु जनम गमायौ।
राम भगति गति जाँणी नाहीं, भंदूँ भूलौ धंधा माँही॥
मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कबू न करियौ।
नारी सेती नेह लगायौ, कबहूँ हिरदै राम नहिं आयौ॥
सुप माया सूँ परो पियारो, कबहूँ न सिंवर्यो सिरजन हारौ।
स्वारथ माहि चहूँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कबहूँ न गायौ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग बसंत

कत जाइयै रे घर लागो रंग मेरा चितु न चलै मन भइउ पंगु।
एक दिवस मन भई उमंग घसि चोआ चन्दन बहु सुगंध।
पूजन चाली ब्रह्म ठांइ, सो ब्रह्मु बताइउ गुरु मन ही मांहि॥१॥
जहाँ जाइये तँह जल पखान, तू पूरि रहिउ है सम समान।
बेद पुरान सब देखे जोइ उहाँ तउ जाइयें जउ इहाँ न होइ॥२॥
सतगुर मैं बलिहारी तोर जिनि सकल बिकल भ्रम काटे मोर।
रामानन्द सुआमी रमत ब्रम, गुरु का सबद काटै कोटि करम॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुष्ट है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया-पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो > लाग्यौ (ब्रज) ओकारान्त है

प्राचीन ब्रज के रूपों की तरह इसमें ओ-कारान्त विकास नहीं है। भइउ>भयौ, बताइउ>बतायौ, रहिउ>रह्यो में पुराने चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। भाषा नामदेव के पदों की ब्रजभाषा की तरह ही शुद्ध और प्राचीन है।

§ २०२. कबीर

मध्ययुग की मुमूर्ष सांस्कृतिक चेतना को पुनरुज्जीवित करने वाले सन्तों में कबीर का स्थान निर्विवाद रूप से मूर्धन्य है। उन्होंने अपने अद्वितीय व्यक्तित्व और अप्रतिम प्रतिभा के बल पर एक नयी सामाजिक चेतना की सृष्टि की। द्विवेदी जी के शब्दों में कबीर में युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोक नायक की हमदर्दी थी इसीलिए वे एक नया युग उत्पन्न कर सके।

कबीर के जीवन, व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता आदि पर अब तक काफी लिखा जा चुका है, उसे यहाँ दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं। गुरुग्रन्थ में कबीर के ढाई सौ पद तथा दो ढाई सौ श्लोक संकलित हैं। कबीर की रचनाओं के और भी कई संकलन मिलते हैं। हम यहाँ संक्षेप में कबीर की भाषा का विश्लेषण करना चाहते हैं। कबीर की भाषा पर अभी तक बहुत सम्यक् विचार नहीं हो सका है। कबीर की भाषा में इतने विविध रूप सम्मिलित दिखाई पड़ते हैं कि सहसा भाषा सम्बन्धी कोई निर्णय देना आसान काम नहीं। हिंदी के कई विद्वानों ने कबीर की भाषा पर यत्किञ्चित् विचार दिये हैं। आचार्य शुक्ल कबीर की भाषा को दो प्रकार की बताते हुए लिखते हैं 'इसकी (साखी, दोहे) भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रज भाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। खुसरो के गीतों की भाषा भी हम ब्रज दिखा आए हैं इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतों के लिए काव्य की ब्रजभाषा ही स्वीकृत थी।'[1] शुक्ल जी कबीर की भाषा में पदों की भाषा को अलग कर इसे ब्रज नाम देना चाहते हैं। डा० श्यामसुन्दर दास इस भाषा को पंचमेल खिचड़ी बताते हैं और अपने विश्लेषण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं: 'यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है मेरी बोली पूरबी तथापि खड़ी बोली, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी उक्तियों पर चढ़ा हुआ है। पूरबी से उनका क्या तात्पर्य है यह नहीं कह सकते। उनका बनारस-निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है। परन्तु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है। यहाँ तक की मृत्यु के समय मगहर में उन्होंने जो पद कहा है, उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखाई देता है।'[2] बाबूसाहब ने न केवल मगहर में मृत्यु की बात से मैथिली का संयोग ढूँढा बल्कि 'पूरबी बोली' का अर्थ 'बिहारी' बताते हुए कबीर के जन्म-स्थान के विषय में 'एक नया प्रकाश' पड़ने की सम्भावना भी बताई। मगहर[3] का सम्भवतः

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, २००७ विक्रमी, पृ० ८०

२. कबीर ग्रन्थावली, संवत् २००८, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६७

३. मगहर बस्ती जिले में अमी नदी के किनारे एक गाँव है जहाँ पर कबीर पंथियों का बहुत बड़ा मठ है, जिनके दो हिस्से हैं। एक पर मुसलमान कबीर पंथियों का अधिकार है दूसरे पर हिन्दू कबीर पंथियों का। कबीर की समाधि भी है।

मगध अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और बिहारी बोलियों का प्रभाव ढूँढने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं? भोजपुरी तो बिहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है।'[1] डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पंचमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थी, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है।[2] कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः व्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी व्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो व्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पड़ते हैं।[3] कबीर मतावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अंतरालस्थित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मंगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, ककहरा, बसन्त, चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सायर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित विवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि भगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असंभव नहीं है।'[4] इस बीजक में कई प्रकार की भाषायें दिखाई पड़ती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओं में मिलता है, यह संभवतः बीजक के पूरब में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पचमेल' खिचड़ी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष २ अंक २ में कबीर की भाषा शीर्षक निबन्ध

3 Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi. His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employes his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves. Origin and Development of the Bengali Language p. 99.

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड १ अंक २, पृ० ११३

संगति बैठाने के लिए यह भी कहना पड़े कि कबीर की रचनायें मूलतः भोजपुरी में थीं जिनका बाद में कई भाषाओं में अनुवाद कर दिया गया। किन्तु ये दोनों प्रकार के निष्कर्ष कबीर की भाषा की पृष्ठभूमि में वर्तमान तत्कालीन भाषिक परिस्थितियों को न समझने के कारण ही निकाले जा सकते हैं। हमारे पास कबीर की रचनाओं की मौलिकता परखने का कोई आधार नहीं है केवल इसलिए कि कबीर बनारस के थे इसलिए उनकी भाषा पूर्वी या बनारसी रही होगी, यह तत्कालीन स्वीकृत भाषा-पद्धतियों के सही विश्लेषण से उत्पन्न तर्क नहीं कहा जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि कबीर ने स्वयं कई भाषाओं का प्रयोग किया, सम्भवतः वे इतनी बारीकी से उस भेद को स्वीकार भी नहीं करते थे। कबीर के जमाने में प्रचलित भाषा-स्थिति का हमने इस अध्याय के आरम्भ में विश्लेषण किया है। नाथ-सिद्धों द्वारा स्वीकृत रेखता या राजस्थानी पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली कबीर को वैसे ही उत्तराधिकार के रूप में मिली जैसे नाथ–सिद्धों से अक्खड़ता, रूढ़िविरोधिता और आडम्बर-द्रोही मस्ती। इसलिए कबीर की वे रचनाएँ, जिनमें वे ढोंगियों, धर्मध्वजों, मजहबी ठीकेदारों के खिलाफ बगावत की आवाज़ बुलन्द करते हैं, खड़ी बोली या रेखता शैली में दिखाई पड़ती हैं। ठीक इसके विपरीत कबीर जहाँ अपने सहज रूप में आत्मनिवेदन, प्रणयपत्ति या आत्मा-परमात्मा के मधुर मिलन के गीत गाते हैं, उनकी रचनाओं का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है कबीर को अपनी आवाज़ जन-सामान्य तक पहुँचानी थी, इसलिए भाषा उनकी हमेशा जन-परिचित हो रही।

§ २११. १५ वीं शती का समय हिन्दी का संक्रान्तिकाल था। हिन्दीकी तीनों प्रमुख बोलियाँ, ब्रज, खड़ी और अवधी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं, किन्तु तीनों की अलग-अलग रूपरेखा का निर्माण भी हो रहा था। अवधी में वस्तुवर्णन और प्रबन्धात्मक कथा की अभिव्यञ्जना की एक निराली शैली बनने लगी थी। ईश्वरदास की सत्यवती कथा (१५०१ ई०) और मुल्ला दाऊद की नूरक चंदा (१३७५ ई०) लखनसेनि का हरिचरित विराट पर्व (१४८८ सम्वत्) आदि ग्रन्थ अवधी भाषा की विवरणात्मक रचना शक्ति का परिचय देते हैं। दोहे चौपाई में इस प्रकार काव्य लेखन की पद्धति बहुत पुरानी है। 'सहजयान के सिद्धों में सरहपाद और कृष्णपाद के ग्रन्थ में दो दो चार-चार चौपाइयों के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय में भी चौपाई-प्रकार के छंद दिये हुए हैं। (देखिये विक्रमोर्वशीय ४।१२) कबीर को यह शैली प्रिय लगी और उन्होंने रमैनी की रचना इसी भाषा शैली में प्रस्तुत की। यद्यपि रमैनी की भाषा शुद्ध अवधी नहीं है फिर भी अवधी के रूप स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। ब्रज का प्रभाव भी कम नहीं है। रमैनी से संवत् १४८८ के कवि लखनसेनी (लखनसेन) के हरिचरित के अंश से तुलना करने पर भाषा सम्बन्धी साम्य का रूप स्पष्ट हो जाता है।

कबीर रमैनी[1]

> कौन उपाय करि यहु दुख जाई, ए सब परिहरि बिषै सगाई।
> माया मोह जरै जग आगी, ता संगि जरसि कवन रस लागी।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, पृ० २१८-२१

ग्राहि ग्राहि कर हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु विचारा।
रे रे जीवन नहिं विश्रामा, सब दुख मंडन राम को नामा।
राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा।
सुम्रित वेद सबै सुनैं नहीं आवै कृत काज
नहीं जैसे कुंडिल वनिल दुख सोभित बिन राज
अब गहि राम नाम अविनासी हरि तजि जनि अंतहू वै जासी
जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, अब जनि जरसि समझ विष संगा

हरि चरति से–[1]

भौंदु महंथ जे लागे काना, काज, छांडि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमाधी, पोट वहदि नहि चीन्हे बिराधी
कुअर बाँधे भूपन मरई, आदर सो घर सेइ धराई॥
चन्दन काटि करीले जे लावा, आँवि काटि बबूर बोआवा।
कोकिल हंस मजारहिं मारी, बहुत जतन कागहिं प्रतिपाली॥
सारीक पंख उपारि पालै तमचुर जग संसार।
लखन सेनि ताहू न बसै काढ़ि जो खाँहि उधार॥

कबीर की रमैनी की भाषा की अपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है। फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आज्ञार्थक मध्यम पुरुष) जनि (अव्यय) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष) आदि रूप स्पष्टतः अवधी का संकेत देते हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का ही है किन्तु भौ (क्रियाभूत) में (सप्तमी परसर्ग) को (षष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना देते हैं। कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी सालियों में दिखाई पड़ता है। सालियों की भाषा की परम्परा भी कबीर को पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली। अपभ्रंश में दोहों की परम्परा पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते थे। एक तो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित शुद्ध पिंगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की पूर्ववर्ती शैली। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है। (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के दोहे भी कम नहीं हैं। नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं।

यह तन जालौं मसि करौं लिखौं राम को नाम।
लेखणि करूं करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ॥०१॥
कबीर पीर परावनी पंजर पीर न जाइ।
एक जु पीर पिरीति की रही कलेजा छाइ॥८०॥
हँसी खेलौं हरि मिलै तो कोन सहै परसान।
काम क्रोध तिष्णा तजै ताहि मिलै भगवान॥१०॥

1. हरिचरित्र, अप्रकाशित, देखिये सर्च रिपोर्ट १९१७-१८

संगति बैठाने के लिए यह भी कहना पड़े कि कबीर की रचनायें मूलतः भोजपुरी में थीं जिन बाद में कई भाषाओं में अनुवाद कर दिया गया। किन्तु ये दोनों प्रकार के निष्कर्ष कबीर भाषा की पृष्ठभूमि में वर्तमान तत्कालीन भाषिक परिस्थितियों को न समझने के कारण निकाले जा सकते हैं। हमारे पास कबीर की रचनाओं की मौलिकता परखने का कोई आध नहीं है केवल इसलिए कि कबीर बनारस के थे इसलिए उनकी भाषा पूर्वी या बनारसी र होगी, यह तत्कालीन स्वीकृत भाषा-पद्धतियों के सही विश्लेषण से उत्पन्न तर्क नहीं कहा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि कबीर ने स्वयं कई भाषाओं का प्रयोग किया, सम्भवतः इतनी बारीकी से उस भेद को स्वीकार भी नहीं करते थे। कबीर के ज़माने में प्रचलित भाषा स्थिति का हमने इस अध्याय के आरम्भ में विश्लेषण किया है। नाथ-सिद्धों द्वारा स्वीकृ रेखता या राजस्थानी पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली कबीर को वैसे ही उत्तराधिकार के रूप में मिली जैसे नाथ–सिद्धों से अक्खड़ता, रूढ़िविरोधिता और आडम्बर-द्रोही मस्ती। इसलिए कबीर की वे रचनाएँ, जिनमें वे ढोंगियों, धर्मध्वजों, मजहबी ठीकेदारों के खिलाफ बगाव की आवाज़ बुलन्द करते हैं, खड़ी बोली या रेखता शैली में दिखाई पड़ती हैं। ठीक इसके विपरीत कबीर जहाँ अपने सहज रूप में आत्मनिवेदन, प्रणपत्ति या आत्मा-परमात्मा के मधुर मिलन के गीत गाते हैं, उनकी रचनाओं का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है कबीर को अपनी आवाज़ जन-सामान्य तक पहुँचानी थी, इसलिए भाषा उनकी हमेशा जन-परिचित ही रही।

§ २११. १५ वीं शती का समय हिन्दी का संक्रान्तिकाल था। हिन्दीकी तीनों प्रमुख बोलियाँ, ब्रज, खड़ी और अवधी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं, किन्तु तीनों की अलग-अलग रूपरेखा का निर्माण भी हो रहा था। अवधी में वस्तुवर्णन और प्रबन्धात्मक कथा की अभिव्यञ्जना की एक निराली शैली बनने लगी थी। ईश्वरदास की सत्यवती कथा (१५०१ ई०) और मुल्ला दाऊद की नूरक चंदा (१३७५ ई०) लखनसेनि का हरिचरित्र विराट पर्व (१५८८ सम्वत्) आदि ग्रन्थ अवधी भाषा की विवरणात्मक रचना-शक्ति का परिचय देते हैं। दोहे चौपाई में इस प्रकार काव्य लेखन की पद्धति बहुत पुरानी है। 'सहजयान के सिद्धों में सरह-पाद और कृष्णपाद के ग्रन्थ में दो-दो चार-चार चौपाइयों के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय में भी चौपाई–प्रकार के छंद दिये हुए हैं। (देखिये विक्रमोर्वशीय ४।३२) कबीर को यह शैली प्रिय लगी और उन्होंने रमैनी की रचना इसी भाषा शैली में प्रस्तुत की। यद्यपि रमैनी की भाषा शुद्ध अवधी नहीं है फिर भी अवधी के रूप स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। ब्रज का प्रभाव भी कम नहीं है। रमैनी से सम्वत् १४८८ के कवि लखनसेनी (लक्ष्मणसेन) के हरिचरित्र के अंश से तुलना करने पर भाषा सम्बन्धी साम्य का रूप स्पष्ट हो जाता है।

कबीर रमैनी[1]

सोइ उपाय करि यहु दुख जाई, ए सब परिहरि विषै सगाई।
माया मोह जोर जग भागी, ता संगि जरसि कवन रस लागी।

---

1. कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, पृ०

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासो में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं।[1]

> मन नहिं छाड़े विषै विषै न छाड़ै मन कौ।
> इनकौं इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन कौ॥
> खंडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै।
> ज्यूँ जल में प्रतिब्यंब त्यूँ सकल रामहिं जाणीजै॥
> सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहूँ कस।
> कहै कबीर व्यन्दहुनरा ज्यों जल पून्या सकल रस॥५५१॥

दूसरा छप्पय 'बेसास कौ अंग' में दिया हुआ है।

> जिन नरहरि जठराहँ उदकि कैं पंड प्रकट कियौ।
> सिरजे श्रवण कर चरन जीव जीभ मुख तास दियौ॥
> उरध पाँव अरध सीस बीच पपा इम रषियौ।
> अनं पान जहाँ जरै तहाँ तैं अनल न चषियौ॥
> इहि भाति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छंछुरै।
> कृसन कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यौं करै॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परवर्ती अपभ्रंश के रूपों का बहुत बाद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करक्खत बरक्खत' का प्रयोग करना ही पड़ा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा काफी पुराने तत्त्वों को सुरक्षित किये हुए है। जाणीजै<जाणिज्जइ, कीजै<किज्जइ, विगतह ('हँ' अपभ्रंश षष्ठी) रामहिं (राम को) जठराहँ (आहँ, षष्ठी) रषियौ>रक्खिो (रक्खउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब>प्रतिब्यंब, उदर>उद्र उदकतैं>उदकियै, पंदहु>व्यंदहु में शब्दों को तोड़मरोड़ कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस संक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० सं० १५७५) का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नहीं जम सका था।[2] और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था परस्पर विरोधी बातें तो हो जाती हैं क्योंकि 'जो ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव-क्षेत्र गुजरात से लेकर बंगाल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बड़ा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के संगीतकारों की राग-रागिनियाँ

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६-५७
2. परशुराम चतुर्वेदी कबीर-साहित्य की परख, पृ० २१०

इसी भाषा के क्षेत्र का सहारा लेकर व्यक्त हुआ करती थी। प्रद्युम्नचरित, हरिचन्द पुराण विष्णुदास के अनमेल पद इस भाषा में लिखे जा चुके थे। कबीर की भाषा के सम्बन्ध आचार्य शुक्ल और डा० बाबूराम के निरीक्षण-निष्कर्ष अत्यन्त उचित मालूम होते हैं कि की स्वीकृत भाषा ब्रजभाषा ही थी।

§ २१३ रैदास—समाजविधि नीच कही जानेवाली जाति में जन्म लेने पर भी रैदास की आत्मा अत्यन्त महान् थी। अपनी अनन्य साधना और सत्पूत भक्ति के कारण रैदास भारत के सर्वश्रेष्ठ सन्तों में प्रतिष्ठित हुए। रैदास के जीवन वृत्त और रचना-काल की निर्णायक ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। उन्होंने अपने एक पद में कबीर का नाम लिया है जिससे मालूम होता है कि तब तक कबीर दिवंगत हो चुके थे—

> जाको जग गावै लोक।
> नामदेव कहिए जाति कै ओछ ॥३॥
> भगति हेत भगता के चले, अंकमाल ले बीठल मिले ॥४॥
> निरगुन का गुन देखो भाई, देही सहित कबीर सिधाई ॥५॥
>
> —रैदास जी की बानी पृ० ३१

रैदास का सम्बन्ध एक ओर रामानन्द से और दूसरी ओर मीरांबाई से जोड़ा जाता है। रैदास ने स्वयं किसी पद में रामानन्द को गुरु के रूप में स्मरण नहीं किया। धन्ना भगत के एक पद में रैदास की चर्चा अवश्य मिलती है और धन्ना को रामानन्द जी का शिष्य कहा जाता है, अतः रैदास का १५वीं शती में होना अनुमानित किया जा सकता है। धन्ना ने अपने उक्त पद में छीपी का कार्य करने वाले नामदेव, जुलाहे कबीर, मृत पशुओं को ढोने वाले रैदास, नाई का काम करने वाले सेन का हवाला देते हुए कहा है कि इनकी भक्ति को देखकर मैं भी इधर आकृष्ट हुआ।[1] इस पद से लगता है कि धन्ना के पहले कबीर, रैदास आदि प्रसिद्धि पा चुके थे। श्री मेकालिफ ने धन्ना का आविर्भाव-काल १४१५ ईस्वी निश्चित किया है[2] जो कबीर के समय के पूर्व ठहरता है। कबीर का काल संवत् १४५५-१५७५ माना जाता है, ऐसी अवस्था में मेकालिफ का अनुमान उपयुक्त नहीं मालूम होता। सत्य तो यह है कि रामानन्द का इन सन्तों के साथ प्रत्यक्ष गुरु-शिष्य सम्बन्ध जोड़ने का जो रवाज है वही बहुत आधार-पूर्ण नहीं मालूम होता है, क्योंकि इन सन्तों की प्रामाणिक वाणियों में रामानन्द को प्रत्यक्ष गुरु के रूप में कहीं भी सम्बोधित नहीं किया गया है।

रैदास और मीरां के सम्बन्धों पर भी काफी विवाद हुआ है। मीरां के कुछ पदों में रैदास को गुरु कहा गया है, जैसे—

> गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी
> सतगुरु सैन दई जब आके जोत रली।[3]

---

१. गुरुग्रन्थ साहब, तरन तारन संस्करण, राग आसा, पद २ पृ० ४८७-८८
२. मैकालिफ, द सिख रिलीजन, भाग ५ पृ० १०६
३. सन्त बानी संग्रह भाग २, पृ० ७७

मीरांबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है।[1]

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यांन की गुटकी

एक तरफ मीरां-साहित्य के अन्तरंग साक्ष्यों पर मालूम होता है कि रैदास मीरां के गुरु थे। दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी झाली राणी का उल्लेख हुआ है।[2] कुछ लोग झाली रानी का मतलब मीरां ही समझते हैं।[3] मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद है। कुछ लोग उन्हें (१४३०–१५०० संवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५–१६३० संवत्) का बताते हैं।[4] अतः रैदास और मीरां वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता। अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं।

रविदास ने अपने को जात का चमार या ढेढ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है। अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है।

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओछी करम भी ओछा कसब हमारा।

नीचे से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी। उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है।[5] गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों संग्रहों (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है।'[6] चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था। मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ रेखता और व्रज दिखाई पड़ती हैं। इनके बारे में आगे विचार करेंगे।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'प्रह्लाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए। खोज रिपोर्ट सन् १९२९–३१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

१. मीरांबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५१

२. भक्तमाल, नाभादास, पृ० ४८३–८५

३. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० ३०६

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५–५८२

५. रैदास की बाणी, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१

इसी भाषा के क्षेत्र का सहारा लेकर प्रकट हुआ करती थी। प्रद्युम्नचरित, हरिचन्द पुराण और विष्णुदास के अनमोल पद इस भाषा में लिखे जा चुके थे। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल और डा० चाटुर्ज्या के निष्कर्ष-निष्कर्ष अत्यन्त उचित मालूम होते हैं कि कबीर की स्वीकृत भाषा ब्रजभाषा ही थी।

§ २१३ रैदास—तथाकथित नीच कही जानेवाली जाति में जन्म लेने पर भी रैदास की आत्मा अत्यन्त महान् थी। अपनी अनन्य साधना और सात्विक भक्ति के कारण रैदास भारत के सर्वश्रेष्ठ सन्तों में प्रतिष्ठित हुए। रैदास के जीवन वृत्त और रचना-काल की निर्णायक ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। उन्होंने अपने एक पद में कबीर का नाम लिया है जिससे मालूम होता है कि तब तक कबीर दिवंगत हो चुके थे—

जाको जग गावै लोक।
नामदेव कबिरु जाति के ओछ ॥३॥
भगति हेत भगता के चले, अंकमाल ले बीठल मिले ॥४॥
निरगुन का गुन देखो भाई, देही सहित कबीर सिधाई ॥५॥
—रैदास जी की बानी पृ० ११

रैदास का सम्बन्ध एक ओर रामानन्द से और दूसरी ओर मीराँबाई से जोड़ा जाता है। रैदास ने स्वयं किसी पद में रामानन्द को गुरु के रूप में स्मरण नहीं किया। धन्ना भगत के एक पद में रैदास की चर्चा अवश्य मिलती है और धन्ना को रामानन्द जी का शिष्य कहा जाता है, अतः रैदास का १५वीं शती में होना अनुमानित किया जा सकता है। धन्ना ने अपने उक्त पद में छीपी का कार्य करने वाले नामदेव, जुलाहे कबीर, मृत पशुओं को ढोने वाले रैदास, नाई का काम करने वाले सेन का हवाला देते हुए कहा है कि इनकी भक्ति को देखकर मैं भी इधर आकृष्ट हुआ।[1] इस पद से लगता है कि धन्ना के पहले कबीर, रैदास आदि प्रसिद्धि पा चुके थे। श्री मेकालिफ ने धन्ना का आविर्भाव-काल १४१५ ईस्वी निश्चित किया है[2] जो कबीर के समय के पूर्व ठहरता है। कबीर का काल संवत् १४५५–१५७५ माना जाता है, ऐसी अवस्था में मेकालिफ का अनुमान उपयुक्त नहीं मालूम होता। सत्य तो यह है कि रामानन्द का इन सन्तों के साथ प्रत्यक्ष गुरु-शिष्य सम्बन्ध जोड़ने का जो रवाज है वही बहुत आधार-पूर्ण नहीं मालूम होता है, क्योंकि इन सन्तों की प्रामाणिक वाणियों में रामानन्द को प्रत्यक्ष गुरु के रूप में कहीं भी सम्बोधित नहीं किया गया है।

रैदास और मीरां के सम्बन्धों पर भी काफी विवाद हुआ है। मीरां के कुछ पदों में रैदास को गुरु कहा गया है, जैसे—

गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी
सतगुरु सैन दई जब आके जोत रली।[3]

---

१. गुरुग्रन्थ साहब, तरन तारन संस्करण, राग आसा, पद २ पृ० ४८७–८८

२. मैकालिफ, द सिख रिलीजन, भाग ५ पृ० १०६

३. सन्त बानी संग्रह भाग २, पृ० ७७

मीरांबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है।[1]

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यांन की गुटकी

एक तरफ मीरां-साहित्य के अन्तरंग साक्ष्यों पर मालूम होता है कि रैदास मीरां के गुरु थे। दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी झाली राणी का उल्लेख हुआ है।[2] कुछ लोग झाली रानी का मतलब मीरां ही समझते हैं।[3] मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद है। कुछ लोग उन्हें (१४३०–१५०० संवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५–१६३० संवत्) का बताते हैं।[4] अतः रैदास और मीरां वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता। अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं।

रविदास ने अपने को जात का चमार या ढेढ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है। अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है।

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओछी करम भी ओछा कसब हमारा।

नीचे से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी। उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है।[5] गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों संग्रहों (बाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है।'[6] चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था। मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ रेखता और ब्रज दिखाई पड़ती हैं। इनके बारे में आगे विचार करेंगे।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'प्रहलाद चरित्र' का भी ज़िक्र होना चाहिए। खोज रिपोर्ट सन् १९२९–३१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

१. मीरांबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५१

२. भक्तमाल, नाभादास, पृ० ४८३–८५

३. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० ३०६

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५१५–५८२

५. रैदास की बाणी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २३१

'प्रह्लाद लीला' और 'रैदास जी के पद'। प्रह्लाद लीला में प्रह्लाद के पिता की राजधानी मुलतान शहर बताई गई है। डा० बड़थ्वाल ने अपनी इस रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि इस ग्रन्थ की भाषा पर किंचित् पंजाबी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।[1] ग्रन्थ के अन्त में कवि भगवान् की वन्दना करता है—

जहाँ भक्त को भीर तहाँ तब कारज सारे
हमसे अधम उधार किये नरकन से तारे
सुर नर मुनि मंडल कहै पूरन ब्रह्म निवास
मनसा बाचा कर्मना गावै जन रैदास

प्रह्लाद के जन्म-आगार का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

शहर बड़ो मुलतान जहाँ एक सासन राजा
तहाँ जनमे प्रहलाद सुर नर मुनि के काजा
पूछो विप्र बुलाइ कै, अगणी राजकुमार
या लछन सो कोइ नहीं असुर संहारण हार ॥१॥
मैं पढ़ौं राम को नाम और ज्ञान हो मानौं
राम को मैं छाँड़ि तामसो मान न आनौं
कहा पढ़ावै बावरे और सकल अंधार
भौ सागर जमलोक तै मुहि को उतारै पार ॥२॥

हिरण्यकशिपु के वध का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

अस्त भयो तब भान उदय रजनी जब कीन्हा
पंथा मैं ते निकसि जांघ पर बोधा लीन्हा
नख सो निभय विदारिया तिलक दिया महराज
सत्तलोक नवदण्ड में, तीन लोक भइ राज।

भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत परवर्ती मालूम होता है। वर्णन और कथा भी साधारण कोटि ही की है।

§ २१५ रैदास के पद और उनकी भाषा

रैदास जी के पद जैसा ऊपर कहा गया हिन्दी की ब्रज और रेखता दोनों ही शैलियों में लिखे गये हैं। रेखता का किंचित् आभास अपनी जाति के संबंध में कहे हुए उनके पूर्व उद्धृत पद में मिलता है। गुरु ग्रन्थ साहब में उनके चालीस के करीब पद इन दोनों शैलियों में मिलते हैं। रेखता वाले पदों पर भी ब्रजभाषा की छाप दिखाई पड़ती है। नीचे एक रेखता शैली का पद दिया जाता है—

तेरे देव कमलापति सरन आया।
मुझ जनम सदेह भ्रम छेदि माया ॥१॥

---

1. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७ अंक २ पृ० १२६ तथा हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का विवरण १९२८–३१ पृ० ५१५, सं० २७१ ए०।

अति अपार संसार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लोभ भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
पंच संगी मिलि पीड़ियो प्रान यों जाय न सक्यो बैराग भागा।
पुत्र वरग कुल बंधु ते भारजा भखै दसो दिस सिरकाल लागा ॥३॥
परम प्रकाश अविनाशी अघमोचना निरखि निज रूप बिसराम पाया।
बद रैदास बैराग पद चिंतना जपौ जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलतः खड़ी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीड़ियों, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म-निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पड़ती है। नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं। ये तीनों पद गुरु ग्रन्थ से हैं।

दूधु बछरै थनहु बिटारिउ फूल, भवँर जल मीनि बिगारउ ॥१॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चरावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउं।
मैलागिरि बैरहे हैं भुइअंगा, बिखु अम्रितु बसहिं इक संगा ॥२॥
धूप दीप नइवेदहिं बासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥३॥
मनु अरपउं पूज चरावउं, गुरु परसादि निरंजन पावउं ॥४॥
पूजा अरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फांस हम प्रेम बंधनि तुम बाँधे।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥१॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी।
मीन पकरि फांकिउ अरु काटिउ, रांधि कीउ बहुबानी।
खंड खंड करि भोजन कीनो, तउ न बिसारिउ पानी ॥२॥
आपन बापै नाहिं किसी को भावन को हरि राजा।
मोहु पटलु सब जगत बियापिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
कहि रविदास भगति इक बाढ़ी अब इह का सिउ कहिअै।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुख अजहूँ सहिअै ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कछूअ न जानउँ मनु माइया कै हाथि बिकानउ,
तुम कहीयत हैं जगतगुर सुआमी, हम कहीअत कलिजुग के कामी।
इन पंचन मेरो मन जु बिगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
जत देखउ तत दुख की रासी, अजौं न पत्याइ निगम भए साखी ॥३॥
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
इन दूतन खलु बधु करि मारिउ, बडो निलाज अजहूं नहिं हारिउ ॥५॥
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, बिनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

गुरु ग्रन्थ की कृपा से इन पदों की भाषा बहुत कुछ अपनी प्राचीनता सुरक्षित किये है। रविदास की भाषा वस्तुतः कबीर की अपेक्षा कहीं ज्यादा परिनिष्ठित और शुद्ध मालूम होती है। इस भाषा में पुराने तत्व भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। शब्दों के उकारान्त रूप, बिदारिउ >बिदार्यौ, बिगारिउ >बिगार्यो, चरावउ >चरावौ, पावउँ >पावों, फाकिउ > फाक्यो, काढिउ >काढ्यौ, बिसारिउ >बिसार्यौ, बियापिउ >ब्याप्यो आदि भूतनिष्ठा के रूपों में उद्वृत्तस्वर सुरक्षित हैं जहाँ नहीं हैं वहाँ इ+उ के रूप दिखाई पड़ते जिनसे ब्रज का यो रूप बनता है पुकार्यो, कह्यो आदि। विभक्ति, परसर्ग क्रिया सभी में भाषा रूप हैं। रविदास की भाषा १५ शती की ब्रजभाषा का आदर्श-रूप है।

§ २१६. पीपा—रामानन्द जी के शिष्यों में पीपा की भी गणना की जाती है, किन्तु इस सम्बन्ध की पुष्टि का कोई प्रामाणिक आधार प्राप्त नहीं होता। श्री फर्कुहर ने पीपा का जन्म-काल संवत् १४८२ (सन् १४२५ ई०) बताया है।[1] ये गजनौरगढ़ के राजा थे। श्री कनिंघम ने गजनौर गढ़ की राजवंशावली के आधार पर इनका जन्मकाल १३६० ईस्वी और १३८५ ई० के बीच अनुमानित किया है।[2]

पीपा जी अपनी पत्नी राजरानी सीता के साथ कृष्ण-दर्शन की आकांक्षा से घर से निकलकर इधर-उधर बहुत काल तक घूमते रहे, बाद में द्वारिका जाकर वहीं बस गए। इनकी प्रशंसा में नाभादास ने भक्तमाल में जो छप्पय दिया है उसमें इनके जीवन की कुछ चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन को धायौ।
सत्य कह्यौ तेहि शक्ति सुदृढ़ हरिशरण बतायौ॥
श्री रामानन्द पद पाइ भयो भतिभक्त की सीवाँ।
गुण असंख्य निर्मोल सन्त धरि राखत ग्रीवा॥
परस प्रणाली सरस भई, सकल विश्व मंगल कीयौ।
पीपा प्रताप जग वासना नाहर को उपदेश दियौ॥
—भक्तमाल पृ० ४३५

पीपा की रचनाओं का कोई संकलन प्राप्त नहीं होता। पीपा जी की बानी नामक कोई संकलन निकला भी था, जो प्राप्त नहीं होता। गुरुग्रन्थ में पीपा का केवल एक पद प्राप्त होता है।

कायउ देवा काइअउ देवल काइयउ जंगम जाती।
काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजा पाती॥१॥
काइया बहु खंड खोजते नवनिधि पाई।
ना कुछ आइबो ना कुछ जाइबो राम की दुहाई।
जो ब्रह्मांडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवै परम ततु है सतगुरु होइ लखावै॥२॥

पीपा के पद की भाषा ब्रज ही है।

1. एन आउट लाइन आव रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० ३२६
2. आर्कोलाजिकल सर्वे, भाग २ पृ० २९५–६० तथा भाग ३ पृ० १११

§ २१७. धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियों में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वयं भक्त हो जाने की बात लिखी है।

इहि विधि सुनकै जाटरो उठि भगती लागा
मिले प्रतषि गुसाइयां धनां बड़ भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् संवत् १४७२ अनुमानित किया है।[1] मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य गुरु-सम्बन्ध की जनश्रुति पर ही आधारित है। नाभादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे में एक छप्पय लिखा है। नाभादास ने इस छप्पय में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता-पिता के डर से झूठे हराई खींचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अंकुर उदित हो गए। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए।
तात मात डर खेत थोथ लांगलहि चलाए॥
आसपास कृषकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रकट परतीति जु पाई॥
अचरज मानत जगत में कहुँ निपज्यो कहुँ वै बयो।
धन्य धना के भजन कौ बिनहिं बीज अंकुर भयो॥
—भक्तमाल, पृ० ५०४

धना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इन पदों की भाषा पर खड़ी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है।[2]

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर बिवहित जानसि कोई।
जे धावहिं खंड ब्रहिमंड कउ करता करै सु कोई॥ रहाउ॥
जननि केरे उदर उदक मंहि पिंडु कीया दस दुआरा।
देइ अहारु अगिनि महि राखै ऐसा खसमु हमारा॥१॥
कुंमी जल मांहि तन तिसु बाहरि पंख भीरु तिन्ह नाहीं।
पूरन परमानन्द मनोहर समझि देखु मन माहीं॥२॥
पाखणि कीटु गुपतु होइ रहता ताको मारग नाहीं।
कहै धनो पूरन ताहू को मत रे जीअ डराहीं॥३॥

§ २१८. नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आता है। इसका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक ग्राम में

१. मेकालिफ-दि सिख रिलीजन भाग ५ पृ० १०६
२. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८, धनासरी पद १ पृ० ६६५

हुआ। जन्म और जीवन सम्बन्धी जो भी सामग्री प्राप्त होती है, वह धार्मिक अन्धविश्वासों और पौराणिक रूढ़ियों से इतनी रंगी हुई है कि उसमें से सही तथ्य निकाल सकना सदा कठिन होता है। एम० ए० मेकालिफ ने एक जन्म-साखी के अनुसार इनका जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है।[1] इस साखी में भी पौराणिकता का रंग गाढ़ा है। श्री जे० डब्लू० यंगसन के अनुसार में एक जन्मसाखी मिली थी जिसमें नानक को जनक का अवतार बताया गया है।[2] इन सूत्रों के आधार पर नानक का जन्म १५२६ संवत् बताया गया है, इस तरह वे सूरदास से उम्र में कोई १५ वर्ष बड़े थे। इनका देहावसान संवत् १५९५ विक्रमी यानी सूर की मृत्यु से ४७ वर्ष पहले ही करतारपुर में हुआ।

नानक की रचनाओं का विस्तृत संकलन गुरुग्रन्थ में मिलता है। इनकी रचनाओं में जपुजी और 'असा दी वार' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जो सिखों के लिए पवित्र मंत्रों की तरह पूज्य हैं। नानक की अन्य रचनाएँ जो पदों और साखियों के रूप में प्राप्त होती हैं, गुरु ग्रन्थ में 'महला एक' के अन्तर्गत संकलित हैं।

इन रचनाओं की भाषा, या तो पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली अथवा ब्रजभाषा है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि 'ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य भाषा हिन्दी में। यह हिन्दी कहीं देश की काव्य भाषा या ब्रजभाषा है कहीं खड़ी बोली जिसमें इधर उधर पंजाबी के रूप आ गये हैं: जैसे चल्या, रह्या।'[3] शुक्ल जी ने नानक की भाषा पर जो निर्णय दिया है वह बहुत कुछ ठीक है। शुक्ल जी ने नानक के कुछ भजनों की भाषा पंजाबी बताई है, पर इस प्रकार शुद्ध पंजाबी में लिखे भजन नहीं मिलते। इसका मूल कारण है पंजाब की भाषा-स्थिति। पंजाबी बहुत बाद में साहित्य का माध्यम हुई है इसके पहले खड़ी बोली और ब्रजभाषा में ही साहित्य लिखा गया है। नानक पर लिखी जन्मसाखी सम्भवतः पंजाबी की प्रारम्भिक रचना मानी जाती है। गुरु अंगद ने (ईसवी सन् १५३८–५२) गुरुमुखी लिपि का निर्माण किया और पंजाबी बोली के साहित्य को मान्यता दी। नानक के लिखे पंजाबी पद यदि मिलते भी हैं तो उन्हें परवर्ती और प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। गुरु ग्रन्थ की अधिकांश रचनाएँ, गुरुमुखी लिपिमें होने पर भी, पुरानी हिन्दी की ही हैं।[5] ब्रजभाषा के प्रयोग में नानक ने आश्चर्यजनक सावधानी बरती है, फलस्वरूप ब्रजभाषा के पदों में मिश्रण अत्यन्त अल्प दिखाई पड़ता है। नानक ने रेखता शैली में भी रचनाएँ कीं। पर उनकी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नीचे नानक के दो ब्रजभाषा-पद उद्धृत किये जाते हैं।

> काची गागर देह दुहेली उपजै विनसै दुखु पाई
> इहु जगु सागर दुतरु किउ तरीजै बिनु हरिगुर पार न पाई ॥१॥

---

१. दी सिख रिलीजन, इन्ट्रोडक्शन पृ० ७६।

२. इनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन ऐण्ड एथिक्स भाग ६, पृ० १८१।

३. बाबा सी० सिंह, दी टेन गुरुज़ ऐण्ड देयर टीचिंग्स्।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी संवत् २००७ पृ० ८४।

५. जार्ज ग्रियर्सन, आन दी माडर्न इन्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स § १०

तुझ बिनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुझ बिनु अवर न कोई हरे
सभी रंगी रूप तूं है तिसु वखसे जिसु नदिर करे
सासु बुरी घर वासुन देवै पिउ सिउं मिलन न देइ बुरी
सखी साजनी के हउं चरन सरेवउं, हरि गुरु किरपा तें नदिर धरी ॥२॥
आप विचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मीत न अवरु कोई।
जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा सुखु दुख देवहि करहि सोई ॥३॥
आसा मनसा दोउ बिनासा त्रिहु गुण आस निरास भई
तुरिआ वसथा गुरु मुखि पाइऐ संत सभा की उतरुही ॥४॥
गिआन ध्यान सगले सुभि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा।
नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ॥५॥
जो नर दुख में दुख नहि मानै।
सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन माटी जानै ॥
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरप सोक ते रहै नियारौ नाहिं मान अपमाना ॥
आसा मनसा सक्ल त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्हीं तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी ॥

ऊपर का पद मूलतः ब्रज का है जैसा कि हउँ (सर्वनाम) सिउँ, सउँ, कउ, तैं (परसर्ग) सरेवउँ > सरेवौं क्रिया, जिवं > जिमि, तिवं > तिमि (अव्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खड़ी बोली की भी छाप अवश्य है, मिलिया, राता, देखिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं। किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ साखियाँ भी संकलित हैं। दोहों की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं। क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोइ।
धरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥
जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ।
सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
धनवंता इव ही कहै अवरी धन कउ जाउ।
नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥३॥
जिनकै पलै धनु वसै तिनका नाउँ फकीर।
जिनकै हिरदै तू वसै ते नर गुणी गहीर ॥४॥
वेदु बुलाइया वैदगी पकड़ि ढढोले बांह।
भोला वैद न जाणई करक कलेजै मांह ॥५॥

गुरु ग्रन्थ साहब में संकलित इन संतों की रचनाओं के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट पता चलता है कि भावपूर्ण पदों के लिए इन्होंने सर्वत्र ब्रजभाषा का ही आश्रय लिया है। ब्रजभाषा के ये पद इस शैली की पूर्णता तो व्यक्त करते ही हैं, साथ ही साथ इस बात के भी सबूत हैं कि १४वीं शती के नामदेव से १६वीं के नानक तक पदों की भाषा ब्रज ही रही है। ब्रजभाषा बहुत पहले से काव्य-भाषा के रूप में महाराष्ट्र, पंजाब, काशी, तक स्वीकृत और सर्वमान्य रही है। सूरदास के पदों की सुव्यवस्थित और पुष्ट भाषा आकस्मिक नहीं बल्कि इसी पद-शैली की ब्रजभाषा का अग्रसरीभूत रूप है।

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरंजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन संप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरंजन संप्रदाय के धार्मिक परंपराओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाथ संप्रदाय से प्रभावित था। इस संप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमांसा करते हुए श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा ही संभवतः इस संप्रदाय की जन्मभूमि था, और यहीं से यह संप्रदाय बंगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा।[1] उड़ीसा में फैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत खास तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी संप्रदाय का क्या संबन्ध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैली हुई निरंजनी परंपरा का कुछ परिचय दादू पंथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० संवत्) मिलता है। इस ग्रंथ में बारह निरंजनी महन्तों का वर्णन दिया हुआ है जिनमें हरिदास, तुरसीदास, सेमजी, कान्हड़दास और मोहन-दास आदि संमिलित किए गए हैं। राघोदास निरंजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्होंने कबीर, नानक, दादू, जगन राघो! के चार निर्गुण संप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

रामानुज की पधित चली लछमी सूं आई।
विष्णुस्वामि की पधित सुम्भी संकर तै आई॥
मध्वाचार्य पधित ब्रह्मा सुविचारा।
नींबादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा।

---

1. मिडिवल मिस्टिसिज्म आव इण्डिया, पृ० ७०

च्यारि सम्प्रदा की पचिस अवतारन सूँ है चर्चा ।
इन च्यारि महंत मुगुनीन की पद्धति निरंजन सूँ चली ॥ (३१३)[1]

इस प्रकार राघोदास के मत से निर्गुन सम्प्रदाय के आदि गुरु निरंजन इन सम्प्रदायों के पहले विद्यमान थे । एक ओर यह सम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध बताया जाता है दूसरी ओर निर्गुण सम्प्रदायों का पूर्ववर्ती माना जाता है, इसी को लक्ष्य करके डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि यह निरंजन सम्प्रदाय नाथ संप्रदाय और निर्गुन संप्रदाय के बीच की कड़ी मालूम होता है ।[2] किन्तु डा० बड़थ्वाल के इस अनुमान को पुष्ट करने वाले प्रमाणों का अभी अभाव है । हरिदास निरंजनी के विषय में स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने लिखा है कि ये हरिदास जी प्रथम प्रयागदास जी के शिष्य हुए, फिर दादू जी के । फिर कबीर और गोरख पंथ में हो गए, फिर अपना निराला पंथ चलाया ।[3] इस प्रकार पुरोहित जी के मत से हरिदास दादू के बाद हुए । श्री परशुराम चतुर्वेदी हरिदास का काल १७०० के आस पास तक मानते हैं ।[4] दादू पंथ के प्रसिद्ध कवि संत सुन्दरदास ने हरिदास का उल्लेख किया है[5] ।

कोउक गोरख कूँ गुरु थापत कोउक दत्त दिगम्बर आदू ।
कोउक कंथर कोउक भर्थर, कोउ कबीरा के राखत नादू ॥
कोउ कहै हरदास हमार जूँ यूँ करि ठानत वाद विवादू ।
और सुसन्त सबै सिर ऊपर सुन्दर कै उर हैं गुरु दादू ॥
(सुन्दरविलास १-४)

सुन्दरदास के उल्लेख से ऐसा लगता है कि हरिदास की गणना गोरखनाथ, कंकड़नाथ, कबीर आदि की तरह बड़े गुरुओं में होती थी । सुन्दरदास जी यद्यपि दादू को अपना गुरु स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने बड़े आदर के साथ यह भी स्वीकार किया है कि लोग हरिदास को गुरु मानने के लिए वादविवाद करते थे । लगता है कि यह झगड़ा ऐसे संप्रदाय का था जिसमें हरिदास गुरु माने जाते थे किन्तु बाद में दादू के आविर्भाव के बाद दो प्रकार के मत हो गए । कुछ हरिदास को 'अपना गुरु' कहते रहे कुछ दादू को गुरु मानना चाहते थे । सुन्दरदास के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि हरिदास दादू के पहले हुए थे और उनका एक सुव्यवस्थित संप्रदाय था । उन्हें गुरु मानने वालों की संख्या भी थोड़ी न थी । इस विषय में दादू विद्यालय जयपुर के स्वामी मंगलदास जी से मेरी बातचीत हुई थी । उन्होंने भी स्वीकार किया कि दादू और निरञ्जन सम्प्रदायों में कभी ऐक्य था । श्री मंगलदास स्वामी के पास सम्पत राम (नागौर) के पास सुरक्षित किसी हरिराम दास द्वारा लिखित हरिदास जी की परचई के कुछ उद्धृत अंश सुरक्षित हैं, उसमें हरिदास जी के बारे में यह उल्लेख मिलता है ।

---

१. श्री परशुराम चतुर्वेदी की उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में हस्तलेख से उद्धृत, पृ० ४६२
२. निर्गुन स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री, प्रीफेस, पृ० २-३
३. सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खंड, जीवन चरित्र, पृ० ६२
४. उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० ४७०
५. डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल संपादित सुन्दर विलास से

पन्द्रसे बारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
वैराग्य ज्ञान भगति कूं लीयो हरि अवतार
पन्द्रह सै का बारह गयो हरि धारयो अवतार
ज्ञान भक्ति वैराग्य से आप कियो भवपार
पन्द्रह सैं छप्पन समैं वसन्त पञ्चमी जान
तब हरि गोरष रूप धरि आप दियो ब्रह्म ज्ञान
सोलह सौ की छट्ठि सुदि फागुण मास
परम धाम भै प्रापती नगर डीड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० संवत् मालूम पड़ता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मंगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में तिथिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती मालूम होता है, इसे किसी पूर्णदास ने नवलगढ़ में लिखा था।

चवदेसे चोहतरे जन्म लियो हरिदास
सांखल से घर अवतरे छतरी वंश निवास
छतरी वंश निवास तेज सो सुरति विराजे
छतरि भेष सो सूरमाय को दूध न लाजै
मिलियो गोरष रूप हरि दियो ज्ञान परकास
चवदह सै चोहोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्द्रसौ पिचाणवे कियो जोति में वास
फागुन सुदि की छट्ठ को परम जोति परकास

इसी से मिलता जुलता दूसरा उल्लेख मंत्रराज प्रभाकर ग्रन्थ के १३ वें उल्लास में इस प्रकार आता है :

चवदाशत संवत् सतचार, प्रकटे सुदेस सुरधर मझार।
पंचासौ पञ्चानवे शुद्ध फागुण छठि जाण।
विंशा सो वपुराखि कै पहुँचे पद निर्वाण॥

इन सभी उल्लेखों में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विक्रमी के बीच पड़ता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १४७५–१५९५ संवत् पर मतैक्य भी दिखाई पड़ता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मालूम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७–१५९७ विक्रमी) मानते हैं।[1] इन प्रसंगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९७ वर्ष ४५, पृ० ७७

हरिदास की रचनाएँ

§ २२०. हरिदास की रचनायें पूर्णतः प्रकाश में नहीं आई हैं। उनकी कुछ रचनाओं का संकलन 'हरि पुरुष की वाणी' नाम से साधु सेवा दास ने जोधपुर से प्रकाशित कराया है, इसमें हरिदास के पद संकलित किए गए हैं, श्री जगदर शर्मा गुलेरी ने हरिदास की रचनाओं की एक सूची प्रस्तुत की है :

(१) अष्टपदी जोग ग्रन्थ
(२) ब्रह्मस्तुति
(३) हरिदास ग्रन्थमाला
(४) हंस प्रबोध ग्रन्थ
(५) निरपख मूल ग्रन्थ
(६) राजगुंड
(७) पूजा जोग ग्रन्थ
(८) समाधि जोग ग्रंथ
(९) संग्राम जोग ग्रंथ

इन ग्रंथों के अलावा कुछ साखियाँ और पद भी प्राप्त होते हैं। हरिदास का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक और चमत्कारिक था। हरिदास निराश, इच्छाहीन तथा निरंतर परमात्मा में लीन रहने वाले व्यक्ति थे। हरिपुरुष जी की वाणी में हरिदास का जो जीवनवृत्त दिया हुआ है, उससे प्रतीत होता है कि ४८ वर्ष की अवस्था में भयंकर दुर्भिक्ष के दिनों में ये जंगल में चले गए और वहाँ दस्यु-वृत्ति करके जीवन निर्वाह करने लगे। इसी बीच भगवान् निरंजन ने गोरख रूप में इन्हें मंत्र दीक्षा दी और अमृत डूँगरी पर कई दिनों तक निराहार रह कर इन्होंने तपश्चर्या की। सुन्दरदास ने हरिदास को असत् और अज्ञान के विरुद्ध युद्ध करने वाले योद्धा के रूप से याद किया है।

भंगद सुवन परम हरदास उपनि गह्यो हथियार रे।
(सुन्दर विलास, पृ० ५००)

हरिदास का एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है।

रामा अंसाडा (हमारा) साईं हो
राखो भोर चोर बड़ों लागे समुझि परै कछु नाहीं हो ॥
पांच पचीस सदा संग बैठे भीतर करी अघाई हो।
तुम अजर्यों तो यहुदि न ब्यापी हम बस कछु न बसाई हो ॥
तारन तिरन परम सुख दाता सह दुख काम्यौं कहिए हो।
करम विराड विषम होइ लागा तुम राखो तो रहिये हो ॥
समुद अथाह अगम अलमनय गोहि करौ तिन गाजै हो।
ताथे अपनु काल मा बैठे भगति दुरै सो भाजै हो ॥
ये अवतार अखिल मांहि आरै अंधकूप मैं बेरा हो।
जन हरिदास को आस न दूजी राम भरोसा तेरा हो ॥

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। संत-शैली के रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से गृहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यंत सहज और भावमय है अतः भाषा बड़ी ही साफ और व्यंजनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव संप्रदायों में निम्बार्क संप्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई सुनिश्चित धारणा नहीं है। संप्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आविर्भाव का काल आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वां विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वां वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस संप्रदाय का आरंभ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में वृन्दावन में आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव संप्रदायों की तरह इस संप्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस संप्रदाय के आदि ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु शिष्य परंपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में संबद्ध माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता-काल संवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी-सी रचना आदि बानी भी मिलती है।'[1] शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५९५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चीजें हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क सम्प्रदाय-गत पहली रचना होनेके कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्ण-भक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।[2] बिहारीशरण जी ने श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'वस्तुतः ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का संवत् गलत दिया है। निम्बार्क संप्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी सूरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क संप्रदायी हरिव्यास देव जी आयु में सूर से बड़े थे।'[3] डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८
२. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५
३. वही, पृ० २५

नहीं प्रस्तुत किया। केवल कश्मीरी का काल भी अब तक अनिर्णीत ही है। फिर किस आधार पर श्रीभट्ट का काल १६१० विक्रमी माना जावे। सूरदास से हरिव्यास देव को उम्र में बड़ा बताने का भी कोई आधार नहीं दिया गया। वैसे विद्वान् लेखक ने सूर से भी हरिव्यास को उमर में बड़ा बताकर कुछ तो गुंजायश रखी ही है। शुक्ल जी की तरह श्रीभट्ट को एकदम परवर्ती नहीं करार दिया। श्रीभट्ट और उनके शिष्यानुशिष्य परशुराम के रचना-काल का निर्णय करने के लिए कोई अन्तर्साक्ष्य नहीं मिलता। युगलशतक में रचनाकाल के विषय में एक दोहा दिया हुआ है।

२ ५ ३ १
नयन बान पुनि राम ससि गनो अंक गति बाम।
प्रगट भयो श्री जुगलशत यह संवत अभिराम॥

इस दोहे को उद्धृत करके सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक ने यह टिप्पणी दी है: लिपि की एक मामूली गल्ती से यह उलझन पैदा हो गई। पहली पंक्ति में राग, के स्थान पर राम लिखा गया, राग की संख्या छः होती है इस तरह १६५२ संवत् बदलकर १३५२ हो गया। यह तिथि १९०६-८ की रिपोर्ट में दी हुई है, यही तिथि है जब श्रीभट्ट उत्पन्न हुए।[1] निरीक्षक ने यह बात बताने की कोई जरूरत नहीं समझी कि राग का राम क्यों और कैसे हुआ। केवल ग और म का सादृश्य ही इस गल्ती का कारण माना जावे या कोई और कारण भी है। सर्च रिपोर्ट १९०६-८ के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने इस कवि के विषय में कुछ विशेष नहीं लिखा। विवरण में इतना दिया हुआ है: श्री भट्ट (एफ आई १५४४ ए० डी) युगल शतक की तीन प्रतियाँ मिलती हैं जिनका समय क्रमशः १८३१, १७८६ और १८२० ईस्वी है।[2]

§ २२२. निम्बार्क सम्प्रदाय के लोग श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी ही मानते हैं और इसी समय को सही मानकर पोद्दार ग्रन्थावली के सम्पादकों ने श्रीभट्ट, हरिव्यास देव और परशुराम की कुछ कविताएँ 'पाँच प्राचीन पद' शीर्षक से संकलित की हैं जहाँ श्रीभट्ट १३५२ विक्रमी, हरिव्यास १३२० विक्रमी और परशुराम १४५० विक्रमी के बताये गये हैं।[3] एक ओर जहाँ सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक राग को राम का स्थानापन्न बताकर श्रीभट्ट के काल को १६५२ करने के पक्ष में हैं वहाँ सम्प्रदायी भक्त उन्हें १३५२ के नीचे उतारने को तैयार नहीं ऐसी अवस्था में उस दोहे का सहारा छोड़कर कुछ अन्य आधारों पर विचार करने की आवश्यकता है। श्री नाभादास के भक्तमाल में परशुराम के विषय में निम्नलिखित छप्पय मिलता है।

ज्यौं चन्दन को पवन निंब पुनि चन्दन करई
बहुत काल तम निविड़ उदै दीपक ज्यों हरई
श्रीभट पुनि हरिव्यास सन्त मारग अनुसरई
कथा कीरतन नेम रसन हरिगुन उच्चरई

---

1. सर्च रिपोर्ट, १९२३-२५, पृ० १३२
2. सर्च रिपोर्ट, १९०६-८, पृ० ८८
3. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८३

गोविंद भक्ति मद रोग गति तिलक दास सद बैद दृढ
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद

नाभादास के इस छप्पय में श्रीभट्ट के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जंगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है।' जंगली' शब्द लोगों के असभ्य, बर्बर और असंस्कृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जांगल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। संभवतः दिल्ली-मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जांगल कहते थे। कुरु के पूरब का देश पांचाल था इसी से 'कुरुपांचाल' और 'कुरुजांगल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। वैसे जांगल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अल्पोदक, तृणहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हवा और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जांगल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, बिल्व, अर्क, पीपल, कर्कन्धु आदि से भरा हुआ देश जांगल कहा जाता है।[2] इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जांगल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जांगल का नाम साथ आता है।[3] मद्र रावी और झेलम के बीच का देश था, इस प्रकार जांगल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम संबन्धी छप्पय में 'जंगली देश' का अर्थ जांगल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमाबाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति-प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्बार्क पीठ स्थापित है। यहाँ परशुराम की इहलौकिक लीला भी समाप्त हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जांगल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक भारी बड़े भूभाग को असभ्य से सभ्य या भक्त बनाना कुछ समय-सापेक्ष्य व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४२ संवत्) से पूर्व तो थे ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम सागरमें विप्रमती ग्रन्थ की पुष्पिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है :

---

१. अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः
संज्ञेयो जांगलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः (रत्नावली)
२. आकाशः शुभ्र उच्चश्च स्वल्पपानीयपादपः
शमी-करीर-बिल्वार्क पीलुकर्कन्धुसंकुलः (भावप्रकाशम्)।
३. तत्रेमे कुरुपांचालाः शाल्वा माद्रेय जांगलाः। (महाभारत, भीष्म पर्व, अ० ९)

'इति विप्रमती। इति श्री परशुरामजी की वाणी सम्पूर्ण। पोथी को संवत् १६७७ वर्षे' पूरे ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका इस प्रकार है :

'इति श्री परशुराम देवकृत ग्रन्थ परसरामसागर सम्पूर्ण संवत् १८३७ वर्षे। मिति ज्येष्ठ वदि ५ बुधवासरे लिपि कृतं व्यास मनसाराम पठनार्थं बाई अनोपाँ।'[1] इन दो पुष्पिकाओंसे लोगोंको भ्रम होता है कि ग्रन्थका लिपिकाल १८३७ और विप्रमती की पुष्पिका के हिसाब से रचनाकाल १६७७ है। किन्तु विप्रमती का पोथीवर्ष भी लिपिकाल ही है। क्योंकि 'इति श्री परशुरामजी की वाणी सम्पूर्ण' का अर्थ विप्रमती सम्पूर्ण नहीं और पोथी का अर्थ विप्रमती की पोथी नहीं, बल्कि परशुरामजी की वाणी। पहले परशुराम सागर नामक कोई ग्रन्थ कम से कम संवत् १६७७ के पूर्व शायद नहीं था। श्रीभट्ट की आदिवाणी, हरिव्यासदेव की महावाणी की तरह 'परशुराम वाणी' का ही प्रचलन रहा होगा। संवत् १६७७ के बाद और १८३७ के बीच कभी सूरसागर के वजन पर परशुराम सागरका निर्माण हुआ होगा। १८३७ में मनसाराम व्यास ने १६७७ की लिखी 'परशुराम वाणी' की पोथी से जिसमें अन्तिम रचना विप्रमती थी परशुराम सागर की प्रतिलिपि की, जिसमें कुछ और भी रचनायें शामिल की गईं। इसलिए संवत् १६७७ को परशुराम देव का आविर्भाव काल बताना ठीक नहीं है। संवत् १६७७ में परशुराम वाणी का किसी भक्त ने संकलन किया क्योंकि यदि परशुराम ने स्वयं संकलन किया होता तो परशुरामजी की वाणी नाम नहीं दिया गया होता, इस आधार पर भी हम परशुराम को १६७७ के पहले का मान सकते हैं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि पं० मोतीलाल मेनारिया विप्रमती के लिपिकाल के आधार पर परशुराम देव को सं० १६७७ का बताते हैं।[2] जबकि तत्ववेत्ता का आविर्भाव काल वे संवत् १५५० मानते हैं।[3] तत्ववेत्ता भी एक प्रसिद्ध निम्बार्क सम्प्रदायी महात्मा थे जो परशुराम देव के सम-सामयिक तथा हरिव्यासदेव के शिष्य थे। इस तरह वे परशुराम के गुरु-भाई थे।[4]

§ २२४. परशुराम सागर की रचनाओं का परीक्षण करने पर एक और भी आश्चर्यजनक तथ्य का उद्घाटन होता है। परशुरामसागर में निम्नलिखित रचनायें संकलित की गई हैं।

(१) तिथि लीला (२) वार लीला (३) बावनी लीला (४) विप्रमतीभी (५) नाथ लीला (६) पदावली (७) रागरथ नाम लीला निधि (८) साच निषेध लीला (९) श्री लीला (१०) लीला समझनी (११) नक्षत्र लीला (१२) निजरूप लीला (१३) निर्वाण लीला।

---

1. श्री कुंज वृन्दावन की पोथी से
2. राजस्थानी भाषा और साहित्य, प्रयाग २००१, विक्रमी, पृ० १११।११
3. वही, पृ० १०६
4. डा० सत्येन्द्र का निबंध, श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवि, पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ३८४।

१३ ग्रंथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१९३२–३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रंथों की सूची दी है।[1]

(१) साखी का जोड़ा (२) छंद का जोड़ा (३) सवैया दस अवतार का (४) रघुनाथ-चरित (५) श्रीकृष्ण-चरित (६) सिंगार सुदामा-चरित (७) द्रौपदी का जोड़ा (८) छप्पय गज-ग्राह कौ (९) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरबोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण-लीला (१७) समभणी लीला (१८) तिथि-लीला (१९) नंद-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग फुटकल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदावली और वार लीला को छोड़कर बाकी ११ ग्रंथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (नं० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (नं० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। साँच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियों में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अमावस्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढंग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर मावस मन में गरब न करना, गुरु प्रताप इमि दूतर तरना। पड़िवा प्रीत पीव सूँ लागी, मंसा मिथ्या तब सब्या भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस मैं तैं दोऊ डारी, मन मंगल अंतर लै सारी। पड़िवा परमंतंत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोड़ने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकड़कर प्रियतम-लवलीन करने की बात करते हैं।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं :

> कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
> सोम वार ससि अमृत झरै, पीवत वेगि तवै निस्तरै

परशुराम की वारलीला में इसी को इस ढंग से कहा गया है :

> वार-वार निज राम संभारूँ,
> रतन जनम भ्रम वाद न हारूँ
> सोम सुरति करि सीतल धारा,
> देव सकल व्यापक व्यौहारा
> सोन विसरि जाको निस्तारा,
> समदृष्टि होइ सुमरि अपारा।

१. प्रथम भाग, संपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

आरम्भ में दोनों अपने नाम के स्मरण के साथ भगवान् का स्मरण करते हैं। अनन्तर भी हरि-वर्णित अमृत को पीने वाले के लिए कबीर निस्तार का आश्वासन देते हैं, परशुराम लोभ को मुक्ति शीतल धार कहकर रामरटि होकर उसको न भूलने में ही निस्तार बताते हैं।

§ २२५. इन ग्रन्थों में भावसाम्य को 'कल्पनाओं का साम्य' बताकर भिन्न रचनायें स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु विप्रमती में तो यह साम्य अत्यन्त आश्चर्यजनक मालूम होता है।

विप्रमतीसी

कबीर	परशुराम
सुनहु सवन मिलि विप्रमतीसी	सब को सुणियो विप्रमतीसी
हरि बिनु बूडे नाव भरीसी	हरि बिनु बूडे नाव भरीसी
ब्राह्मण होके ब्रह्म न जानै	बामण ह्वै पै ब्रह्म न जाणै
घर महं जगत परिग्रह आनै	घर में जगत पतिग्रह आणै
जे सिरिजा तेहि नहिं पहिचानै	जिण सिरजै ताकू ण पिछाणै
कर्म मर्म लै बैठि बखानै	करम भरम कूँ बैठि बखाणै
ग्रहण अमावस सायर दूजा	ग्रहण अमावस सायर दूजा
स्वस्तिक पात प्रयोजन पूजा	सूत गया तब प्रोजन पूजा
प्रेम कनक मुख अन्तर वासा	प्रेत कनक मुख अन्तरि वासा
आहुति सत्य होमि कै आसा	सती अऊत होम की आसा
उत्तम कुल कलि माँहि कहावै	कुल उत्तम कलि माहि कहावै
फिरि फिरि मध्यम कर्म करावै	फिर फिर मधम कर्म कमावै
× ×	× ×
हंस देह तजि न्यारा होई	हंस देह तजि नयरा होई
ताकी जाति कहाँ धू कोई	ताकर जाति कहहुं रहुं कोई
स्वेत स्याम की राता पियरा	स्याह सुपेत की राता पीला
अवर्ण वर्ण की ताता सियरा	अवरण वरण की ताता सीला
हिन्दू तुरक की बूढा बारा	अगम अगोचर कहन न आवै
नारि पुरुष मिलि करहु विचारा	अपुणै अपुणै सहज समावै
कहिये कहि कहा नहिं माना	समुझि न परै कहाँ को मानै
दास कबीर सोई पै जाना	परसा दास होई सोइ जानै

कबीर की भाषा अपने राजस्थानी रंग के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु यहाँ उनकी 'विप्रमतीसी' की भाषा राजस्थानी प्रभाव से रहित दिखाई पड़ती है ऐसा शायद इसलिए है कि यह रचना बीजक का अंग है। बीजक की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। बहुत से विद्वानों ने बीजक की प्रामाणिकता में सन्देह भी व्यक्त किया है। लगता है कि परशुराम की मूल 'विप्रमतीसी' को राजस्थानी रंग से प्रभावित देखकर इस ग्रन्थ को कबीर के ... चलानेवाले ने भाषा को बदलने की बहुत कोशिश की। इन साम्यों को देखते हुए

स्व० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम का रचनाकाल ज्ञात नहीं है वे कबीर से पहले के हैं या पीछे के यह भी ज्ञात नहीं। इसलिए पूर्ववर्ती संबन्ध से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनायें कबीर के नाम से चल पड़ी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनायें स्वामी सुखानन्द और वराना जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम संभव है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।'[1]

§ २२६. नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्ववेत्ता की कविताओं के कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता-नाम 'हितू', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्बार्क संप्रदायी आचार्य कवियों के उपनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।[2] इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरंग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के युगलसत[3] का एक पद—

मुकर मुखर निरखत दोउ मुख ससि नैन चकोर।
गोर स्याम अभिराम अति छबी फबी कछु थोर॥
गोर स्याम अभिराम विराजै।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग मुकर मुखर निरखत नहि त्याजैं।
कंठ हो कंठ बाहु ग्रीवा मिलि प्रतिबिम्बित तन उपमा लाजैं॥
नैन चकोरि विलोक बदन ससि आनंद सिंधु मगन भए आजैं।
नील निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजैं॥
घटा छटा भांव द्रल कोदंड दोउ तन एक देस छबि छाजैं।
पावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नीसुर बाजैं॥
अमिट अटकि परे दंपति दृग मूरति मनहु एक हो साजैं॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी[4] से—

हौं कहा कहौं सुख फूल मई।
फूले फूल फबे सब बन में तन मन की सब सूल गई॥
फूल दिसन विदिसन में फूलै छिति अम्बर में फूल छई।
फूली लता द्रुम सरित सरव में खग मृग सब ठों फूल दई॥
फूल निकुंज निलय निकरनि में बरन बरन में फूल नई।
श्री 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई॥

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, संवत् १९९७, पृ० ३३४
२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८
३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरीप्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।
४. निम्बार्क—माधुरी में संकलित

श्री भट्ट और हरिव्यास देव की रचनायें भक्तों में अति प्रचलित रहीं हैं और इ रचनाओं के कोई बहुत प्राचीन हस्तलेख भी प्राप्त नहीं होते। सभी हस्तलेख १८ वीं शती ही मिले हैं इसलिए इन रचनाओं की भाषा बहुत परवर्ती मालूम होती है। किन्तु परशु देव की भाषा काफी पुरानी है। १६७७ संवत् की लिपिकृत परशुराम वाणी की कुछ रचन नीचे उद्धृत की जाती हैं।[1]

परशुराम के काव्य पर निर्गुण और सगुण दोनों ही मतों का प्रभाव दिखाई पड़ता है

अवधू उलट्यो मेर चढ्यो मन मेरा सुनि जोति धुनि लागी।
अणभै सबद बजावै विणकर सोई सुरता अनुरागी॥
उदि आसमान अपाड़ा देवै सोइ वदिय बड़भागी।
घर बाहर डर कछू नाहीं सोई निरभै वैरागी॥
रहै अकलप कलप तर सौं मिलि कलपि मरै नहि सोई।
निहचल रहै सदा सोइ परसा अवागमण न होइ॥

सगुण भक्ति सम्बन्धी पद—

कान्हर फेरि कहो जु कही तब सो मोरी सूँ सरै।
सोवत जागी जसोदा उठी सुन सुत सब्द ऊँसरै॥
लषमण बाण धनुषि दे मेरे मोंहि जुद्ध की हूँसरै।
सीया साल को सहै सदा दुष करिहूँ असुर विधूँसरै॥
प्रगटी भाई जुद्ध विद्या बल सुमन सिंधु सारूँसरै।
परशुराम प्रभु उमगि उठे हरि लीने हाथ अयूम रे॥

'लीला समझनी' का विश्व रूप सम्बन्धी एक पद—

कैसी कठिन टगोरी मारी देख्यो चरित महाछल भारी।
पड़ भारम्भ भो भौमर साच्यो, ज्यों मलिनी सूवा गहि बाध्यो॥
छूटि न सके अकळ कळलाई, निर्गुण गुण में सब उरझाई।
उरझि उरझि कोइ लहै न पारा, भुरकी लागि भन्यो संसारा॥
बहि गए बनजि माँहि समाया, अविगत नाथ न दीपक पाया।
दीपक छाँडि अंधा है धावै, वस्तु अगह क्यों गहणी आवै॥
गहणी वस्तु न आइये वाणी अब कियो विचारि।
अंध अचेतन भास बसि चाले रतन विसारि॥

तत्ववेत्ता के कुछ फुटकल पदों का एक संग्रह प्राप्त होता है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने लिखा है कि इनके कवित्त नामक एक ग्रन्थ का पता है जो पिंगल भाषा (ब्रजभाषा) में है। इसमें ६८ कवित्त (छप्पय) हैं जिनमें राम, कृष्ण, नारद, जनक आदि महापुरुषों की महिमा कही गई है। तत्ववेत्ता का एक छप्पय नीचे दिया जाता है।[2]

---

१. नागरीप्रचारिणी सभा की हस्तलिखित प्रति से। परशुराम सागर का सम्पादन भी सभा शीघ्र करा रही है।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०६

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कछु नाहीं।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानैं
हरिमारग हरिराइ वेद भागवत बखानै।
ततवेत्ता तिहुँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रह्या।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया॥

नरहरि भट्ट

§ ८२७. नरहरि भट्ट उम्र में सूरदास के समवयस्क थे। उनके रचना काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनायें कई दृष्टियों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्तः प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखतीं जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिंगल भाषा से। उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य-चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिंगल काव्य-रूपों और उनकी शैली से।

नरहरि की जन्म-तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है। उनके वंशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था। पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं।[1] नरहरि की रचनाओं के अंतर्साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था। उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बड़ा विशद् और चित्रात्मक वर्णन किया है। इस प्रकार के बिम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नहीं है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के संपर्क में संवत् १५९० के आस-पास आये होंगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी संवत् १५९७ के वैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है। 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ संबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं। बाबर के विषय में नरहरि का यह पद काफी महत्त्व का है।[2]

नेक बख्त दिल पाक सखी अबौ मर्द शेर नर
अव्वलं अली खुदाय दिया तिरिपार मल्क जर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०१

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६। इस छप्पय को और भी कई लोगों ने उद्धृत किया है। देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८ विशाल भारत, मार्च, १९४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना-संमेलन पत्रिका, पौष संवत् १९९९। हिन्दुस्तानी, भाग २०, पृ० सं० ५

> खालिक यदुनेश हुकुम आलियां जो आलिय
> दौलत बएस बुलन्द जंग दुश्मन पर गालिय
> अवसाफ तुरा गोयद सकल छवि नरहरि गुफलम चुनी
> बाबर बरोबर बादशाह दीगर न दीदम कर चुनी

इस प्रकार की प्रशंसा बाबर के जीवन-काल में ही की गई होगी। इसी बात को लक्ष्य करके डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने नरहरि को बाबर के दरबार का कवि स्वीकार किया है।[1] विक्रमी संवत् १५६२ को नरहरि भट्ट का जन्म-काल मानने पर बाबर के दरबार में उनका उपस्थित होना असंभव नहीं है क्योंकि उस समय वे २४–२५ वर्ष के रहे होंगे। मुसल्मान बादशाहों के अलावा, कई हिन्दू राजों के साथ भी नरहरि का संपर्क था। उन्होंने रीवां नरेश वीरभानु तथा उनके पुत्र रामचन्द्र के विषय में भी कई प्रशस्तिमूलक पद्य लिखे हैं। इस तरह के पद्यों के आधार पर नरहरि के जीवन संबन्धी घटनाओं का विवरण डा० अग्रवाल ने अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पुस्तक में दिया है। नरहरि की शिक्षा-दीक्षा, उनके वंश-घराना निवास-स्थल तथा पारिवारिक जीवन-वृत्त आदि के विषय में डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने विशाल भारत के फरवरी १९४६ के अंक में विस्तार से लिखा है। यहां उस विवरण को दुहराने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। इन सब प्रमाणों को देखने से लगता है कि नरहरि का रचना काल सूर के कुछ पहले पड़ता है। हम नरहरि की भाषा के विषय में कुछ विचार करना चाहते हैं।

अभी नरहरि की रचनायें पूर्णतः प्रकाश में नहीं आई हैं। अब तक जितनी रचनाओं का पता चला है, वे इस प्रकार हैं। (१) रुक्मिणी मंगल, (२) छप्पय नीति और (३) कवित्त संग्रह। इन तीनों रचनाओं में केवल रुक्मिणी मंगल ही पूर्ण काव्य है बाकी रचनायें फुटकल पद्यों का संग्रह मात्र है। नागरीप्रचारिणी सभा की हस्तलिखित प्रति से जिसका लिपिकाल संवत् १७२१ है, डॉ० अग्रवाल ने कुछ फुटकल पद्यों को अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में उद्धृत किया है जो 'वादु' काव्य हैं जिनमें 'लोहे सोने का वादु', 'तेल तंबोल का वादु', 'लज्जा-भूख का वादु' आदि कई रचनायें संकलित हैं। इन रचनाओं की भाषा पर विचार नहीं हुआ है।

नरहरि की भाषा के विषय में जो विचार हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं, उसकी पुष्टि के लिए उदाहरण उपर्युक्त रचनाओं से लिए गए हैं, विस्तार भय से पूरी रचनाओं को उद्धृत नहीं किया जा सकता इसलिए उदाहरणों के लिए 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' के परिशिष्ट में संकलित रचनाओं को देखना चाहिए।

§ २२८. ध्वनि-विश्लेषण करनेपर नरहरि की भाषा काफी प्राचीन मालूम होती है। द्वित्व व्यंजनों को सरलीकृत कर लेने की प्रवृत्ति जो अवहट्ठ काल में शुरू हुई थी और ब्रजभाषा में बाद में जिसका चरम विकास हुआ, नरहरि की भाषा में प्रबल नहीं दिखाई देती। इसीलिए द्वित्व व्यंजन प्रायः सुरक्षित हैं। रिझझहिं (वादु २ > ब्रज० रीझहिं), सज्जहिं (वादु २ > ब्रज० साजहिं), बड्डेउ (वादु > बाढ़ेउ या बाढ्यो), तिन्नि (वादु ४ अप० त्रिण्णि > ब्रज० तीनि), अप्पुबल (वादु ६ > ब्रज० आपु बल), हत्थ (वादु ६ > ब्रज० हाथ) रुक्मिणी मंगल की शैली छप्पयों की नहीं है, उसमें कई प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं इसलिए उसमें

---

1. महाकवि नरहरि महापात्र, विशाल भारत, मार्च १९४९, पृ० ११८

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यंजन-द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छप्पय छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परंपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२९. उद्वृत्त स्वरों की विवृत्ति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रंश से उद्वृत्त स्वरों को संधि प्रक्रिया से संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। ब्रजभाषा में उद्वृत्त स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रंश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउं (वादु १>ब्रज करौं), गहइ (वादु ११>ब्रज० गहै), रष्यउ (वादु ११> ब्रज० राखौ), कहइ (वादु १२>ब्रज० कहै), लहइ (वादु>ब्रज लहै), रुक्मिणी मंगल में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे–

पठाएउ>पठायौ, बुलाएउ>बुलायौ, बनाएउ>बनायौ, कीन्हेउ>कीन्हौं, दीन्हेउ> दीन्हौ, रोवइ>रोवै, बोवइ>बोवै, शाधेउ>साध्यौ, अवराधेउ>अवराध्यौ, कलइ>कलै, तलफइ>तलफै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तज रूपों की ध्वनि-प्रक्रिया काफी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। ब्रज में इन्हीं के कह्यौ, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ>नर० साधेउ>ब्रज साध्यौ, अप० अवराधिउ>नर० अवराधेउ> ब्रज अवराध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्त्व मिलते हैं। जगदीस कहं (वादु १>जगदीस कौं), अप्पु महं (वादु २>आपु में), मोहिं लगि (वादु १०), तिन्ह के (वादु १।६>तिनकैं), हत्थंह (वादु १।७, षष्ठी विभक्ति युक्त), ग्रुगंह (वादु ३।७२ सविभक्तिक षष्ठी), चित्तहं गुनिय (वादु ३।७३ सविक्तिक सप्तमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग ब्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१. परसर्गों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरंभिक ब्रज में मिलता है (देखिये §११७) किन्तु परवर्ती ब्रज में धीरे धीरे लौं की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। जेहि काज लगि (वादु ४) केसव भट्ट पहं (वादु २।७७) अनाथ नाथ कउ (बा० मासा ११३, ब्रज को) एहइ (बारह मासा ११३ इस को) परसर्गों की दृष्टि से 'न्है' का प्रयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवहट्ट ग्रंथ में नें का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिलता में ही 'न्है' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा ग्रंथ में भी 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में ने के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्त्व

इसलिए है कि यह 'ने' न होकर 'न्हे' है जैसा कीर्तिलता में है। एण से ने के विकास
संभवतः 'न्हे' मध्यवर्ती स्थिति है। यान्हे लिखी पाती (रु० म०)।

§ २३२. तुम्ह (याद् २।५) हौं (याद् १।५) आदि सर्वनाम अपभ्रंश के ही हैं
ब्रज का अति प्रचलित तैं रूप कम मिलता है। तै (याद् १।११)। केहु (याद् ४।३ ब्रज
कोउ), जैइ (फुटकल ११ <जेण), अप्पन (फुटकल १३ <अप्पण, ब्रज अपनों) वो संक
(रु० म० ४६), इह (रु० म० ४६) सर्वनामों की दृष्टि से नरहरि भट्ट की भाषा पूर्णतः
अपभ्रंश की ही पश्चगामिनी दिखाई पड़ती है। सर्वनामों में परसर्गों के साथ विभक्तियों का
भी प्रयोग हुआ है।

§ २३३. विध्यर्थ क्रिया के महत्त्वपूर्ण रूप किज्जिअ (याद् २।४ ब्रज कीजे) किज्जिऐ
(याद् १।६ कीजिये) दिज्जिऐ (याद् १।६ दीजिये)। ईज्जइ रूप अपभ्रंश का सीधा लगाव
सूचित करता है। आज्ञार्थक में करओ (याद् २।५) रूप भी अवहट्ठ की तरह ही है। दीध
(फु० छन्द ४) कीध (याद्) लीध (याद्) आदि रूपों में 'ध' प्रकार की कृदन्तज क्रियायें
मिलती हैं। ऐसे रूप पुरानी राजस्थानी और रासो की भाषा में प्राप्त होते हैं। कुछ लोगों का
कहना है कि 'ध' प्रकार के रूप ब्रजभाषा में नहीं मिलते, परन्तु नरहरि की भाषा के ये प्रयोग
उपर्युक्त मत की पुष्टि नहीं करते। भविष्य के मिलिहहिं (याद् ३।८० ब्रज मिलि हैं) आदि
रूप पुरानापन सूचित करते हैं।

§ २३४. आ-कारान्त क्रियाओं को लेकर इतना बड़ा विवाद होता है। मैंने अवहट्ठ
वाले प्रसंग में ही कहा है कि आकारान्त क्रियायें ब्रज में नहीं मिलतीं ऐसा कहना बहुत उचित
नहीं। कृदन्तज रूपों में पदान्त अ का आ रूपान्तर होता था। धारिअ>धारिआ (रु०
मंगल), छाइअ>छाइआ (रु० मंगल), पाइअ>पाइआ (रु० मंगल), विचारिअ>
विचारिआ (रु० मंगल,) धाइअ>धाइआ (रु० मंगल) इस तरह के रूप प्राकृत पैंगलम्,
कीर्तिलता, रणमल्लछन्द आदि अवहट्ठ रचनाओं में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बघेरे
कवि के गुरु ग्रन्थ वाले पदों में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

मीरांबाई

§ २३५. मीरां का जीवन-वृत्त अद्यावधि जनश्रुतियों के कुहासे में ही ढंका हुआ है।
उनके जन्म-काल के विषय में विद्वानों ने काफी खोज-बीन की है, किंतु अब तक कोई अन्तिम
निष्कर्ष नहीं निकल सका। मीरां के जीवन-वृत्त की सूचना देने वाला पहला ऐतिहासिक विवरण
कर्नल टाड के 'एनल्स एंड एंटिक्वीटीज़ आव राजस्थान' में उपस्थित किया गया। टाड ने
मीरां को राणा कुंभ की पत्नी माना। उन्होंने लिखा कि राणा कुंभ ने मेड़ता के राठौर की
लड़की मीरां को, जो भक्ति और सौन्दर्य के लिए ख्यात थी, अपनी पत्नी बनाया।[1] कर्नल टाड
ने एक दूसरे स्थान पर राणा कुंभ के बनवाये हुए एक मंदिर का उल्लेख किया जिसे 'मीरा
जी का मंदिर' कहते हैं।[2] संभवतः इस जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीरां और राणा

---

१. एनल्स एंड एंटिक्वीटीज़ आव राजस्थान, जेम्स टाड, जिसे विलियम क्रुक ने
संपादित किया। भाग १, पृ० ३३७

२. वही, भाग ३, पृ० १८१८

कुंभ को संबद्ध मान लिया। टाड के इस निष्कर्ष ने काफी भ्रान्ति फैलाई और बहुत से विद्वानों ने कई प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर मीरां को उक्त काल से संबद्ध बताया। गुजराती विद्वान् श्री गोवर्धन राय माधोराय त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'क्लैसिकल पोयट्स आव गुजरात' में मीरा का समय १५वीं शताब्दी निर्धारित किया।[1] उसी प्रकार श्री कृष्णलाल मोहन लाल भवेरी ने भी मीरां का जन्म १४०३ ईस्वी के आस-पास तथा उनकी मृत्यु का समय, ६७ वर्ष की उम्र में, १४७० ईस्वी में बताया है।[2] श्री हरविलास सारदा ने अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा' में मीरां को राव दूदा (सन् १४६१–६२) के चौथे पुत्र रतन सिंह की पुत्री बताया है।[3] विलियम कुक ने एनल्स आव राजस्थान में जेम्स टाड के मीरा-विषयक मत के साथ सारदा का मत भी टिप्पणी में दिया है। इस प्रकार एक पक्ष के लोग मीरां को १५वीं शताब्दी का मानते हैं। दूसरी ओर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और श्री देवीप्रसाद जैसे इतिहासकार बिल्कुल भिन्न धारणा रखते हैं। डा० ओझा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजपूताने के इतिहास में लिखा कि 'लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराणा कुम्भ ने और छोटा उसकी राणी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीरांबाई को महाराणा कुम्भा की राणी लिख दिया। जो मानने योग्य नहीं है। मीरांबाई महाराणा संग्राम सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की स्त्री थीं।[4] जो मन्दिर मीरांबाई का बनवाया हुआ कहा जाता है वह वास्तव में राणा कुम्भ के द्वारा ही संवत् १५०७ में बनवाया गया था। कुम्भ स्वामी और आदि वाराह दोनों ही मन्दिरों की प्रशस्तियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।[5] मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीरांबाई जीवनचरित्र' में एक दूसरे पहलू से टाड वाली मान्यता का प्रतिवाद किया। उन्होंने लिखा कि 'यह बिल्कुल गलत है क्योंकि राणा कुम्भा तो मीरांबाई के पति कुँवर भोजराज के परदादा थे। और मीरांबाई के पैदा होने के २५ या ३० वर्ष पहले मर चुके थे। मालूम नहीं कि यह भूल राजपूताने के ऐसे बड़े तवारीख लिखने वाले से क्योंकर हो गई। राणा कुम्भा जी का इंतकाल संवत् १५२५ में हुआ था उस वक्त तक मीरांबाई के दादा दूदा जी को मेड़ता मिला ही नहीं था। इसलिए मीरांबाई राणा कुम्भ की राणी नहीं हो सकतीं। मुंशी देवीप्रसाद ने मीरांबाई का जन्म काल संवत् १५५५ के लगभग माना है।[6] ओझा के अनुसार मीरां का विवाह १८ वर्ष की उम्र में राणा संग्राम सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। विवाह के बाद संवत् १५८० में भोजराज का देहान्त हो गया। मुंशी देवीप्रसाद ने मीरां का मृत्युकाल संवत् १६०३ माना है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से मीरां के जीवन-तथा रचना काल के विषय में इतना पता चलता है कि वे १६०० के पहले वर्तमान थीं और उन्होंने १५८० संवत् के आस-पास भक्ति संबन्धी कविताओं की रचना शुरू की थी। इस प्रकार यद्यपि मीरां सूर की पूर्ववर्ती नहीं थीं,

---

१. जी० एम० त्रिपाठी, क्लैसिकल पोयट्स आव गुजरात, पृ० १०
२. के० एम० भवेरी, माइलस्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर, पृ० ३०
३. महाराणा सांगा, अजमेर, १९१८, पृ० ६५–६६
४. राजपूताने का इतिहास, दूसरा खंड पृ० ६७०
५. वही, पृ० ६२२
६. मीरांबाई का जीवन चरित्र, पृ० २१–२२

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों-ब्रज और खड़ी-में लिखी संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ा था।

§ २३७. मीराँ की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है।

(१) नरसी जी रो माहेरो।
(२) गीत गोविन्द की टीका।
(३) सोरठ के पद।
(४) मीरा बाई का मलार।
(५) राग गोविन्द।
(६) गर्वा गीत।
(७) फुटकल पद।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी संदिग्ध है। 'नरसी जी रो माहरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लड़की या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में भाई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है। नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था। इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती। गुजराती विद्वानों ने इस ग्रन्थ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा बिलकुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है। इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है:

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस शुभ गा सुनाऊँ।
पश्चिम दिसा प्रसिद्ध धाम सुख श्री रणछोड़ निवासी।
नरसी को माहेरो मंगल गावे मीराँ दासी ॥१॥

छत्री वंस जनम मम जानो नगर मेड़ते वासी।
नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि इतिहासी ॥२॥

सखा आपने संग जु लीन्हें हरि मन्दिर में आये।
भक्ति कथा आरंभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मंडल को देस बखानूँ संतन के जस वारो।
को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुँवारो ॥४॥

भये प्रसन्न मीरां तब भाख्यो सुनि सखि मिथिला नामी।
नरसी की विध गाय सुनाऊँ सारे सब ही कामी ॥

बीच में एक बैजैयन्ती राग का पद इस प्रकार है।

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी पल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूं जाग परी पिव ढूँढ़ न पाये॥
और सखी पिव सोय गमाए मैं जु सखी पिउ जागि गमाए ॥१॥

आज की बात कहाँ कहूँ सजनी सपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज भये सखि मन के भाये ॥२॥

रचना के अन्त में एक माहात्म्य सूचक पद भी दिया हुआ है।

यो माहरो सुनेरू गुनिहै बाजे अधिक बधाय।
मीरां कहै सत्य करि मानो भक्ति मुक्तिफल पाय।

नरसी जी के माहरों की सूचना 'राजपुताना में हिन्दी ग्रंथों की खोज' (संवत् १९६८) में छपी हुई है। मुंशी देवीप्रसाद ने इस खोज रिपोर्ट का निरीक्षण किया था।[1] गीतगोविन्द की टीका नामक कोई रचना मीरां के नाम की प्राप्त नहीं होती, संभवतः किसी ने राणा कुंभा की टीका को ही भ्रमवश मीरां-कृत मान लिया हो। राग सोरठ के पद की सूचना नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में छपी है।[2] नीचे की चार रचनाओं में गर्वा गीत को छोड़ कर बाकी तीन फुटकल पदों के भिन्न-भिन्न संग्रह प्रतीत होते हैं। श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी गुजरात में प्रचलित कुछ गर्वा गीतों को मीरां का बताते हैं।[3] इस विषय में उन्होंने कोई विस्तृत विवरण नहीं दिया है।

मीरां के फुटकल पदों में बहुत से पद राजस्थानी भाषा के दिखाई पड़ते हैं किन्तु ब्रज-भाषा में लिखे पदों की संख्या भी कम नहीं है। इस तरह के पद मीरां बाई की शब्दावली, (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) अथवा श्री नरोत्तम स्वामी के ग्रन्थ 'मीरां मन्दाकिनी' में काफी संख्या में मिल सकते हैं। नीचे केवल एक पद दिया जाता है, यह सूचित करने के लिए कि मीरां के पद शुद्ध ब्रजभाषा में भी प्राप्त होते हैं, वैसे प्रामाणिकता में संदेह तो तब तक रहेगा ही जब तक ऐसे पदों का कोई प्राचीन और प्रामाणिक हस्तलेख प्राप्त नहीं हो जाता।

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
रैन पड़े ही उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके संग खेलूँ ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ॥

संगीतकार कवियों की रचनायें

§ २३८. आरंभिक ब्रजभाषा को सँवारने, परिष्कृत करने खास तौर से उसमें गेय तत्त्व और लयतत्त्व का संचार करने में संगीतकार कवियों का बहुत बड़ा योग रहा है। १३ वीं १४ वीं शताब्दी में उत्तर भारतीय संगीत में ईरानी संगीत के प्रभाव के कारण एक नई शैली का उदय हुआ जिसने हिन्दुस्तानी संगीत की बुनियाद डाली। मध्यकालीन राजपूत राजाओं के दरबार में यद्यपि प्राचीन भारतीय संगीत की सुरक्षा होती रही, किन्तु हिन्दुस्तानी संगीत का प्रभाव

---

1. राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज, संवत् १९५८, पृ० ६
2. खोज रिपोर्ट, सन् १९०२, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ८१
3. माइल्स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, बम्बई, १९१४, पृ० ३३

यहाँ भी पड़ने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का विश्वास है कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल संगीत के विकास का सुनहरा युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के ह्रास का कारण भी मानते हैं।[1] यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वंस-नीति के कारण संगीत और कला को बड़ा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसलमान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसलमानों के भीतर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे जिनकी उदारता और साधना ने एक नई मिश्रित कला-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम स्थापत्य में ताजमहल, साहित्य में सूफी प्रेमाख्यानक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सृजन था। श्री भातखण्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओं की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि कम से कम मैं व्यक्ति गत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी संपर्क हमारे लिए अभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवों के आधार पर यह नहीं कहते कि अपनी शास्त्रीय कमजोरियों के बावजूद हिन्दुस्तानी संगीत इतना भव्य और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इसे सीखने और अनुकरण करने की सलाह देते हैं।[2]

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत संमान था तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय संगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए § ८२) यहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के पिंगल नामकरण के पीछे एक कारण यह संगीत भी था जिसके रागों के बोल प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

खुसरो

§ २३९. भारतीय और ईरानी संगीत में समन्वय स्थापित करके उसे एक नई पद्धति का रूप देने में अमीर खुसरो का बहुत बड़ा हाथ है। अमीर खुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के मर्मज्ञ विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के मिश्रण से कुछ ऐसे नये रागों का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अमूल्य निधि हैं। मजीर, साजगरी, इमन, उश्शाक, मुवाफ़िक़, ग़नम, ज़िल्फ, फरगाना, सरपर्दा, बकहरार, फिरदोस्त, मनम् जैसे रागों की उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं वाद्य-यंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उपयुक्त वाद्य-यंत्रों के निर्माण में भी खुसरो ने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया।

खुसरो का जन्म एटा जिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम यमुनुद्दीन मुहम्मद हसन था। सात वर्ष की उम्र में पिता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके नाना एमादुलमुल्क ने किया। बलबन ने इन्हें अपने पुत्र मुहम्मद सुलतान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे मुहम्मद सुल्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

---

1. The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohamedan conquest, with the advent of the Mohamedans it declined Indeed it is wonderful that it survived at all

Capt. Day; Music of Southern, India PP. 3.

२. वी० एन० भातखण्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इण्डिया, पृ० २०-२१

ईस्वी में जब ईतालपुर के युद्ध में सुल्तान मारा गया तो ये भी शत्रुओं के हाथ में पड़ गए। दो वर्ष बाद मुक्ति मिली तो अवध के सूबेदार आलमगीर के नौकर बने। 'अस्प नामा' इन्हें लिखा गया था। अपने जीवन काल में खुसरो ने जितनी उथल-पुथल देखी उतनी शायद ही किसी कवि ने देखी हो। आलमगीर के बाद उन्होंने कैकुबाद की नौकरी की और गुलाम वंश के विनाश के बाद जलालुद्दीन खिलजी के दरबारी बने। अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा तब खुसरो की पद-वृद्धि हुई और उन्हें मुमरु-ए-शायरा की पदवी मिली। खिलजी वंश के पतन के बाद भी खुसरो राजकवि बने रहे और तुगलक गयासुद्दीन ने उनका पूरा सम्मान किया। इस प्रकार खुसरो ने दिल्ली में ग्यारह बादशाहों का उदय और अस्त देखा। १३२४ ईस्वी में अपने गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु के कारण वे बहुत दुःखी हुए और उसी गम में उनका सन् १३२५ ईस्वी में देहान्त हो गया।[1] खुसरो अप्रतिम विद्वान् और अद्भुत देश-भक्त व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी रचना 'नुह सिपेह्र' में बड़े विस्तार से यह बताया है कि वे हिन्दुस्तान को प्रेम क्यों करते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान के गौरव को बढ़ानेवाले दस कारणों का उल्लेख किया है। संगीत, भाषा, जलवायु, आदमी, रहन-सहन आदि के बारे में विस्तार से बताया है। भाषा के बारे में खुसरो का कहना है कि दिल्ली में हिंदवी भाषा बोली जाती है जो काफी प्राचीन है। हिन्दवी का अर्थ संभवतः ब्रजभाषा है क्योंकि दूसरी भाषाओं के साथ ब्रज का नाम नहीं लिया है जब कि सिंधी, बंगला, अवधी आदि का नाम आता है। देशी भाषाओं के उदय की सूचना देनेवाला यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकेत है। इसी प्रसंग में खुसरो ने भारतीय संगीत की भी चरचा की है। उसने स्पष्ट लिखा है कि हिन्दुस्तानी संगीत सुन कर हिरन तक मग्न हो जाते हैं। वे दौड़ना भूल जाते हैं।[2] गोपाल नायक, बैजू और तानसेन के बारे में, उनके संगीत की प्रतियोगिता में हिरनों के आने की बात, खुसरो के इस संकेत से पुष्ट होती है।

खुसरो ने अपनी 'आशिका' नामक रचना में हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। यद्यपि उन्होंने उसे अरबी से थोड़ा हीन माना किन्तु राय और रूम (फारस के नगरों) की भाषा के किसी भी तरह हीन मानने को वे तैयार न थे। हिंदी का अर्थ यहाँ हिन्द की भाषा यानी संस्कृत भी हो सकता है किन्तु यदि हिन्दी का अर्थ हिन्दी भाषा ही मानें तो स्पष्ट है कि उनका संकेत काव्यभाषा यानी ब्रज की ओर था। क्योंकि १३वीं शती में खड़ी बोली की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उसे फारसी भाषा का दर्जा दिया जाता। डा० सैयद मोहीउद्दीन कादरी खुसरो की भाषा को ब्रजभाषा ही कहना चाहते हैं।[3] डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में साहब के मत का विरोध करते हुए लिखा कि 'खुसरो की बयान ब्रजभाषा नहीं थी तब तक किसी भाषा के क्रिया पद और कारक चिह्नादि व्याकरण की दृष्टि से प्रयुक्त न हों तब तक उस भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नहीं माना जायेगा। शब्द चाहे ब्रजभाषा के भले ही हों पर

---

१. खुसरो के जीवन-वृत्त के लिए द्रष्टव्य—
एस० डी० मिरज़ा, लाइफ एंड वर्क आफ अमीर खुसरो

२. खिलजी कालीन भारत, सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, अलीगढ़, १९५५,
पृ० १७१—८०

३. उर्दू शह पारे, प्रथम, भाग पृ० १०

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं।[1] डा० वर्मा का कथन बिल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं :

१—मेरा मोसे सिंगार करावत आगे बैठ के मान बढ़ावत
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा
—हि० अलोचना० इति० पृ० १३१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥

३—मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी लाल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा अगिनि मोहि डस डस जाय।

४—हज़रत निजामुद्दीन चिस्ती जरजरीं बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५—री मैं धाऊँ पाऊँ हजरत ख्वाजदीन
शकरगंज सुलतान मशायख़ महबूब इलाही
निज़ामुद्दीन औलिया के अमीर खुसरो बल बल जाहीं

ये पांच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्रायः प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा-संबंधी विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खड़ी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नहीं कहे जा सकते। अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध देखा जा सकता है।[2]

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरो, मोरी (षष्ठी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप मोहि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक कोउ (खड़ी बोली का कोई नहीं) नित्य संबंधी जोइ जोइ तथा दूरवर्ती संकेतवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढ़ावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खड़ी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिंग) दीनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सोवै, डारै, लागै, ध्यावैं आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जो केवल ब्रज में चलते हैं, खड़ी बोली में नहीं) क्रियार्थक संज्ञा डरावन (न प्रत्यय निर्मित खड़ी बोली का डरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे संख्यावाचक विशेषण, (दोनों, चारो नहीं) आदि तत्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण पृ० १२७

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९०८, पृ० २६६।

खुसरो की भाषा का पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत सही विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है कि 'काव्यभाषा का ढांचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था अतः जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उसमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। खुसरो की हिन्दी रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोल-चाल पहेलियों, मुकरियों और दो सखुनों में ही मिलती है यद्यपि उनमें भी कहीं कहीं ब्रजभाषा की झलक है पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्यभाषा ही है।'[1]

गोपाल नायक

§ २४१. गोपाल नायक खुसरो के समकालीन ही माने जाते हैं। 'नायकी कानड़ा' राग के रचयिता इस यशस्वी संगीतकार के विषय में इतिहास प्रायः मौन है। संगीत के इतिहास-ग्रंथों में गोपाल नामक दो संगीतकारों का पता चलता है। प्राचीन ध्रुपदों में कहीं कहीं 'कहैं मियां तानसेन सुनो हो गोपाल लाल' जैसी पंक्तियां भी मिलती हैं, किन्तु गोपाल लाल नामक कवि तानसेन के समसामयिक और अकबर के दरबारी गायक थे। कप्तान विलियर्ड की पुस्तक 'ट्रिटीज़ आन दि म्यूज़िक आव हिन्दुस्तान' में गोपाल नायक के जीवन वृत्त आदि के विषय में विचार किया गया है। उक्त लेखक के अनुसार गोपल नायक सन् १३१० में दक्षिण के देवगिरि से उत्तर दिल्ली गए। उक्त सन् में अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण पर विजय पाई और देवगिरि के इस प्रसिद्ध राजगायक को दिल्ली आने पर विवश किया। कप्तान विलियर्ड ने लिखा है कि अलाउद्दीन के दरबार में गोपाल नायक ने जब पहली बार अपना संगीत सुनाया तो उनके अद्भुत कंठ-माधुर्य और मार्मिक संगीत ने सबको स्तब्ध कर दिया। प्रसिद्ध संगीतज्ञ खुसरो गोपाल के सामने प्रतियोगिता में खामोश रह गए और दूसरे दिन अलाउद्दीन के सिंहासन के नीचे छिपकर उन्होंने गोपाल का गीत सुना तब कहीं वे उसकी शैली का अनुकरण करने में समर्थ हुए।

शारंगदेव (१२१०–१२४७ ईस्वी) कृत संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने ताल-अध्याय पर टीका लिखते हुए कडुकताल के प्रसंग में गोपाल-नायक का भी नामोल्लेख किया है।

कडुकतालवस्तु गोपालनायकेन राग वर्द्धवैरेव गुणवद्र प्रयुक्तम्

१५वीं शताब्दी के प्रथम चरण में विजयनगर नरेश राजा देवराज के दरबार में कल्लिनायक का होना प्रायः निश्चित है। इस प्रकार १५वीं शती के आरम्भ तक गोपाल नायक एक अत्यन्त प्रसिद्ध संगीतकार माने जाते थे। १६वीं शताब्दी में भी कृष्णानन्द व्यास ने 'राग कल्पद्रुम' नामक एक संग्रह ग्रन्थ प्रस्तुत किया जिसमें प्राचीन संगीतकारों की रचनायें संकलित हैं। इनमें कतिपय रचनायें गोपाल नायक की भी मिलती हैं। गोपाल नायक की भणिता से युक्त एक रचना में अकबर का नाम आता है :

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, छठा संस्करण, संवत् २००७, पृ० ५१

दिल्लीपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों डर डरे धरती पुहुप माल हलायो
दल साजि चतुरंग सेना अगाध जहाँ गुन उयो चतु विद्याधर आप-
आप राग भेद गायो।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे। हालांकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहें और किसे गोपाललाल की।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-कल्पद्रुममें मिलते हैं, सभी ब्रजभाषा में हैं। रचना काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है। कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा का स्मरण दिलाते हैं। नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं।

१—अत गत मंत्र गंम् नम गंम् मगं मम गम मग ममग अत गत मंत्र गाइया
लै लोक भू में कमल रे हरि को लरै सन्तो लरै मकरन्द आइया
उदय चन्द्र धरी मन में अत गत मंत्र गाइया
तड़ तक कुपण जुग लरे हत काल विरत अपार रे अपार दे धर गावत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये ऊइयाँ, रे अत गत मंत्र गाइया

२—कहावै गुनी ज्यों साधै नाद सबद जाल कर थोक गावै।
मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध पावै॥
सो पंचम मध दर पावै,
उक्ति जुक्ति भक्ति युक्ति गुस होवै ध्यान लगावै।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै॥

३—जय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव।
देहो मोय विद्या कर कंठ पाठ॥
भैरव मालकोस हिंडाल दीपक श्रीमेघ सुतिवंत।
हृदय रहे ठाठ॥
सप्त स्वर तीन ग्राम अकईस मूर्छना बाइस सुतें,
उनचास कोट ताल लाग ठाट।
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट॥

बैजू बावरा

§ २४३. बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन-श्रुतियों एवं निजंधरी कथाओं से आवृत्त है। गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है। कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की ख्याति ज्यों ज्यों बढ़ने लगी उनमें अहंभावना भी बढ़ने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रुष्ट होकर वे चले गए। बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर ढूँढ़ते रहे। अलाउद्दीन के दरबार में दोनों की भेंट हुई। अलाउद्दीन

से बार बार पूछने पर भी गोपाल ने अपने गुरु का नाम नहीं बताया था और कहा था कि मेरी प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त और जन्मजात है। बादशाह ने रुष्ट होकर चेतावनी दी कि यदि तुम्हारे गुरु का पता लग गया तो तुम्हें फाँसी दे दी जावेगी। जब अलाउद्दीन को मालूम हो गया कि बैजू ही गोपाल के गुरु हैं तो उन्होंने फिर एक बार पूछा, परन्तु गोपाल ने वही पुरानी बात दुहराई। उस दिन गोपाल के संगीत से आकृष्ट होकर हिरनों का एक झुंड पास आकर खड़ा हो गया। उसने एक हिरन के गले में अपनी माला पहनाई और गर्व पूर्वक बैजू से बोला : यदि तुम मेरे गुरु हो तो मेरी माला मँगा दो। बैजू के गाने पर हिरन फिर आये, उसने माला उतार कर गोपाल को दे दी। बादशाह ने गोपाल को फाँसी की सजा दी, बैजू ने अपने शिष्य की रक्षा के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ।

यही कथा कुछ हेर फेर के साथ तानसेन और बैजू की प्रतियोगिता के विषय में भी प्रचलित है। तानसेन और बैजू बावरा दोनों ही स्वामी हरिदास के शिष्य माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'राधाकृष्ण की प्रेम-लीला के गीत सूर के वक्त से चले आते थे। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन से पहले देश में फैली हुई थी।'[1] शुक्ल जी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोई आधार नहीं बताया। डा० मोतीचन्द्र ने अपने 'तानसेन' शीर्षक लेख में तानसेन और बैजू बावरा की प्रतियोगिता का जिक्र करते हुए लिखा है कि 'इन सबमें तानसेन की ही पराजय मानी गई है। लेकिन इतिहास इस विषय में सर्वथा चुप है। शायद बैजू बावरा सूफी सन्त बख्शू हो जो तानसेन से एक पीढ़ी पहले हुआ था। शायद परवर्ती गायकों के विभिन्न पक्षपातियों ने अपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए ऐसी कहानियाँ गढ़ी हों। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में लिखित 'राग दर्पण' में फकीरुल्ला ने इसी बात की पुष्टि की है कि मानसिंह के समय में संगीत के ऐसे मर्मज्ञ थे जैसे अकबर के राजत्व-काल में नहीं थे। दरबारी गवैये (तानसेन सहित) केवल गाने में ही कमाल थे लेकिन संगीत के सिद्धान्तों पर उनका अधिकार न था।'[2] डा० मोतीचन्द्र फकीरुल्ला वाले मत को उद्धृत करके संभवतः यह संकेत करना चाहते हैं कि बैजूबावरा मानसिंह के काल में था। या उनके दरबार से संबद्ध था। क्योंकि 'मानकुतूहल' का फारसी में अनुवाद करनेवाले फ़कीरुल्ला ने लिखा है : मार्गी (संगीत पद्धति) भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नहीं हुआ था। कहते हैं कि राजा मानसिंह ने उसे पहली बार गाया था। इसमें चार पंक्तियां होती हैं और सारे रसों में बाँधा जाता है। नायक बैजू, नायक बख्शू और सिंह जैसा नाद करनेवाला महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड़ गए।'[3] फकीरुल्ला के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि नायक बैजू और बख्शू दो व्यक्ति थे। इन्हें एक नहीं मानना चाहिए जैसा डा० मोतीचन्द्र का सुझाव है। दूसरी यह कि यदि बैजू ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह (ई० १४८६-१५१६) के दरबारी गायक थे तो वे गोपाल नायक के गुरु नहीं हो सकते। राग कल्पद्रुम वाले पदों में 'कहे बैजू बावरे सुन हो गोपाल नायक' जैसी उक्तियाँ कई बार आई हैं। ये पंक्तियाँ किस गोपाल नायक को संबोधित करके

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ संस्करण, संवत् २००७, पृ० १९८
२. तानसेन, नवनीत, अप्रैल १९५९, पृ० ३१-४०
३. मानसिंह और मानकुतूहल, श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर, पृ० ४१

कही गई है इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। नायक बख्शू, बैजू और वर्ण फकीरुल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। आईने अकबरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा संग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि के अनुसार पद संगृहीत थे।[1] हालांकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह संकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नहीं कवि और काव्य-प्रेमी भी थे। मानकुतूहल से भी मालूम होता है कि संगीत-कार को पद रचयिता होना चाहिए।[2]

§ २४४. बैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदों को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनायें' में एकत्र संकलित कर दिया है। नीचे हम बैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं।

१—आंगन भीर भई ब्रजपति के आज नंद महोत्सव आनन्द भयो
हरद दूब दधि अच्छत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रंग ठयो
धन-धन बैजू संतन हित प्रकट नंद जसोदा ये सुख जो दयो

२—कहाँ कहूँ उन बिन मन जरो जात है अंगन बातें कर मन कियो है बिगार
यह मूरत सूरत बिनु देखे भावै न सोहैं घर द्वार
इत उत देखत कछू न सोहावत बिरथा लगत संसार
बैर करत है दुरजन सब बैजू न पावै मन पिय के
अचरज भयो हैं त्यौहार।

३—बोलियो न डोलियो ले आऊँ हूँ प्यारी को
सुन हो सुघर वर अबहीं पै जाऊँ हूँ
मानिनी मनाय के तिहारे पास लियाय के
मधुर बुलाय के तो चरण गहाऊँ हूँ
सुन री सुन्दर नार काहे करत एती रार
मदन दारत पार चलत पततुभाऊँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
बैजू प्रभु प्यारे सो बहियाँ गहाऊँ हूँ

बैजू बावरा की रचनायें केवल अपने संगीततत्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशंसनीय हैं।

हकायके हिन्दी में प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ संवत् में मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने फारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

१. ग्लैडविन : आईने अकबरी, पृ० ७३०

२. मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १२२

की रचनाओं को आध्यात्मिक रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। इस ग्रंथ के सम्पादक अतहर अब्बास रिज़वी ने लिखा है कि "हक़ायके हिन्दी के अध्ययन से पता चलता है कि ध्रु तथा विष्णुपद को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त थी। श्रीकृष्ण तथा राधा की प्रेम-कथायें सूफि को भी अलौकिक रहस्य से परिपूर्ण ज्ञात होती थीं। इन कविताओं का सभा में गाया जा आलिमों को तो अच्छा लगता ही न होगा कदाचित् कुछ सूफी भी इन गानों की कटु आलोच करते होंगे, अतः इन कविताओं का आध्यात्मिक रहस्य बताना भी परम आवश्यक सा हो गय अब्दुल वाहिद सूफ़ी ने हक़ायके हिन्दी में उन्हीं शब्दों के रहस्य की गूढ़ व्याख्या की है जो उ समय हिन्दी गानों में प्रयोग में आते थे।"[1]

अब्दुल वाहिद जैसा कि उनके रचना-काल को देखने से पता लगता है, सूरदास के समकालीन थे। उन्होंने अपनी पुस्तक में जो रचनायें उद्धृत की हैं वे उनसे कुछ पहले की उनके समसामयिक कवियों की होंगी इसमें सन्देह नहीं। रचनाओं की भाषा और वर्णन-पद्धति से अनुमान होता है कि ये राग-रागिनियों के बोल के रूप में रचित ब्रजभाषा गानों से ली गई हैं। गोपाल नायक, बैजू, खुसरो आदि संगीतज्ञ कवियों की जो रचनायें राग कल्पद्रुम में पाई जाती हैं, उनकी शैली और भाषा की छाप इन रचनाओं पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए हक़ायके हिन्दी के कुछ अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं। संगीतकार कवियों की रचनाओं के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

(१) खेलत चीर भरक्यो उभर गये थन हार (पृष्ठ ४६)
(२) साजन आवत देखि कै हे सखि तोरो हार।
लोग जानि मुतिया चुनैं हौं नय करौं जुहार ॥ (पृष्ठ ४८)
(३) तुम मानि छांड़ि दै कत हेत हे मानमती (पृष्ठ ६१)
(४) जब जब मान दहन करे तब तब अधिक सुहाग (पृष्ठ ६०)
(५) तुम न भई भोर की तरैयाँ (पृष्ठ ६५)
(६) रैन गई पीतम कंठ लागैं (पृष्ठ ६५)
(७) अधर कपोल नैन आनन उर कहि देत रति के आनन्द (पृष्ठ ६७)
(८) हौं पठई तो लेन सुधि पर तैं रति मानी जाय (पृष्ठ ६८)
(९) कन्हैया मारग रोकौ, कान्ह घाट रूँधौ (पृष्ठ ८०)
(१०) काहू की बाँह मरोरी, काहू के कर चूरी फोरी।
काहू की मटकिया दारी, काहू की कंचुकी फारी॥ (पृष्ठ ८१)
(११) कन्हैया मेरो वारो तुम वाद लगावत लोर (पृष्ठ ८२)
(१२) मोर मुकुट सीस धरे (पृष्ठ ८३)
(१३) जाइ लागत मरत कंठ लग प्यारी (पृष्ठ ८७)
(१४) हौं बलिहारी साजनां साजन मुझ बलिहार।
हौं साजन सिर सेहरा साजन मुझ गलहार॥ (पृ० ६०)
(१५) काँची कलियाँ न तोर मुरझ गईं डालियाँ (पृष्ठ ६२)

1. हक़ायके हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, भूमिका, पृ० ११

(१६) तुम्ह कारन मैं सेज सँवारी
तन मन जोवन जिउ बलिहारी (पृष्ठ ६४)
(१७) नन्द-नन्द पात जो आँवलो सरहर पेड़ खजूर
तिन्ह चढ़ देखौं बालमा नियरै बसैं कि दूर (पृष्ठ ६५)
(१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल खड़ो गलबाहिं
थाल भरी गजमोतिन गोद भरी कलियाहिं (पृष्ठ ६५)

इन पद्यांशों को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारों में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः ब्रजभाषा के बोल ही कहते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पंक्तियाँ ऐसे गीतों की ओर ही संकेत करती हैं।

'हकायके हिन्दी' कई दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन ब्रजभाषा की रचनायें संकलित हैं जो सूरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं को देखने से चलता है। हकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्त्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के भीतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढ़ने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफी कवि केवल अवधी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के विकसित और प्रेम कथा मूलक काव्य को समझने-समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफियों पर भी अपना अमिट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किसी ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसू दराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा : 'क्या कारण है कि सूफियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना गज़ल में नहीं आता।' गेसूदराज़ ने कहा: हिन्दवी बड़ी ही कोमल और स्वच्छ होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की करुणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।[1] ज़ाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की बोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय-समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य-भाषा मानी जाती रही हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम 'ब्रजभाषा का रिक्थ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिक्थ को संपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान-प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियों की कविता का

1. जमाने-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के वचन, इन्तज़ामी प्रेस उस्मानगंज— हकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

माधुर्य परवर्ती काल में हिन्दीतर प्रान्त के लोगों को ब्रजभाषा और उसके काव्य की ओर आकृष्ट करने में सफल हुआ और १७वीं शती में गुजरात, महाराष्ट्र, दक्षिण भारत तथा बंगाल-असम के कई कवियों ने इस भाषा में काव्य प्रणयन किया। गुलेरी जी ने ठीक ही लिखा है कि 'कवियों की भाषा प्रायः एक ही सी थी। नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाषा' कहलाती थी। पिछले समय में भी हिन्दी कवि संतजोग विनोद के लिए एक आध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी पागिरी 'भाषा' में ही लिखते रहे हैं।'[1] सूरदास या अष्टछाप के कवियों के काव्य-माधुर्य से आकृष्ट होने के कारण पहले तक भी हिन्दीतर प्रान्तों के कवि ब्रजभाषा में काव्य करते रहे हैं। संत कवियों में से कई हिन्दीतर प्रान्तों के कवि थे। नामदेव, त्रिलोचन महाराष्ट्र के, सधना सिंध के, जयदेव बंगाल के तथा नानक पंजाब के रहने वाले थे। संतों में कई कवि राजस्थान के भी थे। इन संत कवियों के अलावा भी कई ऐसे कवि हैं जिन्होंने हिन्दीतर प्रान्तों के होते हुए भी ब्रजभाषा में काव्य लिखा है। हम यहां संक्षेप में ऐसे कवियों की रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं।

असम के कवि—शंकरदेव

§ २५७. शंकरदेव असमिया साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। अहोम वंशी नरेंद्र मुनेफा के शासन-काल में १४४६ ईस्वी (१५०६ संवत्) में उनका जन्म नौगांग जिले के धारदोवा ग्राम में हुआ। उन्होंने अपने गुरु महेन्द्र कालिन्दी से संस्कृत की शिक्षा पाई।

अपने पिता और प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने एक लम्बी तीर्थ यात्रा की। डा० विरंचिकुमार बरुआ ने लिखा है कि शंकरदेव १५४१ ईस्वी में ९२ वर्ष की लम्बी तीर्थ-यात्रा पर निकले।[2] किन्तु शंकरदेव के जन्म-काल को देखते हुए यह असंभव मालूम होता है कि वे ९२ वर्ष की उम्र में इतनी बड़ी यात्रा पर निकले। मैंने इस विषय में डाक्टर साहब को एक पत्र लिखा था जिसके उत्तर में उन्होंने लिखा है कि शंकरदेव ने दो बार यात्रायें की थीं। पहली यात्रा ईस्वी १४८१ में शुरू हुई जो १४९२ में समाप्त हुई। शंकरदेव इसी यात्रा में काशी, वृन्दावन और बद्रीनाथ गये थे। इसी यात्रा में उन्होंने बरगीतों की रचना की। पहला बरगीत बद्रिकाश्रम में लिखा गया। ईस्वी १५४१ में उन्होंने केवल पुरी की यात्रा की।[3] शंकरदेव अपनी पहली यात्रा में काशी गए थे। उनके कतिपय जीवनी-लेखकों ने बताया है कि काशी में वे कबीर से मिले, कुछेक ने कबीर की पौत्री से मिलने की बात लिखी है।[4] डा० बरुआ का मत है कि शंकरदेव काशी में कबीर के कुछ शिष्यों से मिले और कबीर के चौतीसा काव्य से बहुत प्रभावित हुए, परिणामतः उन्होंने असमिया में चतिहा (chatiha) काव्य का निर्माण किया।[5] पहली यात्रा से लौटने के बाद शंकरदेव ने कालिन्दी नामक कायस्थ लड़की से शादी की। सन् १५६६ में उनका देहान्त हुआ।

---

१. पुरानी हिन्दी, काशी, प्रथम संस्करण, संवत् २००५, पृ० १२
२. एस्पेक्ट्स आव अर्ली असमीज लिटरेचर, संपादक डा० बानी कान्त काकती, गुवाहाटी, १९५३, पृ० ६६–६७
३. डा० विरंचिकुमार बरुआ का ५ फरवरी १९५७ का लेखक के नाम लिखा पत्र
४. श्री श्रीशंकरदेव, लेखक डा० महेश्वर नेओग, अनुच्छेद ५८, पृ० १५९–६१
५. असमीज लिटरेचर, पी० ई० एन०, बम्बई १९४१, पृ० २१–२२

शंकरदेव ने ब्रजभाषा में बरगीतों की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। ब्रजभाषा काव्य की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की जन्मभूमि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये बरगीत सन् १४८१-६३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नेयोग ने प्रमाणित किया है।[1] डा० नेयोग का अनुमान है कि ब्रजभाषा में लिखा पहला बरगीत बद्रिकाश्रम में लिखा गया। डा० नेयोग ने शंकरदेव के बरगीतों को ब्रजबुलि का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० बरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शंकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सीखा और इसी को मिश्रित भाषा में बरगीतों की रचना की।'[2]

§ २४८. शंकरदेव के बरगीतों की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योंकि उसमें कहीं कहीं असमिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षा दिखाई पड़ती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बद्री हरिनारायण दत्त बरुआ द्वारा संपादित 'बरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

१—धु० गोविन्दि प्रान काहेनो गयो रे गोविन्द।
हामु पापिनी पुनु पेखबो नाहिं आर मोहि बदन अरविन्द।
पद कवन भाग्यवती, भयो रे सुपरभात आजु भेटब मुख चाँदा।
उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप बंधु आन्धा॥
आजु मथुरा पुरे मिलन महोत्सव माधव माधव मान।
गोकुल के मंगल दूर गयो नाहिं बाजत वेनु विषान॥
आजु जत नागरी करत नयन भरि मुख पंकज मधुपाना।
हमारि बन्ध विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस माना॥

धनश्री पद १८

२—धु० मन मेरि राम चरनहिं लागु।
तइ देख ना अन्तक आगु॥
पद मन आयू क्षने-क्षने टूटे।
देखो प्रान कौन दिन छूटे॥
मन काल अजगर गिलै।
जान तिले के मरन मिलै॥
मन निश्चय पतन काया।
तइ राम भज तेजि माया॥
रे मन इ सब विषय धन्धा।
केने देखि न देखत अन्धा॥

---

१. जर्नल आव दि यूनिवर्सिटी आव गुवाहाटी, भाग १ संख्या १, १९५०, नेयोग का लेख

२. असमीज़ लिटरेचर, पी० ई० एन०, १९४१, पृ० २१।

मन गुने पार के जे निम्द ।
गुम चेलि या चित गोविन्द ॥
मन जानि या शंकर कहे ।
देखो राम बिने गति न हे ॥

पूर्वी लेखन पद्धति के प्रभाव के कारण कई शब्द परिवर्तित दिखाई पड़ते हैं। हउँ का हामु तथा ह्रस्व 'उ' का कई स्थानों पर दीर्घ 'ऊ' अनुस्वार का ह्रस्व उच्चारण जैसे चाँद, आँधा आदि। पूर्वी प्रयोग भी एकाध मिल जाते हैं। जैसे पहले पद में भूत निष्ठा का 'ल' कृदन्त रूप हरल, छन्दानुरोध और पूर्वी उच्चारण के कारण भी कई शब्द कुछ बदले हुए दिखाई पड़ते हैं। इन प्रभावों के बावजूद भाषा ब्रज है। सूर-पूर्व की ये रचनायें असम जैसे सुदूर पूर्वी प्रदेश में ब्रजभाषा काव्य की लोकप्रियता का प्रमाण उपस्थित करती हैं। ओकारान्त क्रिया पद गयो, भयो, वर्तमान के तिङन्त ऐकारान्त रूप टूटै, छूटै, मिलै, मिलै आदि, वर्तमान कृदन्त का सामान्य वर्तमान की तरह प्रयोग जैसे बाजत, करत, देखत आदि क्रियार्थक संज्ञा देखयो, आज्ञार्थक उकारान्त अथवा ओकारान्त रूप लागु, बाजु, देखो आदि सर्वनाम में हौं (हामु) तथा मध्यम पुरुष में तइ (तैं) इस भाषा को पूर्णतया ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। ब्रजबुलि की परवर्ती रचनायें इतनी स्पष्ट और पूर्वी प्रभाव से इतनी कम रंगी हुई शायद ही प्राप्त हो सकें।

माधवदेव

§ २४६. माधवदेव सूरदास के समसामयिक थे। उन्होंने अपने गुरु शंकरदेव की ही तरह ब्रजभाषा के पद लिखे थे। शंकरदेव वृन्दावन गये थे, ब्रजभूमि में ही उन्होंने ब्रजभाषा में काव्य लिखने की प्रेरणा ग्रहण की। माधवदेव कभी ब्रज नहीं गए फिर भी उन्होंने ब्रजभाषा में रचनायें कीं और आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि माधवदेव के बरगीतों में भा" अपेक्षाकृत ज्यादा स्पष्ट ब्रजभाषा है। माधवदेव को ब्रजभाषा की प्रेरणा शंकरदेव के बरगीतों मिली इसमें सन्देह नहीं किंतु इन रचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि शंकरदेव के ब गीतों ने ही इतनी बड़ी प्रेरणा और एक अपरिचित भाषा में लिखने की शक्ति नहीं पैदा क दी। पूर्वी प्रदेशों में खास तौर से बंगाल, बिहार, मिथिला आदि में शौरसैनी अपभ्रंश के कनिष्ठ रूप अवहट्ठ में लिखी रचनाएँ मिलती हैं। विद्यापति और जयदेव की रचनाओं के विषय में हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिये §§ १०७, ११०) आरंभिक ब्रजभाषा की इन रचनाओं का भी बरगीतों के निर्माण में योग-दान माना जा सकता है।

माधव देव का जन्म सन १४८६ ईस्वी (१५४६ संवत्) में हुआ था। ये पहले शाक्त थे किन्तु बाद में शंकरदेव के संपर्क में आने पर वैष्णव हो गए। शंकरदेव के बहुत आग्रह के बावजूद इन्होंने ब्रह्मचारी का जीवन बिताया। इनके आदर्शों को मानने वाले लोग केवलिया (kevalia) अर्थात् आजन्म ब्रह्मचारी कहे जाते हैं। इनका देहान्त १५९६ ईस्वी में कूच-बिहार में हुआ। नीचे हम उनका एक बरगीत उद्धृत करते हैं।

माधवदेवेर गीत, संख्या ११
ध्रु०—हरि को नाम निगम कूँ सार।
सुमरि आदि अन्त्य जाति पावत भव नहीं पार ॥

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम-आभास ।
अंतये कर्म को बन्ध छाँडि पावल वैकुण्ठ बास ॥
जानि आइ लोक हरि को नामे कह विसवास ।
सकल वेद कों तत्व कहए पुरुख माधवदास ॥

माधवदेव के गीतों की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है । किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पड़ती है । इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये कीर्ति० § ६) यहाँ भी कहइ > कहए, अंतहिं > अंतइ > अतए आदि में यही प्रभाव दिखाई पड़ता है । पावल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है । भाषा में कई स्थानों पर संबंधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है । किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'कों' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है ।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

§ २५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सांस्कृतिक संबंध बहुत पुराना है । मध्यदेशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है । वर्तमान खड़ी बोली का जन्म मेरठ-दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरंभिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ । डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला । शाह जी भोंसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था । नामदेव और त्रिलोचन जैसे संत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं । नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है । ये कवि सूरदास के पहले के हैं ।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा[1] रचना का किंचित् संकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के मानसोल्लास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है । इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है । भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी-घोड़े आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पदों के उदाहरण भी दिए गए हैं । लाटी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है । इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोटि की रचनायें होने लगी थीं ।

नन्द गोकुल आयो कान्हडो गोवी जणे ।
पहि हिलोरे नयणे जो विधाय दण मरओ ॥

---

1. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य
हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद, लेखक श्री भास्कर रामचंद्र भालेराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७ ।

विना दयाणि इक्कारिया कान्हो मरिढा सो।
अग्रहण चिति या देउ बुध रूपण जो
दानव पुरा वच उणि वेद पुरुपेग।

चक्रधर महानुभाव पंथ के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनका आविर्भाव काल ११६४ के आस पास माना जाता है। इनकी बहुत सी रचनायें गुप्त लिपियों में लिखी पाई जाती हैं। मध्यकाल के संत अपनी रचनाओं को अनधिकारी पाठकों से बचाने के लिए इस प्रकार की गुप्त लिपियों का प्रयोग किया करते थे। ऐसी अंक-लिपि, शून्य लिपि, परिमाण लिपि, सुभद्रा लिपि आदि प्रसिद्ध है। चक्रधर द्वारा संचालित इस पंथ का प्रचार पंजाब तक हो चुका था। पंद्रहवीं शती में इसी की एक शाखा 'जय कृष्णी' के नाम से पंजाब में दिखाई पड़ती है। चक्रधर का एक ब्रजभाषा पद नीचे दिया जाता है।

सुर्ता वंशी स्थिर सोई जेणेगुम्ही जाई
सो परी भोरो वेरी भागता काई
पवन पुरो मनि स्थित करो हो चन्दो सेती था मान
आयागमन इंजे वारी बुद्धि राख्यो अपने मान

इन सब रचनाओं में ब्रजभाषा का स्पष्ट रूप नहीं दिखाई पड़ता। बाद में नामदेव आदि कवियों ने ब्रजभाषा के स्पष्ट रूप को अपनाया और उसमें रचनायें प्रस्तुत कीं। नामदेव के बाद महाराष्ट्र के सूर-पूर्व ब्रज कवियों में भानुदास का महत्व निर्विवाद है। ये बहुत बड़े वैष्णव भक्त थे जिनका आविर्भाव काल १५५५ विक्रमी बताया जाता है। श्री एकनाथ महाराज इनके नाती थे। इन्होंने पंढरपुर की विट्ठल मूर्ति की स्थापना की थी। इन्होंने ब्रजभाषा की बहुत ही सरस रचनाएँ लिखी हैं, नीचे इनकी वात्सल्य-सिक्त प्रभाती का एक पद उद्धृत किया जाता है।

उठहु तात मात कहे रजनी को तिमिर गयो
मिलत बाल सकल ग्वाल सुन्दर कन्हाई।
जागहु गोपाल लाल जागहु गोविन्द लाल जननी बलि जाई
संगी सब फिरत बन तुम बिनु नहिं छूटत धनु
तजहु सयन कमल नयन सुन्दर सुखदाई॥
मुँह ते पट दूर कीजै जननी को दरस दीजै
दधि ओर मांग लीजौ ओर भी मिठाई॥
करत भरत स्याम राम सुन्दर मुख तब कलाम
भानी की छूट कछु भानुराम माई।

गुजरात के ब्रजभाषा-कवि

§ २८१. गुजरात और मध्यदेश के अत्यन्त नजदीकी सम्बन्धों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं (देखिये §§ ४६-४७)। अपभ्रंश और उसके बाद के [illegible] (१०००-१४००) में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश अथवा परवर्ती अवहट्ट या पिंगल अपभ्रंश में काव्य प्रणयन करने वालों में गुजरात के कई कवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हेमचन्द्र,

जिनपद्मसूरि, विनयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवर्ती विकसित अपभ्रंश के फागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपों में बहुत सी मार्मिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कुछ अन्य कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध ब्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यपद्धति से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने ब्रजभाषा में कवितायें लिखीं। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। वह इतनी प्रौढ़ नहीं थी कि इसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि जूनागढ़ वासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल संवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा साहित्य को ही उलटा-पुलटा करते थे।'[1] श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि ब्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनायें होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कवियो के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियो खंड १ (नरसिंह युगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००-१४००) गुजराती काव्य जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (ब्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निवेश है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि ब्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'[2] के रूप में संमानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमान्त के गुजरात में ही नहीं सुदूर पूरब के असम और बंगाल में भी दिखाई पड़ता है। संवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री वल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री विट्ठलनाथ ने संवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की छह बार यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में वल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात वल्लभ मत का 'धाम' बन गया।[3] किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

१. जवाहरलाल चतुर्वेदी : गुजरात के ब्रजभाषी शुक-पिक, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११४

२. महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रजभाषा को इसी नाम से संबोधित करते थे।

३. श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास', पृ० १८४
टूकां मां वल्लभ मत नुं धाम ज गुजरात थइ गयुं

भक्ति अपनी जीर्णावस्था अर्थात् चरम विकास की अवस्था को प्राप्त हुई।[1] गुजरात सदैव से भक्ति आंदोलन की सर्वाधिक उर्वर भूमि रहा है, इसलिए ब्रजभाषा के प्रति इस भूमि के भक्त कवियों का प्रेम और आग्रह सहज-अनुमेय है। ब्रजभाषा के परिनिष्ठित रूप के प्रचार के पहले भी पिछले अपभ्रंश की रचनायें इस बात का पता देती हैं कि पिंगल या अवहट्ठ का परवर्ती विकास बहुत कुछ ब्रजभाषा से मिलता-जुलता था। यद्यपि इसमें किञ्चित् गुजराती तत्व भी दिखाई पड़ते हैं। नीचे केवल दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें पहले में प्रकृति का चित्रण है, दूसरे में मधुमास-आगम पर कृष्ण-गोपियों के रास का वर्णन किया गया है—

जिमि सुरतरु वर सोहे शाखा, जिमि उत्तम मुख मधुरी भाखा।
जिमि वन केतकी महमहए, जिमि भूमिपति भुयबल चमके॥
जिमि जिन मंदिर घंटा रणके, तिमि गोयम लब्धे गहगह ए।
चउदह से बारोत्तर वरसे, गोयम गणहर केवल दिवसें॥
किउं कवित्त उपगार करो, रिद्धि वृद्धि कल्याण करो।
आदिहिं मंगल एह पणीजे, परव महोत्सव गहिलो लीजे॥
जिमि सहकारे कोयल टहके, जिमि कुसुम वने परिमल महके।
जिमि चन्दन सुगन्ध निधि, जिमि गंगाजल लहरें लहकें॥
जिमि कमणाचल तेजे झलकें, तिमि गोयम सौभाग्य निधि।
जिमि मानसरोवर निवसें, जिमि सुवर सिरि स्यणेवतंसा॥[2]

यह अंश श्री उदयमंत विजयभद्र सूरि के गौतमरास (१४१२ संवत्) से लिया गया है। दूसरा उदाहरण श्री के० एम० मुंशी ने अपने गुजराती साहित्य के इतिहास में उद्धृत किया है जो संवत् १४३६ के एक फागु का अंश है।

फागु

आविय मास वसंतक संत करइ उत्साह।
मलयानिल महि वायउ आयउ कामिणि दाह॥

रासक

घनवरि आविय प्रभु थीनवउँ नवि दिसइ रिसारी रे।
माधव माधव भेटने आवइ आवित देव मुरारी रे॥
वात सुणी प्रभु मन अति हरषिय निरषिय गृह परिवार रे।
निज परिवारइ जादव पुहु तु बहु तु वनइ मझारि रे॥
थण भरि नमतां तरुणी करुणी वरुणी चरणसँचार रे।
चालइ चमकत झमकत नेउर केउर कटक विशाल रे॥

---

१. उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
कचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
—श्रीमद्भागवत माहात्म्य १।४८

२. रामचन्द्र जैन काव्यमाला, गुच्छक पहेलो, पानुं २८

आन्दोल

नाचइ गोपिय वृंद, वाजइ मधुर मृदंग
मोडइ अंग सुरंग, सारंगधर वाइति महूअरि ए ॥
कुलवण महूअरि ए ॥
करलिय पंकज नाल, सिरवरि फेरइ बाल ।
छंदिहि-वाजइ ताल, सारंग धर वाइइ महूअरि ए ॥
तारा महि जिमि चन्द, गोपिय माहिं मुकुन्द ॥
पणमइ सुर नर इंद, सारंगधर वाइति महूअरि ए ।
कुलवण महूअरि ए ॥
गोपी गोपति फागु कीडत हींडत वनह मझारि ।
मारुत प्रेरित वन भर नमइ मुरारि ॥

§ २५२. सन् १९४९ में श्री केशवराय काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : व्रजभाषा नो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया।[1] सूरदास को व्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सूर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके व्रज का आदि कवि बताया है। भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५-१५६५ नो सौ वर्षो नो समय एना पूर्वार्ध नां अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मां न होइ। उत्तरकाल में माटे श्रेटले के सं० १५५०-१५६५ अथवा विक्रमनीं १६ वीं सदी नां उत्तरार्थ मा परिणत थइ सके छे खरो।'[2] इस निष्कर्ष में स्पष्टतः भालण के पूर्व निर्धारित समय को संदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जी भालण को सूर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है। भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कंद' के सम्पादक श्री इ० द० काँटावाला ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नारायण माथी को भालण के मकान से एक खंडित जन्म-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'संवत् १४७२ वर्षे भाद्रवा, वदी दिने शनी दशोत्तीर्णा एवं जन्मतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु सवत् भाद्रवावदी ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है।[3] काँटावाला का अनुमान है कि १४६१ संवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकांड रचा था जो संवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था। इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सूर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। श्री माथी ने दिशावाल जाति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज मीठाराम और भालण संवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे। भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, जहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुंडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है। इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'संवत् १५२० वर्षे ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुंडा पूजनार्थ राज्ञादित्य पुत्री

1. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बंबई, ११ नवंबर, १९४९ का अंक
2. वही, पृ० ८।
3. भालण कृत दशमस्कंद—कविचरित्र, पृ० २, सन् १९१४, बड़ौदा

दीवान गाणीता।[1] इन सब अनुमानों के आधार पर भालण १६वीं के पूर्वार्द्ध के कवि प्रतीत होते हैं।[2] दशमस्कंद में प्रायः उनकी ब्रज कविता में साथ ही साथ सूर, विष्णुदास, मेह, श्रीरंगनाथ आदि परवर्ती कवियों की रचनायें बड़ी उलझनें पैदा करती हैं। फिर भी भालण के नाम की ब्रज-रचनायें प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियों में मिलती हैं, जबकि सूर आदि कवियों की रचनाओं में उलट-फेर दिखाई पड़ता है। ये रचनायें बाद की प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। भालण कवि के छः पद ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं। उनके पद नीचे दिये जाते हैं।[1]

पद ७७ राग गौड़ी

कौन तप कीनो री, माइ नंद घरनी
ले उछंग हरि कूँ पय पावत मुख चुम्बन मुख भीनो री ॥
गुप्त भये मोहन जू हमत हैं तब उमगत अधर ही कीनो री।
(यशोमती) स्तनरद पुलन लागी वदन केलि तब छीनो री ॥
हिरदे लगावे वद जू मोंहि तू कुलदेवा दीनो री।
सुन्दरता अंग अंग कहा बरनूं तेज ही सब जग हीनो री।
अंतरिख सुर इंद्रादिक बोलत ब्रज जन को दुख छीनो री ॥
यह रस सिंधु पान करि गावत है भालण जन मन भीनो री।

पृ० ५३–५४

पद २५१ राग वैराख

मैया मोहे भावे दधि भात निद्रा में हरि ऐसो बोले
ठाढ़ी सुनत देवकी मात—मैया०
तब आगे दॆंतधावन कीनो निकट आय जननी कहे प्रात
दधि ओदन भोजन करो लालन जो मन में रुचि सामल गात
मैया सो तो ग्वाल की खेवो अब मेरे मन नै भात।
कहो गोकुलतें ते लालन ऐसो कहे जननी मुसुकात ॥
कहां संगी कहां दधि यमुना तट कहां वेहथि कहां अंबुज पात।
भालण प्रभु रघुनाथ वदत है वरस की रही ब्रज में बात ॥

पृ० १११–२००

पद २५३ राग सारंग

ब्रज को सुख सुमरत श्याम।
पर्नकुटी को वीसरत नाहीं नाहीं न भावत सुन्दर धाम ॥
वदीर माग नवनीत के कारन उखल बांधे ते बहु दाम।

---

१. दशमस्कंद, कवि चरित्र, पृ० २
२. क० मा० मुंशी भालण का काल १४८२–१५५१ संवत् मानते हैं 'गुजरात एंड इट्स लिटरेचर'
झवेरी सम्वत् १४१५–१५१५ मानते हैं

चित्त में वे जु कुमी रही है चोर चोर कहेत है नाम ॥
निश दिन फीरतो जु सुरभि के संगे शीर पर परत शीत घनघाम ।
निस फुनि दोहन बंधन को सुख करी बैठत नाहि जो काम ॥
मोर पिच्छ गुंजाफल ले ले वेश बनावत रुचिर ललाम ।
भाळण प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब बाम ॥

पृ० २००–२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो भैया कैसे सुख पाउं ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन संग कौन मैं जाउं ॥
नाहिन गृहे वे व्रजवासिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
नाहिन वृन्दावन अति वल्लभ जा कारन हुं गौ चराउं ॥
नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु बेन बजाउं ।
नाहिन जमलार्जुन वृख दोउं जा कारन हुँ आप बधाउं ॥
नाहिन प्रेम ऐसो कोउ कुं जा कुं मेरी कथा सुनाउं ।
भालण को उस सी कछु नाहीं अहियां के आगे व्रज के गुन गाउं ॥

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पढवे को आयो दिन ।
एते वरस बदे गते नाहीं कोडा कीनी नंद भुवन
सुत को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चले फुन जुग जीवन
अहि याज्ञ कर हरि जु चले फुनि देखन हु कहां वृन्दावन
हम पर प्रीति नाहिंन मोहन की कैसो व्रज ऊपर है मन
काहां कुमति आनक दुंदुभि की पढव रहो सोवर धन
पाछे आये की कहाँ आश राम संग चले पीत वसन
जहाँ सिधारे गिरधर वे अवनी लोक सबंधन
विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे भालन जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत मैं सुनित लोक मैं बात ।
मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर श्यामल गात ॥
संदीपन को सुत मृत्यु भयो उदधि जल में रात ।
वहोत दिवस ता कुं निवड गए ते राम रहे वे मात ॥
तुम पे गुरुदक्षना मांगी आन दीयो विख्यात ।
करवट सुत कंसे बधे हे मेरे खेट तिहारे भ्रात ॥

दीवाण याणीश।'[1] इन सब अनुमानों के आधार पर भालण १६वीं के पूर्वार्द्ध के कवि प्रतीत होते हैं।[2] दशमस्कंद में प्राप्त उनकी व्रज कविता में साथ ही साथ सूर, विष्णुदास, नेर, शीतलनाथ आदि परवर्ती कवियों की रचनायें बड़ी उलझनें पैदा करती है। फिर भी भालण के नाम की व्रज-रचनायें प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियों में मिलती हैं, जबकि सूर आदि कवियों की रचनाओं में उलट-फेर दिखाई पड़ता है। ये रचनायें बाद की प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। भालण कवि के छः पद व्रजभाषा में प्राप्त होते हैं। उनके पद नीचे दिये जाते हैं।[3]

पद ७७ राग गौड़ी

कौन तप कीनो री, माइ नंद घरणी
ले उछंग हरि कुँ पय पावत मुख चुम्बत सुख भीनो री ॥
तृप्त भये मोहन जू हसत हैं तब उमगत अधर ही कीनो री।
(यशोमती) लटपट पूछन लागी वदन खेंचि तब लीनो री ॥
रिदे लगाये वद जू मोहि तू कुलदेवा दीनो री।
सुन्दरता अंग अंग कहा बरनूं तेज ही सब जग हीनो री।
अंतरिष सुर इंद्रादिक बोलत व्रज जन को दुख छीनो री ॥
यह रस सिंधु गान करि गाहत है भालण जन मन भीनो री।

पृ० ५१-५४

पद २५१ राग बैराग

मैया मोहे भावे दधि भात निद्रा में हरि ऐसो बोले
ठाड़ी सुनत देवकी मात—मैया०
तब आगे दँतधावन कीनो निकट आय जननी कहै प्रात
दधि ओदन भोजन करो लालन जो मन में रुचि सामल गात
मैया सो सो ग्वाल को लेवो अब मेरे मन ने भात।
कहो गोकुलाउँ ते लालन ऐसो कहे अनुजी मुसुकात ॥
कहाँ संगी कहाँ दधि यमुना तट कहाँ बेरुचि कहाँ अंडुज पात।
भालण प्रभु रघुनाथ वदत है बरस को रहीं व्रज में बात ॥

पृ० १११-१००

पद २५३ राग सारंग

व्रज को सुख सुमरत स्याम।
पर्नकुटी को बीसरत नाहीं नाहीं न भावत सुन्दर धाम ॥
वर्हार मात्र मयमीत के कारन उदल बांधे ते बहु दाम।

---

1. दशमस्कंद, कवि चरित्र, पृ० १
2. क० मा० मुंशी भालण का काल १४८२-१५४९ संवत् मानते हैं 'गुजरात इन्स लिटरेचर'
मजेरी सम्वत् १४१५-१५१५ मानते हैं

चित्त में वे जु कुभी रही है चोर चोर कहेत है नाम ॥
निश दिन फीरतो जु सुरभि के संगे शीर पर परत शीत घनधाम ।
निस फुनि दोहन बंधन को सुख करी बैठत नाहि जो काम ॥
मोर पिच्छ गुंजाफल ले ले वेख बनावत रुचिर ललाम ।
माळण प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥

पृ० २००–२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो मैया कैसे सुख पाउं ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन संग कौन में जाउं ॥
नाहिन गृहे वे व्रजवासिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
नाहिन वृन्दावन अति वल्लभ जा कारन हुं गौ चराउं ॥
नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु बेन बजाउं ।
नाहिन जमलार्जुन वृख दोउं जा कारन हुं आप बन्धाउं ॥
नाहिन प्रेम ऐसो कोउ कुं जा कुं मेरी कथा सुनाउं ।
माळण को उस सों कछु नाहीं अहियों के आगें व्रज के गुन गाउं ॥

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पढ़वे को आयो दिन ।
एते बरस भये गये नाहीं कीड़ा कीनी नंद सुवन
सुत को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चले फुन गुन औगन
अहि धाम कर हरि जु चले कुनि देखत हु कहां वृन्दावन
हम पर प्रीति नाहिन मोहन की जैसो व्रज ऊपर है मन
कहां कुमति आनक दुंदुभि की पढ़ब रही सांवर घन
पाछे आये को कहीं आश राम संग चले पीत वसन
जहाँ सिधारे गिरधर वे अवनी लोक सबंधन
विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे माळन जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत में सुनित लोक में बात ।
मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर श्यामल गात ॥
संदीपन को सुत मृत्यु भयो उदधि जल में पात ।
बहोत दिवस ता कुं निरह गए ते राम रहे वे मात ॥
तुम पे गुरुदच्छना मांगी आन दीयो विख्यात ।
बरवट सुत कैसे बचे है मेरे खेद विदारे भ्रात ॥

आरंभिक ब्रजभाषा

भाषाशास्त्रीय विश्लेषण

§ २५४. विक्रमाब्द १००० से १४०० तक की ब्रजभाषा के विकास का अध्ययन पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है। इन चार सौ वर्षों में ब्रजभाषा का संक्रान्तिकालीन विकास रूप ही प्रधान था। ब्रजभाषा का वास्तविक विकास १४०० से १६०० के बीच दो सौ वर्षों में पूर्ण हुआ और इसने १७वीं शताब्दी के आरम्भ में परिनिष्ठित ब्रज का रूप ग्रहण किया। इस अध्याय में १४०० से १६०० की ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप का अध्ययन किया गया है। भाषा की गठन और प्रगति के उचित आकलन के लिए पूर्ववर्ती विकास रूप तथा परवर्ती परिनिष्ठित रूप के सम्बन्धों की संक्षिप्त व्याख्या भी की गई है।

§ २५५. भाषा का यह अध्ययन निम्नलिखित तेरह हस्तलेखों पर आधारित है, जिनके रचनाकाल और ऐतिहासिक इतिवृत्त के बारे में पहले विचार हो चुका है।

(१) प्रद्युम्न चरित	विक्रमी १४११	(प्र० च०)
(२) हरिचन्दपुराण	,, १४५३	(ह० पु०)
(३) महाभारत कथा	,, १४९२	(म० क०)
(४) रुक्मिणी मंगल	,, १४९२	(रु० मं०)
(५) स्वर्गारोहण	,, १४९२	(स्व० रो०)
(६) स्वर्गारोहण पर्व	,, १४९२	(स्व० रो० प०)
(७) लखमसेन पद्मावती कथा	,, १५१६	(ल० प० क०)
(८) वैताल पचीसी	,, १५४९	(वै० प०)
(९) पंचेन्द्रिय बेलि	,, १५५०	(पं० बे०)

(१०) रासो लघुतम, वार्ता	विक्रमी १५५०	(रा० ल०वा०)
(११) छिताई वार्ता	„ १५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	„ १५५७	(गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी	„ १५८४	(छी० बा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें श्री अगरचन्द नाहटा ने ब्रजभारती के (आश्विन-अगहन, संवत् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य की कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को ये वचनिकाएं दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खींचकर १५५० विक्रमाब्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० ब्र० में आर्यभाषा के मध्यकालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनियां सुरक्षित हैं। अपभ्रंश की कुछ विशिष्ट ध्वनि-प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पड़ता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नवीन ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन ब्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अॅ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऍ, ऐ, ओ, ऑ औ।

पिंगल ब्रज में संध्यक्षर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे संयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण संध्यक्षर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में क्रिया रूपों में कहीं भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पड़ते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया रूप परवर्ती विकास हैं।

प्राचीन ब्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनासिक भी होते हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अॅ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

ब्रजभाषा में मध्य अॅ प्रायः और अन्त्य 'अॅ' का नियमित लोप होता है। (ब्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरंभिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति संभवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मालूम होता। अग्गण (प्र० च०) सायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (ह० पु० २७ अष्टादश) मेह (म० क० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मालूम होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चाटुर्ज्या के मत से अन्त्य 'अ' का उच्चारण असंदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर में कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पड़ता है।

यथाः तिमु (प्र० च० २<तस्म<तस्य<) किमाड (प्र०च० १६<कपाड<कपाट) सूरिजवंश (ह० पु० ८<सूरज<सूर्य) पातिग (ह० पु०<पातक) छिपाल (वै० प०< छपताल) काइथ (वै० प०<कायस्थ) पाछिली (ल० या० १४<पाछली<पश्चं) मूढीने (गी० भा०<मूढनि<मूढ) निकुल (गी० भा० ३४<नकुल) साहिस (गी० भा०४१< साहस) ततखिग (छी० बा० ४<तत्‌खण) खिन (छी० बा० २१<खण) निरिंदु (गी० भा० ११<नरेन्द्र) इस प्रकार की प्रवृत्ति प्राचीन राजस्थानी में बहुत प्रचलित दिखाई पड़ती है (देखिए, तेस्सीतोरी पुरानी राजस्थानी § २। १)। प्राचीन व्रज में यह प्रभाव राजस्थानी लेखन के कारण माना जा सकता है वैसे मूल व्रज में भी यह प्रवृत्ति वर्तमान है, राजस्थान के बाहर लिखी गई, ग्वालियर आदि की प्रतियों में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। प्राकृत में भी ऐसा होता था, खास तौर से बलाघात के पूर्व अ का इ हो जाता था (देखिये, पिशेल ग्रैमेटिक § १०२-३)।

§ २५९. कुछ स्थानों में आद्य अ का आगम हुआ है।

अस्तुति (रु० मं०<स्तुति) अस्नाना (म० क० २६६।१<स्नान)।

§ २६०. मध्यग उ का कई स्थलों पर इ रूपान्तर दिखाई पड़ता है।

आइर्बल (गी० भा० १६<आयुर्बल) जिजोधन (गी० भा० ३२<दुर्योधन)

पुरिस (म० क० ६।२<पुरुष) मुनिस (पं० वे० १४<मनुष्य) यह प्रवृत्ति राजस्थानी भाषा में पाई जाती है। (डा० चाटुर्ज्या, राजस्थानी, पृ० ११)।

उ>इ के उदाहरण व्रजभाषा की बोलियों में भी पाये जाते हैं (देखिये डा० वर्मा, व्रजभाषा § १००)।

§ २६१. उ>अ, मध्यग उ का कई स्थलों पर अ हो गया है।

गरुअ (छी० बा० १८।३<गुरुक) मकुट (वै० प० १<मुकुट) रावरे (रु० मं० <राउले<राजकुल) हूअ (ल० प० क० ५।१<हुउ<भवतु)। इस प्रकार के उदाहरण परवर्ती व्रजभाषा में भी मिलते हैं। चतुर>चतर, कुमार>कमर (देखिये व्रजभाषा § १००) पुरानी राजस्थानी में डा० तेसीतोरी ने भी इस प्रकार के उदाहरणों की ओर संकेत किया है (पुरानी राजस्थानी § ५ : १)। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से ही चलने लगी थी (देखिये पिशेल § १२३)।

§ २६२. अन्त्य इ प्रायः परवर्ती दीर्घ स्वर के बाद उदासीन स्वर की तरह उच्चरित होता था। प्रद्युम्न चरित तथा हरिचन्द पुराण जैसे प्राचीन काव्यों की भाषा में अन्त्य इ का प्रयोग-बाहुल्य है किन्तु इस इ का उच्चारण अत्यन्त हल्का (Light) मालूम होता है।

हरे' इ (प्र० च० ५) करे' इ (प्र० च० ३६) संवरे' इ (प्र० च० २६) आउ' इ (प्र० च० ४, २) पला' इ (प्र० च० ४०२) ले' इ (हरि० पु० २) मा' इ (ह० पु०)। डा० धीरेन्द्र वर्मा व्रजभाषा में अन्त्य इ का उच्चारण फुसफुसाहट वाले स्वर की तरह से मानते हैं। ध्वनि प्रयोग करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह स्वर उच्चारण में वर्तमान था किन्तु इसका रूप अत्यन्त क्षीण था (व्रजभाषा § ६१)। ह्रस्व स्वरों के बाद प्रयुक्त अन्त्य इ का रूप सामान्य स्वर की भांति हो भी सकता है, किन्तु परवर्ती दीर्घस्वर के बाद प्रयुक्त इ तो निःसन्देह उदासीन स्वर ही था।

§ २६३. मध्यग ई का कभी कभी य रूपान्तर भी होता है।

गोव्यन्द (म० क० २६४। १<गोविन्द) मानस्यंघ (गी० मा० ६<मानसिंह) च्यंते (पं० वे० २६<चिंतइ) । कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ>य का आगम। 'बोल्यउ' में 'य' बोलिअउ के इ का ही रूपान्तर है। उसी तरह संहारण शब्द § २५८ के अनुसार सिंहारण और फिर स्यंघारण (ल० प० क० ७१) हो गया।

§ २६४. 'अ+उ' या 'अ+इ' का औ या ऐ उद्वृत्त स्वर से संध्यक्षर रूप में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति अवहट्ठ या पिंगल काल में ही शुरू हो गई थी। प्राचीन ब्रज की इन रचनाओं में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। जिनमें उद्वृत्त स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चाल्यउ (ल० प० क० ५६।१>चल्यौ) च्यारउ (छी० बा० ४।५>च्यारी) चउवारे (प्र० च० १६१।१>चौवारे) चउपास (प्र० च०>चौपास) चिन्हइ (छी० बा० १।२>चीन्है) चढिउ (प्र० च० ३।१>चढ्यौ) उदीठई (प्र० च० ४०३।१>उदीठै) एतउ (ल० प० क० १३।१>एतौ) कइमास (रा० व० २>कैमास) कहइ (रा० बा० १>कहै) करउ (म० क० ८।१>करौ) खयइ (छी० बा० ६।४>खयै) गहइ (छी० बा० ६।६>गहै) दीघउ (ल०प० क०>दीघौ) दिखावइ (छि० बा० १३३>दिखावै) घरई (स्वर्ग०>घरै) नीसरइ (ल०प०क० २।१>नीसरै) मनइ (स्वर्ग०>मनै)। इस प्रकार के एक दो नहीं सैकड़ों प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा दिखाई पड़ती है। यह इन रचनाओं की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है। किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि उद्वृत स्वरों के स्थान पर संध्यक्षरों के प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं। बल्कि गणना करने पर संध्यक्षरों के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं। नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अपभ्रंश रूपों के साथ दिये जाते हैं। आनीयो (ल० प० क० ५८।२<आनीयउ) उपज्यो (गी० मा० ४१<उपजउ) औगुन (पं० वे०<अउगुण<अवगुण) कैमासहिं (रा० ल० ५< कइमासहिं) कौ (स्व०< कउ) सकै (ह० मं०<सकइ) गन्यो (गी० मा० ४१<गणउ) चौपई (वि० प०<चउपई) चौगुनी (गी० मा० १२<चउगुणी) चौक (म० क० २६५।१<चउक्क<चतुष्क) चंरियो (प० वे० ३१<चंरियउ) दीसै (म० क० १२।२<दीसइ) नाच्यो(पं० वे० १०<नचउ) पहिरो (छि० बा० १३५<पहिरउ) आदि।

§ २६५. स्वर-संकोच नव्य आर्य भाषाओं की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है। प्राचीन ब्रज में स्वर-संकोच कई प्रकार से हुआ है।

(१) अउ>उ

कुण (रा० ल० ३६<कउण<कवण) बदुराय (गी० मा० २६<बादरराय <बादरवाय) दीउ (ल० प० क०<दियउ)

(२) इअ>ई।

अहारी (छी० बा० २०।४ अहारिअ<आहारिक) अपनाई (ह० मं० <अपनाइअ<आत्मनः+कृत) करी (ह० मं०<करिय<*करित=कृत) दीठी (ल० प० क०<दिट्ठिअ<*दृष्टित=दृष्ट) भई (छी० बा०<भइअ

<*भवित=भूत) धनी (छि० वा० १२२ *धनिअ<*धनित=शोभित)

§ २६६. ऋ>परिवर्तन कई प्रकार से होता है—

ऋ का इ—किसन (छी० वा० १६।५<कृष्ण) सिंगार (गी० मा० २२<शृंगार)
सरिस (छी० वा० ७।४<सदृश) हिये (गी० मा० २६>हृदय)

ऋ>ई—दीठ (छि० वा०<दृष्टि) मींचु (प्र० च० ४०६।१<मृत्यु)

ऋ>ऊ—रुख (म० क० ७।१<वृक्ष) बूढ़ौ (म० क० ६।१<वृद्ध)

ऋ>ए—गेह (छी० वा० १४।३<गृह)।

ऋ>र्—अम्रत (गी० मा० २<अमृत) क्रपण (छी० वा० १७।६<कृपण)
क्रपाचार्य (गी० मा० ३०<कृपाचार्य) भ्रष्टद्मनु (गी० मा० २४
<धृष्टद्युम्न)

ऋ का रि—द्रिढ़ (गी० मा०<दृढ़) म्रिगमद (रा० ल० ३३<मृगमद)

अनुनासिक और अनुस्वार

§ २६७. नव्य आर्यभाषाओं में अनुस्वार का प्रयोग प्रायः अनियमित ढंग से होता है। अनुस्वार का प्रयोग वर्गीय अनुनासिक के स्थान पर तथा अनुनासिक स्वर के लिए भी होने लगा। हस्तलेखों में उपर्युक्त दोनों ही स्थानों पर जहाँ अनुस्वार का प्रयोग किया गया है, सर्वत्र प्रायः विन्दु का ही प्रयोग मिलता है, इसलिए दोनों का भेद करना कठिन हो जाता है जैसे प्रद्युम्न चरित में पंचमी (११ पञ्चमी) दंड (४<दण्ड) मंदिर (१<मन्दिर) तथा हँसि हँसि (४०८=हंसि हंसि) सुणिउँ (७०५) अवहरिउँ (७०५) आदि पदों में अनुनासिक और अनुस्वार दोनों ही विन्दु से ही व्यक्त किये गए हैं।

अनुस्वार कई स्थलों पर ह्रस्व हो गया है। जैसे :

सँताप (प्र० च० १३८<संताप) सिंगार (प्र० च० २६<शृंगार) सँवारि (छि० वार्ता० १२६<संस्कार) रँगि (पं० वे०<रंग) सँसार (हरि० पु०<संसार) सँमोग (छि० वार्ता १२१<संभोग) अँगारू (म० क० ५<अंगार) सँरंग पाणि (प्र० च० ४०२<सारंगपाणि) अँधार (हरि० पु०<अंधार<अंधकार) इस प्रकार के परिवर्तन छन्दानुरोध के कारण तथा शब्दों में बलाघात के परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते हैं। ब्रजभाषा में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं (देखिये §§ १०६, १२६)।

§ २६८. नव्य भाषा में अनुनासिक को ह्रस्व या सरली कृत बनाने की प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप भी दिखाई पड़ता है जिसमें पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करके अनुस्वार का ह्रस्व कर लेते थे। प्राचीन ब्रज में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

सॉँभल्यो (हरि० पु०<संमलउ : अप० हेम० ४७४:) पाँडे (म० क० १<पंडिअ<पण्डित) पाँचई (वि० प०<पंचइ<पञ्च) छाँडो (स्व० रो० ५<छंडउ) भांति (प्र० च० १<भांति प्र० च० १६) काँस (प्र० च० ४१०<कंस) आँकुस (पं० वे०<अंकुश)।

§ २६९. अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

आँसु (प्र० च० १३६ <अंसु प्रा० पैं० <अश्रु) हँसि हँसि (प्र० च० ४०८ √ हस्) करीँहि (७०६ प्र० च० √ कृ) यहाँ तुक के कारण माँहि के वजन पर संभवतः करांहि किया गया। चहुँदिसि (प्र० च० १८ <चउदिसि, हश्रुति, <चतुर्दिशि) साँस (हरि० पु० <श्वास) पूँछि (ह० पु० √ पृच्छ्) साँपौ (पं० वे० ५३ <सर्प)।

§ २७०. सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। वर्गीय अनुनासिकों के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के संदर्भ में डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बंगाली और बिहारी के निकट दिखाई पड़ती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, उक्तिव्यक्ति स्टडी § २१.) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पड़ती है। उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहांणहि (३४।२३) मांझं (१६।१६) वंणिएं (१४।२०) आदि दिए गए हैं। नीचे प्राचीन ब्रज के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौं (स्व० रो० <कउ) परम आंगणा (ल० प० क० १३ <आपण) सुजाण (छि० वा० <१२४ <सुजाण <सुज्ञान) कंवलिय (पं० वे० २६ <कमल) अंम्रति (गी० भा० २ <अमृत) वांणियो (प्र० च० १८ <वणिक) जांणीयो (प्र० च० १८ < जाणीयउ √ ज्ञा) कुंवर (प्र० च० १२६ <कुमार) बांण (प्र० च० ४०२ <बाण) परांण (प्र० च० ४०३ <प्राण) कांणि (प्र० च० ४०२ =कानि) पांणि (प्र० च० ४०२ <पाणि) सुंणाव (ह० पु० <सुणाउ) जांम (ल० प० क० ६ <यावत्)।

§ २७१. पदान्त के अनुस्वार प्रायः अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समझे जाते थे। पिशेल के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए ग्रमै० § १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रंश के पादान्त 'उं', 'हुँ' या 'हं' इत्यादि के अनुस्वार प्रायः ह्रस्व उच्चरित होते थे। डा० तेसीतोरी का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन ब्रजभाषा मे अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई। यहाँ पर पदान्त अनुसार निश्चय ही अनुनासिक हैं। इसीलिए प्रायः, इन्हें चन्द्र बिन्दु से व्यक्त किया जाता है। हस्तलेखों में चन्द्रबिन्दु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए वहाँ बिन्दु ही दिया गया है, पर ये हैं अनुनासिक ही। यथा—

जियउं (प्र० च० १३७) हरउं, परउं (प्र० च० १३८) अवतरिउं (प्र० च० ७०५) पाउं (ह० मं०) लहहुं (स० रो०) मनावैं (वै० प०) होहिं (वै० प०) तारं (पं०वे० २०) तैसैं (गी० भा० १०) संवरों, करों (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पड़े हैं।

§ २७२. मध्यवर्ती अनुस्वार प्रायः सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

टाइं (प्र० च० २६<टाइं अप०<स्थाने) कुँवर (ह० पु०<कुमार) कांधौ (गी० भा० २७<स्कंधउ)।

व्यंजन

§ २७३. अपभ्रंशकालीन सभी व्यंजन सुरक्षित हैं। कुछ नये व्यंजनों का निर्माण भी हुआ है। निम्नलिखित व्यंजन पाये जाते हैं।

क ख ग घ ङ
च छ ज झ
ट ठ ड ड़ ढ ढ़ ण ऱ्ह
त थ द ध न न्ह
प फ ब भ म म्ह
य र ल ल्ह व स ह

§ २७४. ण और न के विभेद को बनाये रखने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। अपभ्रंश में न के स्थान पर प्रायः ण का प्रयोग हुआ करता था। किन्तु मूर्धन्य ध्वनि ण १४०० के आसपास ही न के रूप में बदल गई और जिन स्थानों पर मूलतः ण होना चाहिए वहाँ भी न का ही व्यवहार होने लगा। ब्रजभाषा में मूर्धन्य ण का व्यवहार प्रायः लुप्त हो गया है (देखिये उक्ति व्यक्ति स्टडी § २२ तथा ब्रजभाषा § १०५) प्राचीन ब्रज की रचनाओं में ण का प्रयोग मिलता है, इसे राजस्थानी लेखन पद्धति (Orthography) का प्रभाव कह सकते हैं, वैसे भी बुलन्दशहर की ब्रजभाषा में प्रायः न का ण उच्चारण होता है (देखिये ब्रजभाषा § १०५)। राजस्थान में लिखी ब्रज रचनाओं में मूल ण के लिए ण का प्रयोग तो है ही, न के लिए भी ण का प्रयोग किया है।

विणु (प्र० च० ८) पणमेइ (प्र० च० ३) वयणू (प्र० च० ४०४) परदमणु (प्र० च० ४०६<प्रद्युम्न) अलावण (ह० पु० २) सुणि (ह० पु० २५) आपणा (ल० प० क० १३) निणि (ल० प० क० १४) रखवालण (पं० वे० ६) कवण (छी० वा० ७) आदि में सर्वत्र न का ण हुआ है।

किन्तु अन्य स्थानों पर प्राप्त होने वाले हस्तलेखों में प्रायः ण का न रूप हो गया है जैसे-

गनपति (रु० मं० १<गणपति) सरन (रु० मं० २<शरण) पोखन (म० क० २६४<पोषण) पुरान (म० क० २६६ <पुराण) मानिक (वै० प० २<माणिक्य) पानि (वे० पु०<पाणि) नरायन (छि० वा० १२३<नारायण) गनेस (छि० वा० १२०<गणेश) बीन (छि० वा० १३२<वीणा) सुवर्न (छि० वा० १३७<स्वर्ण) परवीन (छि० वा० १३६<प्रवीण) गुनी (गी० भा० २<गुणी) पुनहि (गी० भा०<पुण्य) आदि।

§ २७५. ड र और ल इन तीनों ध्वनियों का स्पष्ट विभेद पाया जाता है, किन्तु कहीं पर ये ध्वनियां परस्पर विनिमेय प्रतीत होती हैं।

र ड—खरी (प्र० च० १३६ खड़ी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोड़ि ७ प्र० च० ३२) पर्‌यो (ह० पु० पड्‌यो) बीरा (वि० प० <बीडा <वीटिका) जोरे (वि० प० जोड़े) थोरो (वि० पु० <थोडइ <स्तोक) करोर (गी० भा० १ <करोड <कोटि)।

ड र—बाहुड़ि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) फाडइ (ह० पु० फारइ) पडिखा (पं० वे० ४ <परिखा)।

ल र—जरै (म० क० २ ज्वलइ) रावर (म० क० ४ <रावल <राजकुल) आरसु (म० क० ७ <आलस्य) हैवारे (स्व० रो० ३ <हिमालय) भुंवारा (स्व० रो० ५ <भूपाल) जारू (गी० भा० २५ <जाल) रखवारू (गी० भा० ३६ <रखपाल <रक्षपाल)।

ल का र रूपान्तर प्रायः ब्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए ब्रजभाषा § १०६)।

§ २७६. न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था।

न्ह—दीन्हेउ (ह० पु० <दिण्णउ हेम० ४।४३०) न्हाले (पं० वे० ६७)

म्ह—ब्रम्ह (हरि० पु० २६ <ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२ <उल्लास) मेल्है (ह० पु० <मेल्लइ हेम० ४।४३० छोड़ना) घल्ह (पं० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नहीं मिलता। मध्यकालीन और परवर्ती ब्रज में अलबत्ता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है। १२वीं शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियाँ मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी §३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियों को संयुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं। (ए ब्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८)।

§ २७७. मध्यग क कई स्थलों पर ग हो गया है।

अनेग (रा० ल० ३६ <अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१ <इकुणीस <एकोनविंशति) उपगार (छी० वा० <उपकार) कातिग (पं० वे० ७१ <कातिक <कार्तिक) ध्रुगु ध्रगु (ह० पु० <धिक् धिक्) प्रगट (रा० ल० वा० १४ <प्रकट); भुगति (छी० वा० १८।५ <भुक्ति) मर्गज (प्र० च० १६ <मरकत)।

§ २७८. क्ष का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है।

क्ष <छ

नछत्र (प्र० च० ११ <नक्षत्र) अच्छ (प्र० च० १५ <यक्ष) छत्री (प्र० च० ४०८ <क्षत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१ <प्रत्यक्ष)

क्ष <ख

खत्तिय (छि० वा० ३१ <क्षत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२ <क्षान्ति) रखवालण (पं० वे० १६८ <रक्षपाल) रुख (म० क० ७।१ <वृक्ष) लखनोती (ल० प० क० ६३।१ <लक्षणावती। कुछ शब्दों में क्ष, का ष रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी क्ष का उच्चारण ख ही होता है।

§ २७९. त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

मर्गज (प्र० च० १६ <मरकत) त्य का च रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। चत्तंकुसद

(हेम० ४।३४५<तत्कालुश) इसमें त>च परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। संभवतः इसी च का ज रूपान्तर हो गया। तवर्ग और चवर्ग दोनों वर्ण उच्चारण की दृष्टि से अत्यन्त निकटवर्ती हैं। तवर्ग वर्त्स्य ध्वनि और चवर्ग संघर्षी है। इसीलिए इनका परिवर्तन स्वाभाविक है। द>ज का भी एक उदाहरण मिलता है जिजोधन (गी० मा० ३३<जुजोधन<दुर्योधन)।

§ २८०. प्राकृत में मध्यग क ग च ज त द प व के लोप के उदाहरण मिलते हैं (हेम० ८।१।१७७) यही अवस्था अपभ्रंशों में रही। अपभ्रंश में उच्चारण-सौकर्य के लिए ऐसे स्थलों पर 'य' या 'व' श्रुति का विधान भी था किन्तु सर्वत्र इस नियम का कड़ाई से पालन नहीं होता था। नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार के शब्दों में स्वरसंकोच या संधि आदि द्वारा अथवा शब्द को मूलतः तत्सम रूप में उपस्थित करके परिवर्तन लाया जाता है। किन्तु प्रारम्भिक ब्रजभाषा में ऐसे कई शब्द मिलते हैं जिसमें उपर्युक्त व्यंजनों के लोप के बाद किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। कहीं-कहीं 'य' श्रुति का प्रयोग हुआ भी है किन्तु ये शब्द परवर्ती ब्रज में बहुप्रचलित नहीं दिखाई पड़ते। इनके स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग ही ज्यादा उचित माना जाने लगा। यह भाषा की प्राचीनता का एक सबूत है। पआरें (प्र० च० ४०६< प्रकारेण) पाउस (ह० पु०<प्राकृट्) गुणवइ (प्र० च० ७०५<गुणवती) हुअ (ल० प० क०<भूत-ब्रजभाषा = हतो) पयालि (ल० प० क० ६१<पाताल) साँयो (पं० वे०< साँप<सर्प) सयल (ल० प० क० ६८<सकल) पसाइ (वै० प०<पसाय<प्रसाद) सायर (गी० मा० २६<सागर)।

§ २८१. य>ज

अजुध्या (वै० प०<अयोध्या) जिजोंधन (गी० मा० ३३<दुर्योधन) आचारजहि (गी० मा० ३३<आचार्य)।

संयुक्त व्यंजन

§ २८२. अपभ्रंश के द्वित्व व्यंजनों का प्राचीन ब्रजभाषा में सर्वत्र सरली-करण किया गया है। इस अवस्था में क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। अपूठा< पं० वे० ४५<अपुट्ठ<अपुष्ठ) आथमण (छी० वा० ७।५<अत्थमण<अस्तमान) काजे (पं० वे० ४<कज्ज<कार्य) कीजइ (छि० वा० ७।३<किज्जइ<क्रियते) घाले (पं० वे०<घल्लइ हेम) दीठौ (ह० पु०<दिठ्ठइ<दृष्ट) दीनी (छि० वार्ता० १३१<दिण्णी हेम०) नीसरइ (ल० प० क० २।१<निस्सरइ<निस्सरति) पूछइ (रा० वा० २५<पुच्छइ<पृच्छति) फूलियो (छी० वा० १२।६<फुल्लियउ) वीध्यो (पं० वे० ५२<विध्यउ) मीठो (पं० वे०< मिठ्ठ<मिष्ठ) राखनहारा (छी० वा० ४।६<रक्खण<रक्षण) बूझइ (प्र० च० १।१ बुज्झइ<बुद्ध्यते) इस प्रकार का व्यंजन सरली करण (Simplification) विगत काल से ही शुरू हो गया था जिसे पहले ही प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक आदि की भाषा के सिलसिले में दिखाया गया है। प्राचीन ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से विकसित दिखाई पड़ती है। बहुत से शब्दों में यह व्यंजक द्वित्व सुरक्षित भी रह गया है। जैसे—

कज्जल (प्र० च० २६।१) दिट्ठ (छि० वा० १६।३) नघइ (छी० वा० १६।६) निच्चिंत (छी० वा० २) वज्झइं (छी० वा० २) सज्ज (रा० वा० वा० ३५) संकल (पं० वे० ६)।

इसे हम अपभ्रंश का अवशिष्ट प्रभाव कह सकते हैं।

§ २८३. ध्य का झ रूपान्तर—अपभ्रंश की तरह ही ध्य का झ रूपान्तर हो गया
आश्चर्य तो यह है कि ध्य>झ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की ब्रजभाषा मे
स्थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरंभिक ब्रज में इस प्रकार के अस
शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए झावहिं (प्र० च० ७०६<ध्यायति, तु
हेम ४।४४०) जूझ (संज्ञा म० क० २<जुज्झ<युध्य)।

§ २८४. मध्यग ट का ड में परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण<*त्रोटति-पिशेल § ४८६)
जडे (प्र० च० १६<जटित)
सकंडु (छी वा० १०<संकट)
घडन (छी० वा० १३<घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० ८।१।१६

§ २८५. त्स>छ : त्स का च्छ रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आरंभिक ब्रज
भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स>छ के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक कदम आगे के
हैं। उछंग (ह० पुराण<उच्छंग<उत्संग) मछि (पं० वे० १६<मच्छ<मत्स्य)।

§ २८६. स्त>थ—परिवर्तन भी संलक्ष्य है।

थुत (गी० भा० ६<स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७<हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

§ २८७. वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति नव्य आर्यभाषाओं में पाई जाती है। जैसे मध्यय
प्राकृत अपभ्रंश में भी इसका किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरी ने वर्ण-विपर्य
उदाहरणों को चार वर्गों में बाटा है। यह वर्गीकरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा स
है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यंजन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तंबोर (गी० भा० २१<ताम्बूल)
सहू (ल० प० क० १<अप० साहु<शश्वत्, पिशेल § ६४)
कुरवा (गी० भा० ५६<कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिर (पं० वे० २५<कवँल<कमल)
भँवर (पं० वे० २५<भवँर<भ्रमर)
कुँवर (ह० पु०<कुवाँर<कुमार)
अँकवार (ह० पुरान<अंकवाँर<अंकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परीहिते (स्व० पर्व०<परीक्षित)
(२) मिनरौं (गी० भा०<*मिरउँ<मृ)
(३) पंचाइनजु (गी० भा० ४१<पाञ्चजन्य)

(४) आगमन (छी० वा० <आगमान)
(५) हिय (प० वार्ता ६ <हिअ <पुरानी राजस्थानी § ५०)

व्यंजन विपर्यय

पारिष्ठ (प्र० च० ४१० <पतिष्ठ <प्रगढ़)

स्वरभक्ति

§ २८८. परमानी (प्र० च० ४ <परमानी) बिघन (प्र० च० ५ <विघ्न) पर
(प्र० च० ४०६ <प्रद्युम्न) निरिश (म० क० <६ निशा) मारगि (ल० प० क० ६१ <
भारहथ (छि० वा० १२१ <भारत) असुर (छि० वा० १३१ <असुरा) परवीन (छि०
११६ <प्रवीन) गीरम (गी० मा० ३६ <ग्रीष्म) सुरग (छी० वा० २८ <स्वर्ग) स
(छी० वा० ३ <सम्मुख) आगिनि (छी० वा० ४ <अग्नि) मुगती (छी० वा० ४ <मु
आयुरबल (छी० वा० ८ आयुर्बल) किसन (छी० वा० १६ <कृष्ण)।

संज्ञा-शब्द

§ २८९. आरम्भिक ब्रजभाषा में केवल दो ही लिंग का विधान दिखाई पड़ता
डा० ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के सर्वेक्षण के बाद यह बताया कि प्राचीन ब्रजभाषा
तीन लिंग होते हैं (देखिये § १५६)। किन्तु इस प्रकार का कोई विधान नहीं दिखाई पड़त
नपुंसक और पुलिंग में अन्तर बताने वाला चिह्न डा० ग्रियर्सन के अनुसार अनुस्वार है,
घोड़ो पुल्लिंग, सोनों नपुंसक लिंग।[1] अनुस्वार का प्रयोग प्राचीन हस्तलेखों में कितना अनियमि
होता है, इसे बताने की जरूरत नहीं। ऐसी हालत में लिंग-निर्णय का यह आधार ब
प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। प्राचीन ब्रज में बहुत से स्त्रीलिंग शब्द पुल्लिंग और बहुत
नपुंसक लिंग या पुल्लिंग शब्द स्त्रीलिंग में व्यवहृत हुए हैं। वार (प्र० च० ३२) समय
अर्थ में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है। विपाणी पाप (ह० पु० २५) में पाप स्त्रीलिंग है।

प्रातिपदिकों की दृष्टि से व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक ही प्रधान है वैसे ऐसे व्यञ्जनों के अ
में 'अ' रहता है जो प्रत्ययों के लगने पर प्रायः लुप्त हो जाता है। बहुत से दीर्घ स्वरान्त स्त्रीलि
शब्द ह्रस्व स्वर हो गए हैं। धर (प्र० च० ४०७ <धरा) बात (प्र० च० २८ <वार्ता
बाम (प्र० च० ३१ <बामा) कुमरि (ल० प० क० १० <कुमारी) गवरि (ल० प० क
७२ <गौरी) रेख (प्र० च० २६ <रेखा) इस प्रकार की प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी दिखा
पड़ती है (दे० हेम ८।४।३३०)।

वचन

§ २९०. बहुवचन द्योतित करने के लिए 'नि' या 'न' प्रत्यय का प्रयोग होता था। यह
प्रत्यय प्रायः विकारी रूपों का निर्माण करता है जिनके साथ परसर्गों के प्रयोग के आधार पर
भिन्न भिन्न कारकों का बोध होता है।

(१) चितवनि चलनि पुरनि मुसक्यानि (स्त्रीलिंग) बहुवचन छि० वार्ता १३५।
(२) जेहि बस पंचन कीय (पं० बेलि० १२) पांचों ने।

---

1. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, भाग ९, हिस्सा १, पृ० ७४

(३) इन्द्रिन औगुन भरिया (पं० वे० ६३) इन्द्रियां श्रौगुन भरी हैं।
(४) संखनि पूरन लागे (गी० भा० ४५) संखों से भरने लगे।

भक्ति

§ २६१. अधिकांशतः परवर्ती ब्रज की तरह आरंभिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग ये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी शेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह केवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म हिं

(१) तिन्हहिं चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन
(२) कैमासहिं अहमिति होइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एक वचन
(३) तिन्हहिं कियो प्रणाम (ह० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण 'हि' 'ए'

(१) दोउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से
(२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवाच्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।
(३) अर्धचन्द्र तिहिं साधिउ प्र० च० ४०२ उसने साधा

षष्ठी 'ह'

(१) वणह मझारि (प्र० च० १३७)
(२) पदुमह तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हिं', 'इ', एँ

कुरुखेतहिं (स्व० ३) मनहिं लगाइ (छि० वार्ता १२८)
मनि च्यंते (पं० वे० २८) सरोवरि (पं० वे० ३२)
रावलि (ह० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहिं अवतरिउं (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २९२. उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज में उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'मैं' और 'हौं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखों में अपभ्रंश का हउं रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउं के विकसित रूप हौं की है। मइँ का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है।

(१) हउं मतिहीन म लावउ खोरि (प्र० च० ७०२)
(२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)
(३) हौं न धाउ घालौं (गी० भा० ५६)
(४) फुरमान मइँ दीउंगा (रा० वार्ता ४६)
(५) पूर्वजन्म मइँ काइउँ कियउ (प्र० च० १३६)
(६) कि मइँ पुरुष बिछोहो नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं। प्राचीन ब्रजभाषा की आरंभिक रचनाओं में अपभ्रंश रूप हउं (हेम० ४।३३८) और मइं (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवर्ती रचनाओं में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

इन रूपों के अलावा भिन्न-भिन्न कारकों में प्रयुक्त होनेवाले विकारी रूप भी मिलते हैं।

§ २६३. मो और मोहिं

कर्म–सम्प्रदान में प्रयुक्त होने वाले इन रूपों के कुछ प्रयोग नीचे दिये जाते हैं।

(१) तोहि बिनु मो जग पालट भयो (ह० पु०)
(२) बुद्धि दे मोहि (वै० पचीसी)
(३) मोहि सुनावहु कथा अनूप (वै० पचीसी)
(४) जो तुम बाहुडि पूछ्यो मोहि (ह० पु० ६)

मो का विकारी रूप भिन्न-भिन्न कारकों के परसर्गों के साथ प्रयुक्त होता है।

(१) इहि मोसौं बोल्यो अगलाइ (प्र० च० ४०२)
(२) मो सम मिलहिं तोहि गुरु कवण (प्र० च० ४०६)
(३) तो यह मो पै होइ है तैसे (गी० मा० ३०)
(४) को मो सो रन जोष्यों आनि (गी० मा० ४५)
(५) सो मो वरइ कुँवरि इमि कहइ (ल० प० क० १०)

डा० तेसीतोरी मूँ या मो की व्युत्पत्ति अप० महु<सं० महम से मानते हैं। (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३। १) डा० तेसीतोरी इसे मूलतः षष्ठी रूप मानते है जिसका सम्प्रदान कारक में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार मुंहि या मोहि भी उनके मत से षष्ठी का ही रूप है। जिसका प्रयोग पूर्वी प्रदेश की बोलियों (राजस्थानी से भिन्न, ब्रजभाषा आदि) में सम्प्रदान कारक में होता है।[1] इस प्रकार मो के 'मम' अर्थ-द्योतक प्रयोग परवर्ती ब्रज में बहुत होने लगे। मो मन हरत (सेनापति ३४) मो माया सोहत है (नन्ददास ४। २६) आदि रूपों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। (देखिये ब्रजभाषा § १५८) बीम्स ब्रजभाषा के विकारी रूप मो की व्युत्पत्ति संस्कृत मम से मानते हैं।[2] उपर्युक्त प्रयोगों में 'मो जग' का अर्थ मेरा जग है।

§ २६४. मेरो, मोरो, मेरे

उत्तम पुरुष के सम्बन्ध विकारी रूपों के कुछ उदाहरण—

(१) जो मेरे चित गुरु के पाय। (गी० मा० २६)
(२) मेरो रथ लै थाघौ तहाँ (गी० मा० ४४)
(३) अगरवाल की मेरी जाति (प्र० च० ७०२)
(४) तो बिनु और न कोऊ मेरो (ह० मं०)

सम्बन्ध वाची पुल्लिंग मेरो, मेरे तथा स्त्रीलिंग मोरी, मेरी आदि सर्वनाम प्राकृत महारउ संस्कृत-मदकार्यकः (पिशेल ग्रेमेटिक § ४१४) से अनुजात माने जा सकते हैं। डा० तेसीतोरी ने मेरउ और मोरउ रूपों को राजस्थानी का मूल रूप स्वीकार नहीं किया, उनके मत से पुरानी राजस्थानी की रचनाओं में मिलने वाले ये रूप ब्रज तथा बुन्देली के विकारी रूप हैं,

---

1. डा० एल० पी० तेसीतोरी, पुरानी राजस्थानी § ८३।१
2. बीम्स, कम्पेरेटिव ग्रैमर आव माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज आव इंडिया § ६६

में के सदृश हैं (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत मह्केरो रूप से मानते हैं।[1]

§ २६५. *बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं।*

(१) हम तुम जयो नरायन देव (ह० पु०)

(२) हमार राजा पै बस दयाउ (रा० वार्ता० ४)

(३) ए सब सुहृद हमारे देव (गी० भा० ४८)

(४) इन मारे हमकों फल कौन (गी० भा० ५६)

'हम' उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है। हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं। हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे<सं०*अस्मे से किया जाता है। हमारी आदि रूप मह्कारो<सं० *अस्मत्कार्यकः से विकसित हो सकते हैं। (देखिये तेसीतोरी पुरानी राजस्थानी § ८४)।

§ २६६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्रायः उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं। मूल रूप तुम, तूँ हैं जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०)<संस्कृत त्वम् से निसृत हुआ है।

(१) अब यह राज तात तुम्ह लेहू (स्वर्गारोहण ५)

(२) जसु रावणहारा तूँ दई (छी० वा० ४।६)

(३) तुम जनि बीर धरौ सन्देहू (स्व० पर्व०)

(४) जेहि ठां तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहिं आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तो बिनु अवरन को सरण (छी० वा० ३।६)

(२) तो बिनु और न कोऊ मेरो (ह० मं०)

(३) तो सम नाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)

(४) तोहि बिनु मो जग पालट भयौ (ह० पुराण)

(५) तोहि बिनु नयन ढलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं। तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश<तुहुँ<*तुम्भे से संभव है। (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २६१) मूलतः ये भी षष्ठी के ही विकारी रूप हैं। 'तो' सर्वनाम षष्ठी में भी प्रयुक्त होता है। तो मन की जानत नहीं। आदि।

सम्बन्धी-सम्बन्ध विकारी रूप

•(१) तेरै संनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)

(२) न्याय गदभत्तण तेरउ (छी० वा० १७)

(३) साप तुम्हारे चन्हिहो रहै (स्व० प०)

(४) निस दिन सुमिरन करत तिहारो (ह० मं०)

---

1. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २४२

तेरे, तिहारे, तुम्हारे या तिहारो रूप अप० तुम्हारउ <सं० *तुष्मत्+कार्यकः से निसृत हुए हैं (पुरानी राजस्थानी § ८६) पत्रों के रूपों में एकवचन और बहुवचन का स्पष्ट भेद नहीं दिखाई पड़ता तेरे, तेरी, तिहारा आदि एकवचन में और तुम्हारे आदि बहुवचन के रूप हैं। वैसे प्रयोग में यह भेद कम दिखाई पड़ता है।

(५) तुम चरनन पर माथो नारे (गी० भा०)

संस्कृत के 'तव' से निसृत 'तुव' रूप प्राचीन ब्रज में प्राप्त होता है। इसका प्रचार परवर्ती ब्रज में और भी अधिक दिखाई पड़ता है। (तुलनीय, ब्रजभाषा § १६७)। कर्म-सम्प्रदान के विकारी रूप जो विभक्ति युक्त या परसर्गों के साथ प्रयोग में आते हैं।

(१) तुम्है छाड़ि मो पै रह्यो न जाई (स्व० पर्व०)

(२) अब तुमहिं को परी है चारी (स्व० पर्व०)

ये रूप भी उपर्युक्त रूपों की तरह निसृत होते हैं। इस तरह संयोगात्मक वैकल्पित रूप ब्रज में बहुत प्रचलित हैं। (देखिये ब्रजभाषा § १६६)

कर्तृ-करण के, 'तैं' रूप के उदाहरण नहीं मिलते हैं। संभवतः यह इस काल में बहु प्रचलित रूप न था। और उसके स्थान पर तुम या तूं से ही काम चल जाता था। १६वीं शती के बाद की रचनाओं में इसका प्रयोग मिलता है।

§ २९७. अन्य पुरुष, नित्य सम्बन्धी सर्वनाम

इस वर्ग में संस्कृत के प्राचीन तद् 'सः' विकसित सो आदि तथा उसके अन्य विकारी रूप प्राप्त होते हैं। स वाले रूप—

(१) सो सादर पणमइ सरसती (प्र० च० १)

(२) देइ असीस सो ठाढे भयो (प्र० च० २८)

(३) परसण इन्द्रिय परचो सो (पं० वे० २)

(४) सो रहे नहीं समझायो (पं० वे० ५६)

(५) सो श्रुत मानसंघ की करै (गी० भा० ६)

स प्रकार के रूप केवल कर्ता में ही प्राप्त होते हैं। अन्य कारकों में इसी के विकारी रूप प्रयोग में लाए जाते हैं। इन विकारी रूपों में कई मूलतः सर्वनाम की तरह प्रयुक्त होते हैं, कुछ सार्वनामिक विशेषण की तरह। इसी कारण कुछ भाषाविदों ने इन्हें मूलतः विशेषण रूप माना है। डा० धीरेन्द्र वर्मा इन्हें अन्यपुरुष सर्वनाम न कहकर नित्य सम्बन्धी कहना पसन्द करते हैं।[1] उक्ति व्यक्ति प्रकरण में डा० चाटुर्ज्या ने इन्हें अन्य पुरुष (*Third person*) के अन्तर्गत ही शामिल किया है।[2]

§ २९८. कर्तृकरण

तेइ—तिह

(१) तिहि तँबोर पेघू कइ दयो (गी० भा० २१)

---

1. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २२६
2. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, स्टडी § ६६।१

(२) तेइ धणी सही तिस भूषा (पं० वे० ५)

(३) ते मुकृत सलिल समोयौ (पं० वे० ६४)

तेइ संस्कृत तधि* > तहि > तइ > तेइ का रूपान्तर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६७) तिहि तहि का ही रूप है।

§ २९९. ता, ताकों आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल सम जाई (स्व० रो०)

(२) ताको रूप न सकौं बखानि (वै० पचीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नंद (वै० प०)

(४) ता घर भान महामरु तिसै (गी० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' ब्रजभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न-भिन्न परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है। वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः षष्ठी में ही प्रयुक्त होता है। षष्ठी ताह (अपभ्रंश) से संकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३)।

§ ३००. तासु, तिसी, तिहि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संबंधी विकारी रूप—

(१) करि कागद मह चित्रो तिसी (छि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेवर सुनि फेरी दीठि (छि० वा० १३१)

(३) नारद रिसि गो तिहि ठांई (प्र० च० २९)

(४) ताही को भावै वैराग (गी० मा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गी० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई (प्र० च० १)

(७) तास चीन्हइ नहिं कोई (छी० वा० १)

सं० तस्य > अप० तस्स > तसु > तासु। तिसी, तासु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्य-कालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३०१. बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगूता (पं० वे० १२)

(२) तिन्ह मुनिए जनम विगूते (पं० वे० २४)

(३) कुटिल बचन तिन कहे बहूत (गी० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आंहि अगार (गी० भा० ५४)

तिन्ह और तिन रूप मूलतः कर्तृकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम् + हि विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते संस्कृत के प्राचीन ते से संबद्ध है।

विकारी रूप—

(१) तिन्हहिं चउवति बाँह उचाइ (छि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं कैसे बँधिए सम्राम (गी० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो नहिं आन (गी० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात मु सज्जय मनै (गी० भा० ३२) सम्बन्ध

(५) तिन्ह कौं कैसे सुनू पुराण (ह० पुराण ७) सम्बन्ध
(६) तिन्हि कहुँ बुद्धि होइ (प्र० च० १) कर्म
(७) तेउ न राखि न सकै आपणे (प्र० च० ४०६) कर्म

बहुवचन में तिन या तिण का प्रयोग भी होता है।

(१) तिण ठाई (ल० प० क० १४)
(२) तिण परि (ह० पुराण)

नन्द दास और सूरदास ने भी 'उन' के अर्थ में तिण का ऐसा ही प्रयोग किया है (देखिये ब्रजभाषा § १८३)।

दूरवर्ती निश्चयवाचक

§ ३०२. संस्कृत के तद् के विभिन्न रूपों से विकसित नित्यसंबन्धी सर्वनामों के अलावा अन्यपुरुष में 'व' प्रकार के सर्वनाम भी दिखाई पड़ते हैं। खड़ीबोली में अन्य पुरुष में अब वह और उसके अन्य प्रकार ही चलते हैं। वह की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध अपभ्रंश क्रिया विशेषण ओइ (हेम० ८।४।३६४) से जोड़ते हैं।[1] प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ रूप नीचे दिये जाते हैं—

(१) वहइ धनुष गयो गुण तोरि (प्र० च० ४०५)
(२) त्यों कि वै सकइ न चालै (पं० बे० ८)
(३) पै वै क्यों हू साथ न भयौ (गी० भा० १४)

वहइ रूप १४११ संवत् के प्रद्युम्न चरित में प्राप्त होता है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इस काल की दूसरी रचनाओं में 'वह' का प्रयोग अत्यन्त दुर्लभ है। वै के कई प्रयोग प्राप्त होते हैं, प्रायः सभी एकवचन के। वै का प्रयोग परवर्ती ब्रज में बहुवचन में होता था (देखिये ब्रजभाषा § १६८)।

बहुवचन के रूप

(१) सब वै सुन्दरि करहिं कुकर्म (गी० भा० ६१)
(२) दुष्ट कर्म वै करिहै अवहिं (गी० भा० ६१)

विकारी रूप—उन

बहुवचन में उन का व्यवहार होता है—

(१) अग्नि ज्यों उन बुद्धि मूसा (पं० बे० ३५)
(२) उन विमवाणि बल्यो रण द्रोण (ह० पु० ७)
(३) उनको नाहिन सुरति तुम्हारी (स्व० प०)

निकटवर्ती निश्चय वाचक

§ ३०३ इस वर्ग के अन्तर्गत एहि, इहि आदि निकटता सूचक सर्वनाम आते हैं—

एक वचन, मूल रूप—

(१) इहि मेरो बैरी (प्र० च० ४०२)

---

1. ओ० डे० बं० लै० § ५०२

(२) एह बोल न संभल्यो आन (इ० पु० ६)

(३) इह स्वर्गारोहण की कथा (स्व० रो०)

(४) इह रंभा कइ अपछुर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एइ, इह, यह आदि रूप अपभ्रंश के एहु (हेम० ४।३६२) से विकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाटुर्ज्या एत् से जोड़ते हैं जिसके तीन रूप एषः, एषा और एतद् बनते हैं (वैं० लैं० § ५६६) कभी कभी इहका संकुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रंग्यो ऐसो (पं० वे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती ब्रज में भी होता था (देखिए ब्रजभाषा § १७४)

विकारी रूप-या, याहि, आदि। या ब्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसर्गों के साथ बनते हैं।

(१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०३)

(२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)

(३) सुनउ कथा या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)

(४) या तैं समझै सारु असारु (गी० भा० २८)

(५) या ही लगि हों सेवौं (गी० भा० ५७)

§ ३०४. सम्बन्ध के यासु, इसो आदि रूप—

(१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप सं० एत-अस्य > प्रा० एअस्स से सम्बन्धित मालूम होता है। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एतस्य से मानते है देखिए (हि० भा० इतिहास § २६१)।

बहुवचन—ये, इन

(१) ये नैन दुवै वसि रायै (पं० वे० ४८)

(२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)

(३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)

(४) छीहल अकारण ए सबै (छी० बा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० भा० भाषा के एत् > म० भा० एअ > ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसर्गों का प्रयोग होता है—

(१) पेषू इनमें एकै छई (गी० भा० १७)

(२) इन मारे त्रिभुवन को राज (गी० भा० ५५)

(३) इन मैं को है (रा० बा० २१)

इन सर्वनाम सं० एतानाम् > एआन > एण्ह अप० > एन्ह > इन्ह > इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

§ ३०५. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन-जो,

(१) एकादसी महातम जो करै (न० क० १६५)

(२) जिनमें ऐसी कुपथ जो करई (न० क० १)

(३) जो कोई सरन परे हैं रावरे (ल० प०)

'जो' सर्वनाम संस्कृत के यः से विकसित हुआ है।

विकारी जा, जिहि, जेहि, जसु, जाहि आदि।

(१) जाहि होइ सारदा सुद्धि (गी० मा० ५)

(२) जा सम भयो न दूजो आन (गी० मा० ११)

(३) जाके चरन प्रताप ते (ह० मं० २)

(४) जेहि हर किंने बस कियो (पं० बे० २३)

(५) जिहि ठा तुम (गी० मा० ५२)

(६) जसु रावण हारा तू दई (छी० वा० ४)

(७) जिमि मारग संचरयो पयालि (ल० प० क० ६१)

जा<जाहि<याहि। जेहि<येभिः। जसु<जस्स<यस्य।

बहुवचन-जिन-जे आदि—

(१) जिन अहर विषै बस कीते (प्र० बे० २४)

(२) जे जग तन संमय खोयो (पं० बे० ६४)

(३) जे यहि छन्द गुणत्तु (ह० पुराण)

इनमें 'जिन' विकारी रूप है जिसके साथ सभी परसर्गों या विभक्तियों का प्रयोग होता है और इस प्रकार जिनहि, जिनको, जिनसों आदि रूप बनते हैं। जिनकी व्युत्पत्ति जाणं>जन्ह जिन्ह>जिन हुई। जे<येभिः (देखिए उक्ति व्यक्ति § ६७)।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

§ ३०६. को और कौन मूल रूप हैं।

(१) को मानेहिं गुन विस्तरै (गी० मा० २१)

(२) देखो इनमे को है (रा० वा० १२)

(३) बहुरि बात बूझई कवण (छी० वा० ७।६)

(४) तो सम मिले न छत्री कमणु (प्र० च० ४०८)

(५) कवि कौण कहै तसु भूपा (पं बे० ५)

(६) सावंतन सो कूंण अवस्था हइ (रा० वा० ३६)

को और कवन के बहुतेरे रूप प्राप्त होते हैं।

को तो संस्कृत 'कः' का ही विकसित रूप है। कवण कौन, कूंण आदि की व्युत्पत्ति इस प्रकार है। कः पुनः>कवुण>कउण>कवण>या कौन।

विकारी रूप—का

(१) का पहँ सौंप्यो पौरुष (प्र० च० ४०६)

बहुवचन में 'किन' का प्रयोग होता है। यह बहुवचन का विकारी रूप है।

(१) किण ही अन्त न लिहियउ (छी० वा० १)

(२) गति किन हूँ नहिं पाई (ह० मं०।

किन रूप प्राकृत केणा सं० कार्णा (केषां) से विकसित माना जाता है। डा० धीरेन्द्र ने लिखा है कि प्राचीन ब्रज में विशेष विकृत रूप किन् का प्रायः सर्वथा अभाव है [देखिये

ब्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरंभिक ब्रज में मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणों में दिखाई पड़ते हैं। संख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. *अप्राणि सूचक प्रश्न वाचक सर्वनाम के रूप*—*कहा, काहि।*

(१) कहौ काहि अहु (छि० वार्ता ११३)

(२) कहा बहुत करि कीजै आनु (गी० मा० २६)

§ ३०८. अनिश्चय वाचक सर्वनाम

(१) तिस कउ अन्त कोउ नहिं लहई (प्र० च० २)

(२) तुम बिनु और न कोऊ मेरो (ह० मं०)

(३) इहि संसार न कोऊ रह्यो (गी० मा० २५)

कोऊ ही ब्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में नहीं दिखाई पड़ता। परवर्ती ब्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (देखिये ब्रजभाषा § १६१)

विकृत रूपान्तर—काहु, किस

(१) *मानत कह्यो न काहु की (स्व० रोहण ६)*

(२) काहू कदना ऊपर चाऊँ (गी० मा० २३)

'किस्यो' रूप भी मिलता है। यह रूप डा० वर्मा के अनुसार खड़ीबोली के किस का संशोधित रूपान्तर है (ब्रजभाषा § १६२) किन्तु इसे अपभ्रंश कस्स>किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

(१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में अत्यल्प दिखाई पड़ता है।

§ ३०९. अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

(१) कछू सो भोग जानिबे (रा० वा० २)

(२) कछू न सूझै हिये मझार (गी० मा० ५८)

§ ३१०. निजवाचक तथा आदरार्थक सर्वनाम

आपणे, आपनो, अपनी आदि रूप

(१) तेउ राखि सके न आपणे (प्र० च० ४०६)

(२) परजा सुखी कीजै आपणी (ह० पुराण)

(३) करइ आलोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)

(४) हौं न बिजै चाहौं आपौं (गी० मा० ५२)

(५) इन्द्री राखहु सबइ अप्प बसि (छी० वा० २)

(६) मीड सहइ तन आप (छी० वा० ५)

ये सभी रूप संस्कृत आत्मन्>अप्पण>अप्प से निर्मित हुए हैं। अपभ्रंश में इसी का अप्पण (हेम० ४।४२२) रूप मिलता है जो ब्रज में आपन, अपनो आदि रूपों में विकसित हुआ।

करिहउ निज मुक्त (छी० वा० १०)

आदरार्थक का 'रावरे' रूप केवल एक स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। रुक्मिणी मंगल में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। विष्णुदास की रचना होने से इसका समय १४९२ संवत् माना गया है, किन्तु इस प्रयोग की प्राचीनता पर मुझे सन्देह है। कई कारणों से रुक्मिणी मंगल की भाषा उतनी पुरानी नहीं मालूम होती। उदाहरण इस प्रकार है।

(१) जो कोई सरन पड़े हैं रावरे

डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार तुलसीदास आदि अवधी कवियों के प्रभाव के कारण इस शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा में होने लगा। (*ब्रजभाषा* § १६६)

सर्वनामिक-विशेषण

§ २११ आरम्भिक ब्रजभाषा में सर्वनामों से बने विशेषण के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

परिमाणवाचक

(१) कल्प वृक्ष की साखा जितो (गी० मा० १६)

(२) तीन भुवन में जोधा जिते (गी० मा० ४०)

जित, जिते रूप अपभ्रंश के जेत्तुलो (हेम० ४। ४३५) से विकसित हुआ है।

संभावित व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—

जेत्तिय>जेती>जिती

(१) गढ़ि कर लेखनि कीजै तितो (गी० मा० १६)

(२) भीखम के नहिं सरवर तिते (गी० मा० ४०)

अप० तेत्तिउ (हेम० ४।३६५)>तितो>तिती आदि।

(३) एते दीसे सुहद बहूत (गी० मा० २६)

(४) इतो कष्ट काहे को कीजे (प० क० ११)

(५) इतने वचन सुने नर नाथा (स्व० रो० ६)

(६) इतनी सुनि कीनौं हरतारिया (स्व० पर्व)

(७) एतउ कहि पद्मावती नाइ (ल० प० क० १३)

इतना, एती, एते आदि की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी जाती है।

इयत्तक>प्रा०>एत्तिय>अप० एत्तअ>एता, एते आदि।

(१) गै कत दिन निरखै वारि (छि० वार्ता० १२६)

सं० कियत्तक>प्रा० केत्तिय>अप० केत्तअ>कत, केते आदि।

हेमचन्द्र के बताये हुए एत्तिउ, जेत्तिउ, केत्तिउ (४।३४३) आदि रूपों से ये शब्द विकसित हुए हैं। पिशेल इन्हें संभावित संस्कृत रूप अयत्तः, यत्तः, कत्तः (ग्रेमेटिक § १५३) से विकसित मानते हैं। एक स्थान पर एतने (छी० वा० ४७) रूप भी मिलता है। एतले टाँद। एतने अपभ्रंश एत्तुलउ (हेम० ४।४३५) से विकसित रूप है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में इसका प्रयोग हुआ है, ब्रज में यह नहीं पाया जाता (देखिये पुरानी राजस्थानी § ६३)

§ २१२ *गुणवाचक सर्वनामिक विशेषण*

(१) ऐसे बात तुम्हारी रहु (म० क० १२)

(२) गीता ज्ञान होन नद इमौ (गी० भा० २७)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि।

(१) कइसइ मान भंग या होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे परवीर (गी० भा० ५१)

(३) तिन्ह को कैसे सुनू पुराण (ह० पु० ७)

कीदृश > कईस > कइस > कैसा

(१) तैसे सन्त लेहु तुम जानि (गी० भा० ३)

(२) तो यह मोरे हैहै तैसें (गी० भा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा–

(१) कह्यो प्रश्न अर्जुन को जैसे (गी० भा० ३०)

(२) सार मांहि वसु बांध्यौ जिसो (गी० भा०)

यादृश > याईस > जइस > जैसा।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डा० तेसीतोरी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अपादान कारक की संज्ञायें हैं अथवा विशेषण और कृदन्त। जिस संज्ञा के साथ इनका प्रयोग होता है ये उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस संज्ञा को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है। अथवा कभी कभी अधिकरण और करण कारक का भी। इनमें से सिउँ या सौं तथा प्रति अव्यय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरंभिक ब्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की तरह केवल द्योतक शब्दों का ही नहीं, बल्कि अन्य पूर्ण तत्सम या तद्भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

कर्तृ परसर्ग—नैं

§ ३१४. कर्ता कारक में नैं का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है। यद्यपि यह संख्या अत्यल्प है।

(१) राजा नै आइस दीन्हों (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावंत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ऊपर के उदाहरण रासो लघुतम वार्ता की वचनिकाओं से लिए गए हैं। इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं। फिर भी ने का प्रयोग संलक्ष्य है। कीर्तिलता की भाषा को छोड़कर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले। कीर्तिलता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं। इस प्रकार संज्ञा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिये § २३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, कों, कूं, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुणियन कौ है (गी० भा० २)

रावन को अवतरो (गी० भा० ५)

ताहीं को भावे वैराग (गी० भा०) सायर को तरै (गी० भा० २६)

अर्जुन को जैसे (गी० मा० ३०) अपरन कूँ छाया (छी० वा० १७)
ससि कउ दीयो (छी० वा० ४७)

कर्म के सभी परसर्ग परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रचलित हैं। (देखिए ब्रजभाषा § ६६) कहुँ और कउ निःसन्देह पुराने रूप हैं। इस परसर्ग की व्युत्पत्ति संस्कृत कक्षं>कक्खं>कार्खं >काह>कहु>कउ>कौ आदि।

§ ३१६. करण-परसर्ग—सौं, सम, सो, सम, तइ, तैं, ते।

इस सों (प्र० च० १७) रमणि सन कहियउ (प्र० च० ३२) इहि मो सों (प्र० च० ४०२) तो सम (प्र० च० ४०८) इहि पराण तइ (प्र० च० ४१०) अहंकार तैं (म० क० १२) ताते अति सुख (ह० मं०) परज्यो तैं (पं० वे० ४५) 'स' वाले रूप संस्कृत समम् से विकसित हुए हैं। समम् सउँ सों। केलाग के मत से तै या तें परसर्ग संस्कृत के तः (काशीतः) से सम्बन्धित है। (देखिये के० हि० ग्रा० § १६७) केलाग ने अपनी व्युत्पत्ति पर सन्देह भी व्यक्त किया है। क्योंकि सभी परसर्ग किसी न किसी पूर्ण शब्द से विकसित होकर द्योतक रूप में आये हैं। इसीलिए केलाग हार्नले का अनुमान ठीक मानते हैं कि इस तैं या ते की व्युत्पत्ति संस्कृत तरिते√तॄ से की जा सकती है। तरिते यानी तीर्ण (To pass over) इस तरह तरिते>तरिये >तइ>तै।

§ ३१७. सम्प्रदान—कहं, कौं, लीयो, तांई, हेत, लगि, काज, कारन, निमित्त।

विप्रन कहं दान (म० क० २६६) के अर्जुन कहं देऊ (स्व० रो० ५) विप्रन कौं (स्व० रो०) रसना रस कै लीयौ (पं० वे० १८) रस के तांई (पं० वे० १६) पेधू कहुं दियौ (गी० मा० २१) मेरे हेत (गी० मा० ३६) जा लगि (छी० वा०) ६ सुजस लगि (छी० वा० ७) कुंवरि को काजै (पं०वे० ४) दासी कै निमित्त (रा० वा० ५) कहं कौ की व्युत्पत्ति कर्म परसर्गों की तरह ही कक्षं से हुई है। लीयो, लौं, लूं, लगि आदि रूप लग्ने से बने हैं। लग्ने>लग्ने>लगि> लग>लउ>लौ आदि। तांई की व्युत्पत्ति हार्नले करण वाले तैं परसर्ग की तरह की संस्कृत तरिते>तइए>तांइ करते हैं। (ई० हि० ग्रे० § ७५) हेत संस्कृत हेतु का तद्भव रूपान्तर है।

§ ३१८. अपादान—हुंती, तैं, सौं—

कासमीर हुँती नीसरइ (ल० प० क० २) हुँती और हुंतउ अपादान के प्राचीन परसर्ग हैं इनका प्रयोग अपभ्रंश में हुआ है। डा० तेसीतोरी इसको अस् या अस्ति वाचक क्रिया का वर्तमान कृदन्त रूप मानते हैं (पु० राजस्थानी § ७२) हेम व्याकरण में अपभ्रंश दोहों में इसका प्रयोग हुआ है। होन्तओ (४।३५५) होन्तउ (४।३७२) इसी से 'तो' आदि रूप बनते हैं। अपादान में तैं और सों रूपों का भी प्रयोग होता है 'सो' और 'तै' की व्युत्पत्ति करण के परसर्ग के सिलसिले में बताई गई है।

§ ३१६. अधिकरण मांहि, मांझि, मां, में, मझारि, मंहि, मैं, मज्झि, अन्तर, मइ, पै।

पुर मांहि निवास (प्र० च० २) दरपण मांझि (प्र० च० २०) मन मां वइठो चिन्तइ (प्र० च० ३४), जदुकुल में भये (स्व० रो० ४) सोलोत्तरा मझारि (ल० प० क० ४) बादर मंहि (छि० वार्ता १३५) इहि कलजुग मैं (गी० मा० १३) भुवन मज्झि (छी० वा० ६) उनकी चित अन्तर (छी० वा० १६) पच्छिम मइ पासिद्ध (छी० वा० १६) राजा पै घस (रा० वा०८)

अधिकरण में मुख्य रूप से मध्य से विकसित मज्झि, महि, मंह, मैं वाले रूप मिलते हैं। उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है। अन्तः, अन्तर जैसे कुछेक पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

§ ३२०. सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तणी, तणउ

पद्माइ तणउ (प्र० च० १०)
तिस कउ अन्त (प्र० च० २) जोजण कौ विस्तारा (प्र० च० १५)
मीचु को ठांइ (प्र० च० ४०६) जनमेजय के रावलि (ह० पु० ५)
जाके चरन (च० मं० २) भीषम नृप की लाडली (रु० मं०)
चितइ चित्र तन (छि० वार्ता १२४) करम तणी (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग सं० कृतः > प्रा० केरो > या केरक > अप० केरउ से विकसित हुए हैं।

तन, तणउ, तनी आदि रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में काफी विवाद है। बीम्स इनकी उत्पत्ति तन > तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं। केलाग ने इसका विरोध किया। संज्ञा या विशेषण से बनने वाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध जैसा मालूम होता है।[1] इसीलिए डा० तेसीतोरी ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनकः से की। *आत्मनकः > अप्पणउ > तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी § ७३)।

§ ३२१. परसर्गों के प्रयोग में कहीं कहीं व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है।
अधिकरण का परसर्ग करण में

का पहं सीख्यो (प्र० च० ४०६)
मो पै होइहै तैसे (गी० मा० ३)
वेद व्यास पंहि सुन्यौ (गी० मा० ६३)

संयुक्त—कभी कभी दो कारकों के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।
जैसे— तिन को तैं अति सुख पाइये (च० मंगल)

विशेषण

§ ३२२. विशेषणों की रचना में प्राचीन ब्रजभाषा मध्यकालीन या नवीन ब्रजभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। विशेषणों का निर्माण संस्कृत या अपभ्रंश-पद्धति से थोड़ा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्य भाषा के विशेषणों की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता। कई स्थलों पर तो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। कहीं नहीं भी होते जैसे सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की आदि। नीचे कुछ थोड़े से महत्वपूर्ण विशेषण रूप उपस्थित किये जाते हैं। इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य।

बड़ी बार (प्र० च० ३२) उत्तम ठाऊँ (म० क०। विकट दन्त (वै० प० १) अनूप कथा (वै० प०) चकित चित्त (छि० वार्ता १२०) सुरर बेतन (छि० वार्ता० १३६) कुनुंरी

1. ए ग्रामर आव द हिन्दी लैंग्वेज § १६७।

चीर (छि० वार्ता १४०) गोर वर्न (छि० वार्ता १४०) गहीर नीर (पं० वे० १६) लम्पट लोइन (पं० वे० ७५) झूठा (पं० वे० ४८) महान कैवास (रा० वार्ता० २) सेत तुरी (गी० मा० ४२ श्वेत तुरंग) दाहिनी दिसि (छी० वा० ३) रीति (छी० वा० १३) मरी (छी० वा० १३) स्वार बन्ध (छी० वा० ४७) धनवंत (छी० वा० ४७) आलसी (छी० वा० ५२) उद्दमी (छी० वा०५२)।

संख्यावाचक विशेषण

§ ३२३. विकारी और अविकारी दोनों ही रूपों के जो भी संख्यावाचक विशेषण प्राप्त हैं उनको देखने से लगता है कि विकारी रूप केवल अधिकरण या करण कारक में हो होते हैं। अर्थात् संख्याएँ या तो 'इ' कारान्त हैं या 'ए'-'ऐ'-कारान्त। कुछ विकारी रूपों में हूँ, ऊ जैसे पद भी जुड़ते हैं।

पूर्ण संख्यावाचक—

१—इकु (प्र० च० ३२) एकहि (गी० मा० ६) एक (छी० वा० ६) <अप० एक्क <सं० एक।
२—दऊ पयारे (प्र० च० ४०६) द्वे (स्व० रो० ८) दोइ (ल० प० ५७) <अप० दो <सं० द्वौ।
३—तीनि (प्र० च० ४०८) <अप० तिण्णि <सं० त्रीणि
४—चउवारे (प्र० च० १६) चारि (छि० वार्ता० १२३) चहु (गी० मा० १७) च्यारउ (छी० वा० ४) <अप० चारि <चत्वारि।
५—पाँचौ (स्व० रो० ६) पाँचइ (वै० प०) पाँचहु (रा० वार्ता० ६) पंचयरे (छी० वा० ८) <अप० पंच <सं० पंच।
६—षट (म० क० १०) छहै (रा० वार्ता २२) अप० छ सं० षट्
७—सत्त (ल० प० क० ४) <अप० सत्त <सं० सप्त।
८—अष्ट दल कमल (प्र० च० २) अप० <अट्ठ <सं० अष्ट।
१०—दस (छी० वा० १०) अप० <दस <सं० दश।
११—एगाहरह (प्र० च० ११) <अप० एग्गारह <सं० एकादश
१२—बारह जोजन की (प्र० च० १५) <अप० बारह <सं० द्वादश।
१४—चउदह (प्र० च० ११) <अप० चउदह <सं० चतुर्दश
१५—पनरह (ल० प० ४) <अप० पण्णरह <सं० पंचदश
१८—अष्टादस (छी० वा० ६) अठारह (छी० वा० १६) <अप० अट्ठारह < सं० अष्टादश।
२५—पचीस (वै० पचीसी) <पणवीस <पंचविंशति।
३३—त्रेतीसउ (ल० प० ५६) तेंतीस (वै० प० २)
४६—छियाल (वै० पचीसी)
५३—तिरपनै (ह० पुराण ४)
५७—सत्तावनि (गी० मा० ४)
८४—चौरासी (प्र० च० १७)

१००—सौ (प्र० च० ११) सै (ह० पुराण)
१०१—एकोत्तर सइ (ल० प० क० ११)
कोटि (म० क० २६६,) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४. क्रम वाचक
१—प्रथम (छी० वा० १५)
२—दूजो (गी० भा० ११)
५—पंचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग
८—अष्टमी (छी० वा० ५३)
९—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण संख्यावाचक
½ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५. आवृत्ति संख्यावाचक—
चौगुनो (गी० भा० १३)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६. ब्रजभाषा में संयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। संयुक्त क्रिया में सहायक क्रिया का अपना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिवाचक क्रिया के रूपों से निर्मित होती है। ब्रजभाषा में √ भू और √ *अच्छ (अछई ल० प० क० ६ अहै आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियायें होती हैं। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

होइ, हुइ, हौं, होय, होहि (बहु)
कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)
होय थान (म० क० २६६) संबन्धी हैं (गी० भा० ५५)
होहिं, बहुवचन (वै० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय<अप० होइ<सं० भवति से बने हैं। होहि बहुवचन का रूप है। है रूप<अहइ<अछइ<*अछति से विकसित माना जाता है।

विधि आशार्थक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओं में नहीं मिला। संभवतः यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओं के आज्ञार्थक में होते है। इसी से मिलते जुलते रूप पुरानी राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं (देखिये तेसीतोरी पु० राज० § ११४)

भूत कृदन्त

§ ३२७. हुअउ, भयउ, भई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुउ

सो दादे भयऊ (प्र० च० २८) भई चितक्राणि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र० च० ४०३) भयौ मोखु को (प्र० च० ४०६) खंड द्वै भयऊ (स्व० रो० ८) हजूर हुउ (रा० वा० ४८) हुअ उछाह (ल० प० क० ५।१) भई (छि० वार्ता १२७) भो जिमि खोर (छि० वार्ता

११७) हुआ (नं० बे० १४) भये (गा० बा० १७)। ये सभी रूप भू के बने कृदन्त से ही विकसित हुए हैं। हुअउ<अप० हुअउ<सं० भूतः। स्त्रीलिंग में हुई और बहुवचन में भई रूप महत्वपूर्ण है।

§ ३२८ पूर्वकालिक कृदन्त—मइ, हुइ, हो, होय, है, होइ—

हो आगे ताह (ह० पु०) है होवे दान (ह० पु०) हुइ (गा० स० बा० १४) उर्द होई कुसमल (छी० बा० १०)।

अपभ्रंश में इ प्रकार से पूर्वकालिक कृदन्त का निर्माण होता था। मइ, हुइ, होइ, में (भू>हु में) इसी प्रकार का प्रयोग हुआ है। है<हुइ का ही विकास है।

§ ३२९. भविष्यत् काल—हैहै—

हैहै कैसे (गो० मा० ३०)

भविष्य में 'ग' और 'ह' दोनों प्रकार के रूप अपभ्रंश में चलते थे। ब्रज में केवल 'ह' वाले रूप ही मिलते हैं। 'गा' वाले रूपों का अभाव है।

मूल क्रिया-पद

§ ३३०. सामान्य वर्तमान—आरम्भिक ब्रजभाषा में सामान्य वर्तमान की क्रियायें प्राचीन तिङन्त (प्रायः शौरसेनी अपभ्रंश की ही तरह) होती हैं किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के साथ। प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण की भाषा में ऐसे तिङन्त रूपों में उद्वृत्त स्वर सुरक्षित दिखाई पड़ता है, किन्तु बाद की रचनाओं में अपभ्रंश से काफी भिन्नता (ध्वनि संबन्धी) दिखाई पड़ती है।

उत्तम पुरुष—मारउं (प्र० च० ४०२) हरउं (प्र० च० १३८) परउँ (प्र० च० १३८) देखिअउं (प्र० च० ४०३) *विनवउं* (प्र० च० ७०२) समरूं (ह० पु० १) पयडौं (ह० पु०) करूं (ह० पु० ३) लावौं (ह० पु० ३) सुणुं (ह०पु० ७) लागौं (स्व०रो० १) कहहूँ (स्व०रो०२)।

इस प्रकार उत्तम पुरुष एक वचन में-उं, ऊँ, औं, औं तथा हूँ विभक्तियाँ लगती हैं। अपभ्रंश में केवल उँ-जैसे करउँ रूप मिलता है बाकी रूप प्राचीन ब्रज में विकसित हुए।

बहुवचन के उदाहरण नहीं मिले हैं किन्तु परवर्ती ब्रज और अपभ्रंश को देखते हुए *इस वर्ग के रूपों का निर्धारण आसान बात है।* बहुवचन में एँ-कारान्त रूप चलें, करैं आदि होते हैं। अपभ्रंश में करहिं, चलहिं आदि।

§ ३३१. मध्यम पुरुष—

एकवचन—करइ (छी० बा० १७) सहइ (छी० बा० १७) एकवचन का अइ संध्यक्षर ऐ में बदल जाता है और इस प्रकार सहै, करै आदि रूप भी मिलते हैं। बहुवचन में ओ, औ, हु विभक्तियाँ लगती हैं।

देहु (स्व० पर्व०) लेहु (स्व० प०) प्रतिपालौ (स्व० प०) यही प्रवृत्ति परवर्ती ब्रज में भी है *(देखिए ब्रजभाषा § २११)।*

§ ३३२. अन्य पुरुष—

एकवचन की क्रिया में अपभ्रंश का पदान्त अइ कहीं सुरक्षित है, कहीं ए हो गया है और कहीं ऐ।

एकवचन—सोहइ (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) भीजइ (प्र० च० १३६) रोवइ (प्र० च० १३६) फाडै (ह० पु०) फुरै (ह० पु०) मेल्है (ह० पु०) बिनसै (म० क० १) करै (म० क० २६५) ढीडइ (ल० प० क० ७) देषै (छि० वार्ता १२६) बजावइ (छि० वा० १३६)।

बहुवचन की क्रिया में हिं विभक्ति अपभ्रंश में चलती थी, कुछ स्थानों पर हिं विभक्ति सुरक्षित है। अहिं>अइं>ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है।

हिं—कराहिं (प्र० च० ७०६) आहिं (गी० मा० ३८) गुंजहिं (छी० वा० १७)
इं—लागइं (ह० पुराण २) जाइं (छि० वा० १२४) देषइं (छि० वा० १२४) पीवइं (छी० वा० १७)।
एँ—मनावैं (वै० प० २)
ऐं—राखैं (स्व० रो० ६) आवैं (छि० वार्ता १२४)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३. वर्तमान कृदन्त के अंत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं। *इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था।* संस्कृत अन्तकः>अप० अन्तउं>अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ। पठन्त>पठन्तउ>पठत पढ़ती या पढ़ति। डा० तेसीतोरी का विचार है कि संभवतः अपभ्रंश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यंजन दुर्बल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में उद्धृत करंतु और प्राकृतपैंगलम् १।१३२ में उद्धृत बात से अनुमान किया जा सकता है। (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवहट्ठ में सुरक्षित हैं। किन्तु अन्त>अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पड़ती है। बाद में ब्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती वाले रूपों में बदल गए। कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते हैं उन्हें अपभ्रंश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यदि छन्द मुणन्तु (ह० पु० ३०)
(२) घोर पाप पीडन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवहट्ठ की तरह अन्त वाले रूप ही मिलते हैं। बाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे। उदाहरण—

(१) हुप मुख परत न दीठि (ह० मं० १)
(२) देवी पूजन कर बर मांगत (ह० मं०)
(३) मोहन महलन करत बिलास (विष्णुपद)
(४) देखति सिरति चित्र चहुँपासि (छि० वार्ता ११२)
(५) तिन्हहिं चरावति यंद उचार (छि० वार्ता १४२)
(६) आवति संपइ बार बार (छी० बा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिंग में हैं। छीहल बावनी में अपभ्रंश के प्रभाव के कारण कुछ अंतउ वाले रूप भी मिलते हैं।

चित चिन्ता चिन्तउ रयनि (१)

§ ३३४. वर्तमान कृदन्त का प्रयोग प्रायः विशेषण की तरह भी होता है वर्तमान कृदन्त असमापिका क्रिया की तरह भी प्रयुक्त होता है। सप्तमी के प्रयोग भी काफी महत्वपूर्ण हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। ये रूप अन्त और अत दोनों ही प्रकार के हैं।

(१) काम रूप प्रति देखत फिरई (प्र० च० ३०)
(२) पढ़त सुनत फल पावै जगा (स्व० रो०)
(३) तो सुमिरन्त कटित दुखो (वै० प० २)
(४) मैं नाद सुनन्तो सौंरी (पं० वे० ५२)
(५) जियत ताहि मानु सुन (गी० मा० २०)
(६) तरनिन घन घरंत (छी० वा० ५)

आज्ञार्थ

§ ३३५. वर्तमान आज्ञार्थ के रूप कभी भी शुद्ध रूप में प्राप्त नहीं होते। इसकी रचना *अंशतः प्राचीन विधि (Potential) अंशतः प्राचीन आज्ञार्थ और अन्ततः प्राचीन निश्चयार्थ* से होती है (पुरानी राजस्थानी §११६)। उत्तमपुरुष के रूपों में यह कथन और भी लागू होता है क्योंकि शुद्ध उत्तम पुरुष के आज्ञार्थक रूप एकदम नहीं मिलते। मध्यम पुरुष में प्राचीन ब्रजभाषा में एकवचन में उ, औ, ए तथा कभी-कभी 'इ' विभक्तियों के रूप मिलते हैं बहुवचन में प्रायः हु या उ विभक्ति लगती है। व्युत्पत्ति के लिए (देखिये उक्तिव्यक्ति § १०४)।

मध्यमपुरुष

एकवचन—लावउ खोरि (प्र० च० ७०२) संभाल्यो (ह० पु० ६) करउ पसाइ (ह० पु० १) सुणों (ह० पु० ८) सुनाव (ह० पु० २६) करो (रु० मं०) लेहु, देउ (स्व० रो० ५) सुनावो (गी० मा० ३२) सुनों (गी० ३६) यावो (गी० मा० ४४) सुनि (गी० मा० ५८)

बहुवचन—निसुणहु चरित (प्र०च० १०) दुरावों (रा० वार्ता १५) आवउ (रा० वा० १४) देहु (छी० वा० ७)

अन्यपुरुष

एकवचन—अर्पो (ह० पुराए)

विध्यर्थ

इसके रूप प्राचीन ब्रज में मिलते है। ये रूप प्रायः अन्यपुरुष में मिलते हैं। आदरार्थक। ये दो प्रकार के हैं।

इज्जइ > ईजे—(१) गुरु वचन कीजो परमाण (ह० पु०)
(२) परजा सुखी कीजै आपणी (ह० पु०)
(३) इतनों कपट काहे को कीजै (म० क० ११)
(४) विनय कीजइ (छी० वा० ७)

इज्जइ > ईये—(१) गौरी पुत्र मनाइये (रु० मं०)
(२) ध्यान लगाइये (रु० मं०)
(३) लै रथ थाविये तहां (गी० मा० ४६)
(४) बुल्लियइ (छी० वा० ७) विलसिये (छी० वा० ७)

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६. परवर्ती ब्रज की ही तरह आरम्भिक ब्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'ब' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये ब्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोषन (म० क० २६४) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) राखन (गी० भा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों में 'नि' लगता है।
चितवनि, चलनि, मुरनि, मुसकयानि (छि० वा० १३५)

'ब'—चलिबे को (रा० वार्ता ८) होइब (गी० भा० १६)
कहिबे (गी० भा० २७)।

§ ३३७. भूत कृदन्त—भूतकाल में भूत कृदन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

(१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
(२) अवतरिउँ (प्र० च० ७०५)
(३) सुमिरयो आदीत (ह० पु० ४)
(४) कियो कबीत (ह० पुराण ४)
(५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
(६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। प्राय: ये रूप एकवचन में ऊ, ओ, औ, यो कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ईं-कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

सीख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कांत (प्र० च० ४१०)
मुंजिउ राज (प्र० च० ४१०)
छुन्यो मूढ़ अब पत्त तजि (छी० वा० १२)
ये अनुस कीरउ पयो (छी० वा० १२)
यह केश म संभल्यो मान (ह० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

ऊकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।

ऊपर भयौ (प्र० च० ११) विरुप देखियउ (प्र० च० ३०) रनिवासहिं गयऊ (प्र० च० २८) कियउ कुताल (प्र० च० ३१) भौ ताम चढायेउ (प्र० च० ४०२) कियो लिं (ह० पु० २) कर्यो (ह० पु० ३) मेल्यौ राउ (ह० पु० ६) मान्यौ कर्ण (ह० पु० ७)

बहुवचन—पांडव गये (स्व० रो० ३) यदुकुल में भये (स्व० रो० ५)
पांचो बंधु चले (स्व० रो० ६) गे कत दिन

बहुवचन के रूप प्रायः एकारान्त कभी कभी ऐ कारान्त होते हैं। स्त्रीलिंग में प्रायः ई कारान्त क्रियापद मिलते हैं।

> हँस चढ़ी कर लेखनि लेइ (प्र० च० ३) तिनसौं कही बात (स्व० रो० ६) दीठी लखमउती (ल० प० क० ६२) परणी धीय (ल० प० क० ६६) कथा कही (वै० प०) दीनी पीठ (छि० वार्ता १३१) फेरी दीठि (छि० वा० १३१) चित्र लिखी (छि० वार्ता १३५) कीन्ही काम (छि० वा० १०१) तेइ सही (पं० वे० ५) इन कीनीं कुमति (गी० भा० ४५) कीनीं बहुवचन का रूप है।

कुछ रचनाओं में कई स्थानों में लीधउ और कीधउ का प्रयोग भी हुआ है।

(१) दीधउ जाय (ल० प० क० ६)
(२) लिद्धउ (छी० वा० १)

लक्ष्मण सेन पद्मावती कथा में दीधउ के साथ ही दीन्हो (ल० प० क० ५८) तथा दीयो (२) भी प्रयुक्त हुये हैं। पृथ्वीराज रासो की भाषा में दीधउ, कीधउ आदि के प्रयोग पर विचार किया गया है। लगता है कि इस तरह के रूप बाद में अनावश्यक समझे जाकर छोड़ दिये गए।

भूतकाल के कृदन्त रूपों में अधिकांशतः औ–कारान्त रूप पाये जाते हैं किन्तु परवर्ती रचनाओं में –यौ–कारान्त की प्रवृत्ति भी बढ़ती दिखाई पड़ती है जैसे सक्यौ (पं० वे० २६) चूर्यौ (पं० वे० १०)। ऐसे स्थानों पर परवर्ती वर्ण में स्वरलोप भी हो जाता है। कुछ स्थानों पर चंपियो (पं० वे० ३३) कहियौ जैसे रूप भी मिलते हैं। वस्तुतः ये दोनों ही प्रकार अपभ्रंश के देखियउ, कहिउ के मध्य इ के य परिवर्तन के कारण बनते हैं।

ई कारान्त स्त्रीलिंग के रूप अपभ्रंश से ही शुरू हो गए थे (देखिए § ६५) अपभ्रंश में दिण्णी आदि रूप मिलते हैं। ब्रजभाषा में इन रूपों में कुछ के दो तरह के रूप होते हैं। जैसे देना के दई और दीन्ही तथा करना के करी और कीन तथा कीन्ही। आरम्भिक ब्रज में ये सभी प्रकार के रूप मिलते लगते हैं।

पूर्वकालिक कृदन्त

§ ३३८. अपभ्रंश में पूर्वकालिक कृदन्त बनाने के लिए आठ प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग होता था (देखिए हेम० ४।४३६ तथा ४।४४०) इन आठों प्रत्ययों में 'इ' प्रत्यय की प्रधानता रही, बाकी प्रत्यय अवहट्ठ या परवर्ती अपभ्रंश काल में ही लुप्त होने लगे थे (देखिये कीर्तिलता § ७२) ब्रजभाषा में 'इ' प्रत्यय की ही प्रधानता है। कुछ स्थानों पर 'ई' दीर्घ भी हो गया है। दीर्घ स्वरान्त पदों में कभी-कभी इ > य में बदल जाता है कहीं-कहीं इ > ए भी होता है।

१—इ—लेखिनि लेइ (प्र० च० ४) लहरि (प्र० च० १८) निगुनि वचन (प्र० च० २८) जोडि (प्र० च० ३२) छांडि नीमरयो (ह० पु० ५) विमनानि (ह० पु० ७) रस रुदि (पं० वे० २५) पुटि मुद्या (पं० वे० १५) विविध (छी० बा० ३) तजि (छी० बा० १२)।

२—ई—सरी विललाइ (ह० पु०) देखतो मूड विनासी (पं० वे० १४)

३—अ—धर ध्यान (ड० मं०)

४—य—वन जाय (ह० पुराण २२) विदा होय (ड० मंगल)

५—ए—दे करउ पसाउ (ह० पुराण १) लै उपदेसा (स्व० रो० ४)

लै धायो तहाँ (गी० मा० ४४)

कुछ स्थानों पर अपभ्रंश का पुराना 'अवि' प्रत्यय भी सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

सुवणि (ह० पु० २५)

मारवि (छी० बा० ४)

ब्रजभाषा के पूर्वकालिक कृदन्त की सबसे बड़ी विशेषता पूर्वकालिक द्वित्त का प्रयोग है। 'इ' प्रत्यय से बने हुए पूर्वकालिक कृदन्त में √कृ का पूर्वकालिक कृदन्त सहायक रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार ब्रजभाषा में पूर्वकालिक संयुक्त कृदन्त का प्रयोग होता है। इसका प्रारम्भ अपभ्रंश काल में हो गया था (देखिये § १२०) आरंभिक ब्रज में इस प्रकार के बहुत से रूप पाये जाते हैं।

(१) जो रचि करि धरी (प्र० च० १५)

(२) गढ़ि करि लेखनि कीजै (गी० मा० १६)

(३) दे करि लख प्रहार (छी० बा० १५)

(४) आधीन हुई कै (गी० मा० १४)

भविष्यत् काल

§ ३३६. भविष्यत् काल में केवल -ह- वाले रूप ही मिलते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश में -ह- और -स- दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा और खड़ी बोली में एक तीसरा प्रकार -ग- वाले रूपों का भी है। आरम्भिक ब्रजभाषा (१६०० ई० के पूर्व) में ग वाले रूप प्रायः नहीं मिलते। दो एक स्थानों पर मिलते हैं किन्तु वे कितने प्राचीन हैं इसका निश्चित निर्णय कर सकना कठिन है। -ह-प्रकार के रूप नीचे दिये जाते हैं।

(१) जो हम लिखिहैं होहि गुरु वचन (प्र० च० ४०१)

(२) [illegible] (ह० [illegible])

(३) [illegible] (गी० मा० ११)

(४) [illegible] (वै० [illegible])

इन रूपों में 'लिखिहैं' तथा '[illegible]' [illegible] के बहुवचन के रूप हैं। [illegible] एकवचन का। [illegible] रूप है। [illegible] में भी [illegible] रूप मिलते हैं।

(१) [illegible] (ह० पु० ६)

(२) [illegible] (ह० पु० [illegible])

(३) माय तुम्हारे चलिहौ राई (स्व० रो० पर्व)
(४) बहुरि करिहौं निज कुकृत (छी० वा० १०)

उत्तमपुरुष का निम्नलिखित उदाहरण महत्त्वपूर्ण है।

अब या कउ देखिअउँ पराण (प्र० च० ५०३) = अब इसकी शक्ति देखूँगा।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रकार के मध्यग ह लोप वाले रूपों पर विचार किया है। उनके निरीक्षण के अनुसार इटावा, शाहजहाँपुर आदि की बोली में इसी प्रकार के रूप पाये जाते हैं (देखिए ब्रजभाषा § ३२६)

ग—वाले रूप—साध लोग छोड़ेगे आसी (स्व० प०)
फुरमान मई दिउँगा (रा० वार्ता ४८)

इन दो प्रयोगों में एक तो विष्णुदास के स्वर्गारोहण पर्व से है दूसरा राउो वार्ता से। स्वर्गारोहण पर्व का रचनाकाल १४६२ विक्रमी माना गया है। ऐसी स्थिति में ग-का प्रयोग प्राचीन कहा जायेगा। किन्तु केवल दो प्रयोगों के देखते हुए कोई निश्चित निर्णय देना कठिन है।

एक –स– प्रकार के रूप का भी उदाहरण मिला है जिसे राजस्थानी प्रभाव कह सकते हैं।

रस लेस्यौं आइ वहोड़ि (पं० बे० ३०)

§ ३४०. संयुक्त काल

वर्तमान—साधारणतया वर्तमान में प्राचीन तिङन्तों से विकसित क्रिया पद ही व्यवहृत होते हैं किन्तु वर्तमान में अपूर्ण निश्चयार्थ व्यक्त करने के लिए वर्तमान कृदन्त और सहायक क्रिया के वर्तमान कालिक तिङन्त रूपों के योग से संयुक्तकाल का निर्माण होता है। हौं चलत हौ, तू करत है आदि। इस तरह के रूप प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण जैसी १५वीं शती के पूर्वार्ध की रचनाओं में नहीं मिलते।

१—अस्तुति कहत हौं (छ० मंगल)
२—चंद सूं कहतु है (रा० वार्ता ११)
३—या जानियतु है (रा० वा० १७)
४—तारतु है (रा० वा० ३५)

इस प्रकार के प्रयोग आरंभिक ब्रजभाषा में बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं।

१—सुरनर मुनि जन ध्यान धरत रहै गति किनहू नहीं पाई (छ० मं०)
२—सदा रहै भय भीति (भीत रहता है [पं० बे० ४६)

इस प्रकार का नैरन्तर्य सूचित करने वाले पदों में प्रायः रह् धातु सहायक क्रिया की तरह प्रयुक्त होती है। इस तरह के कुछ उदाहरण पुरानी राजस्थानी में भी प्राप्त होते हैं (पुरानी राजस्थानी § १२५)।

निरन्तर रुदन करती रहइ।

केलाग ने इस प्रकार के प्रयोगों पर विचार करते हुए बताया है कि नैरन्तर्य सूचक संयुक्त क्रिया (Continuative compound verb) में अपूर्ण कृदन्त और रह् सहायक क्रिया का प्रयोग होता है (हिंदी ग्रैमर § ४४२ और § ७५४ डी)

§ ३४१. भूत कृदन्त निर्मित संयुक्त काल

पूर्ण भूत— भूत कृदन्त + वर्तमान सहायक क्रिया ।

(१) खड्यो रहै हैरानि (पं० वे० ५१)—खड़ा रहे
(२) सो रहै नहीं समझायौ (पं० वे० ५६)—समझाया है
(३) यह आयो है (रा० वार्ता० २४)—आया है
(४) कयमास परयो है (रा० वार्ता० ५)—कयमास पड़ा है

पूर्वकालिक कृदन्त के साथ सहायक क्रिया के वर्तमान और भूत दोनों कालों के रूपों के संयोग से भी संयुक्त कालिक क्रिया का निर्माण होता है ।

पूर्वकालिक + सहायक क्रिया का वर्तमान कालिक रूप

(१) चित्र तन रहईं भुलाइ (छि० वार्ता० १२४)
(२) पढ़ि होइ जहाँ (पं० वे० ४०)
(३) मारवि सकै (छी० वा० ४)
(४) जल जल पूरि रहै अति (छी० वा० १३)

इस प्रकार के रूप बहुत नहीं मिलते ।

संयुक्त क्रिया

(१) पूर्वकालिक कृदन्त के बने क्रिया रूपों का प्रयोग । इस वर्ग के दोनों ही क्रियाएँ मूल क्रिया ही होती हैं ।

(१) हुइ गयौ (प्र० च० ११)
(२) ठाढे भयऊ (प्र० च० २८)
(३) तूटि गो जाम (प्र० च० ४०४)
(४) दे करउ पसाउ (ह० पुराण १)
(५) गरि गए हेवारे (स्व० रो० ३)
(६) होइ गई मति मंदो (वैं० वे० ३)
(७) मन देख्यो मूढ़ विचारी (पं० वे० ३४)
(८) मोसे रन जोधो आनि (गो० मा० ४५)

डा० तेसीतोरी पूर्वकालिक कृदन्त को अपभ्रंश 'इ'<संस्कृत य से उत्पन्न नहीं मानते । इसे वह वस्तुतः भूत कृदन्त के 'भावे सप्तमी' का रूप मानते हैं । इस सिलसिले में उन्होंने रामचरितमानस की अर्धाली 'कछुक काल बीते सब भाई' उद्धृत की है और बताया है कि इसमें 'बीते' भावे कृदन्त रूप है जो पूर्वकालिक कृदन्त का कार्य करता है उन्होंने शक्ति बोधक तथा तीव्रता-बोधक 'सकना' क्रिया के साथ पूर्वकालिक कृदन्त का प्रयोग पुरानी राजस्थानी में लक्षित किया था। (पुरानी राजस्थानी § १३१-१३२)। ऐसे प्रयोग आरम्भिक ब्रज में भी मिलते हैं ।

(१) उपनो कोप न सक्यो सहारि (प्र० च० ३२)
(२) तेउ न राखि सके आसनें (प्र० च० ४०६)

(२) वर्तमान कृदन्त + भूतकालिक क्रिया

(१) काल रूप अति देखत फिरई (प्र० च० ३०)

(२) मोहि जूझत गयऊ (स्व० रो० ८)

(३) फल खात फिरयो (पं० बे० १)

§ ३४२. क्रिया विशेषण—डा० तेसीतोरी क्रिया विशेषणों को चार वर्गों में बाँटते हैं। करण मूलक, अधिकरण मूलक, विशेषण मूलक और अव्यय मूलक। करण मूलक क्रिया विशेषण रीति का बोध कराते हैं। अधिकरण मूलक काल और स्थान का। विशेषण मूलक परिमाण या मात्रा का तथा अव्यय मूलक क्रिया विशेषण कई प्रकार के अनिश्चित कार्यों का बोध कराते है (पुरानी राजस्थानी § ६६) नीचे आरम्भिक ब्रजभाषा के क्रिया विशेषणों को उनके अर्थबोध की दृष्टि से निम्नलिखित विभागों में रखा गया है।

१—कालवाचक

अब (प्र० च० ४०२) जाम (प्र० च० ४०४<यावत्) ताम (प्र० च० ३१<तावत्) तब (प्र० च० ४०७) दिन (प्र० च० ४०८) बेगि (ह० पु० २२ वेगेन=शीघ्र) नितु (ल० प० क० ६८) तदपगा (ल० प० क० ५६) जब जब (छि० वार्ता० १२८) तबहूँ (गो० वार्ता तब तक)

पुनि (प्र०च० २८) बड़ी बार (प्र० च० ३२) नित-नित (प्र० च० १३१) फुरि फुरि (वै० प० ४) बहुरि (छि० वार्ता १२८) कबहीं (छि० वार्ता १२८) आजु (गी० मा० ५५) तब हीं (गी० मा० ६१) अब हीं (गी० मा० ६१) अंतर (छी० वा० १) अब पुनि (छी० वा० १) तत्खिन (छी० वा० ४) अति (छी० वा० ६)

२—स्थानवाचक

तँह (प्र० च० २६) नीराळौ (ह० पु०=अलग) भीतर (ह० पुराण) पास (ल० क० ४) तिहाँ (ल० प० क० ८) ठिग (ह० पु० ६) आगे (पं० बे० १०) ठौर ठौर (गो० वार्ता ७) ऊपर (गी० मा० २१) कहाँ (गी० मा० ३२) तहाँ (गी० मा० ३२)।

३—रीतिवाचक

मांति (प्र० च० १७) किमि (ह० पुराण) ऐसे (ल० क० १२) यहूँ (छि० वार्ता १२०) क्यु (छि० वार्ता १८२) नीके (गी० मा०=अच्छी तरह) तैसे (गी० मा० १०) ऐसे (गी० मा० ३०) कहाँ यूँ (छि० वार्ता १३६)।

४—निषेधवाचक

नहिं (प्र० च० २) न (प्र० च० ११) नाहीं (प्र० च० १०८) म (प्र० च० ३०१) ना (गी० मा० ३६) जिन (गी० मा० २१)।

५—[illegible]

[illegible] (प्र० च० ११७) [illegible] (ल० प० १) [illegible] (गी० मा० [illegible])

६—[illegible]

[illegible] (प्र० च० १३६) [illegible] (ल० प० क० ६८< [illegible])

७—केवलार्थ

एकै (गी० भा० १७ = एकही) किण ही (छी० वा० १)

८—विविध

वह (गी० भा० = यरन्) = वह मल वास (तुलसी)

६—परिमाण वाचक

मकु (प्र० च० १ = थोड़ा) बहु (ह० पु०) घणै (ह० पु० = अधिक) घणी (पं० वे० ६) इतनी (गी० भा० ४६) कछू (गी० भा० ५८)।

१०—निमित्तवाचक

तो (प्र० च० १३८) तउ (ल० प० क० ११) पै (गी० भा० १४) तौ (गी० भा० ३०)।

११—उद्देश्यवाचक

ज्यु (ह० पु० १ = जो) तइ (पं० वे० ४) जौ (गी० भा० १६)

१२—घृणासूचक

धिक धिक (छी० वा० १३)

१३—करुणाद्योतक

हा भ्रिग, हा भ्रिग (ह० पुराण) हा हा दैव (छी० वा० ३)

रचनात्मक प्रत्यय—

§ ३४३. इस प्रकरण में हम उन रचनात्मक प्रत्ययों पर विचार करना चाहते हैं जो प्राचीन ब्रजभाषा में मध्यकालीन आर्यभाषा स्तर से विकसित होते हुए आये अथवा जो इस भाषा में नवीन रूप से निर्मित हुए। पिछले प्रकार के रचनात्मक प्रत्यय वस्तुतः कुछ टूटे-फूटे (Decayed) शब्दों से बनाए गए।

अन— प्रत्यय प्रायः क्रियार्थक संज्ञाओं के निर्माण में प्रयुक्त होता है। करण, गमन आदि। उदाहरण के लिए देखिये § ३३६, लावण (ल० प० क० ३)

–अनिहार–रावणिहारा (छी० वा० ४) इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति मध्यकालीन अनिय प्रा० नी० <अनिक + हार <प्रा० धार से हुई है। (देखिये उक्ति व्यक्ति स्टडी § ४६)

–आर– अंधिआर (ह० पु० <अंधकार) जूझारु (गी० भा० ३६ <युद्धकार)

–कार– भुणकार (ल० प० ५५)

–ई– नयनी (ल० प० क० १२ <नयनिका) गुनी (गी० भा० २ <गुणिक) इक या इका > ई। स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों प्रकार के विशेषण रूपों में प्रयुक्त होता है।

–वाल–वार–भुवाल (वै० प० <भूपाल) रखवालण (पं० वे० ६ <रक्षपाल) रखवारु (गी० भा० ३६ <रक्षपाल) पाल > वार।

–वाल– अगरवाल (प्र० च० ७०२)।

वाल या वाला परवर्ती प्रत्यय है जिसका विकास संस्कृत-पाल से ही माना जाता है किन्तु यह प्रत्यय जातिबोधक शब्दों में लगने के कारण प्राचीन अर्थ से किंचित् भिन्न हो गया है।

–ली– अकली (ह० पुराण) पाछली (रा० वार्ता १४) पहली (स्त्रीलिंग) (रा० वार्ता ४०)।

–वान– भगवाण (ल० प० क० ५६)।

–वो–ओ– वधावउ = (वधावो, ल० प० ६२)

–एरो– चितेरौ (छि० वार्ता १२७)

–नी– गुर्विनी (१३८ < गर्विणी)

–अप्पण– मित्तप्पण (छी० वा० १२) विचक्षणउ (छी० वा० ४७) यह अपभ्रंश का पुराना प्रत्यय है। इसी से परवर्ती ब्रज का पन प्रत्यय बनता है।

–वे– क्रियार्थक संज्ञा बनाने में इस प्रत्यय का प्रयोग होता है। भरिवे (रा० वार्ता १७) देवै (रा० वार्ता २७)।

–यर < कर–गुनियर (गी० भा० २१ गुणकर) डा० भायाणी ने सन्देशरासक में इस यर प्रत्यय के विवरण के प्रसंग में यह लिखा है कि इसी से ब्रजभाषा का एरो प्रत्यय जो चितेरो में दिखाई पड़ता है, विकसित हुआ (सन्देशरासक §६२)।

प्राचीन ब्रज-काव्य

प्रमुख काव्य धाराएँ

§ ३४४. ब्रजसाहित्य के अनुसन्धित्सु और विचारवान पाठक के सामने अष्टछाप के भक्त कवियों से लेकर रीतिकाल के स्वच्छन्दतावादी घनानन्द-द्विजदेव तक के कवियों की रचनाओं में अन्तःप्रवाहित मूल-काव्य-चेतना के पारम्परिक विकास और उनके उद्गम स्रोतों के अन्वेषण का प्रश्न प्रायः उठता है। यह प्रश्न केवल ब्रज-साहित्य तक ही सीमित नहीं है। मध्यकाल की दूसरी विभाषाओं अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि के साहित्य विवेचन के लिए भी ऐसे प्रश्नों का समाधान आवश्यक हो जाता है। बहुत दिनों तक हिन्दी के आलोचक भक्ति, रीति तथा ऐतिहासिक स्तुतिपरक काव्यों की अन्तश्चेतना की तलाश करते आ रहे हैं और हिन्दी के भक्ति-रीति साहित्य की प्रवृत्तियों के विकास की सारी प्रेरणा संस्कृत साहित्य से ही प्राप्त हुई, ऐसा समझते रहे हैं। भागवत, गीतगोविन्द भक्ति के विकास के लिए उपजीव्य ग्रन्थ माने जाते हैं, उसी प्रकार रीतिकालीन अलंकृत शृङ्गार-मुक्तकों के लिए प्राचीन शृङ्गार शतकों की शरण लेनी पड़ती रही है। दसवीं शताब्दी तक के संस्कृत साहित्य को सोलहवीं शताब्दी में उद्भूत हिन्दी साहित्य से जोड़ते समय बीच के काल-व्यवधान को नजरअन्दाज कर जाने में उन्हें कभी चिन्ता नहीं होती थी।

अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने के बाद इस मध्यवर्ती व्यवधान को मिटाने का प्रयत्न अवश्य हुआ। राजस्थानी, ब्रज, अवधी आदि भाषाओं में लिखे साहित्य की प्रवृत्तियों और उनमें गृहीत काव्य रूपों को अपभ्रंश की काव्य-धाराओं और शैली विधियों से जोड़ने का प्रयत्न होने लगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश काव्य को हिन्दी का 'प्राणधारा' कहा। बहुत से आलोचक अपभ्रंश काव्य का प्रभाव केवल आदिकाल के साहित्य तक ही सीमित कर

देते हैं। उनके मत से अपभ्रंश के वीरकाव्य का प्रभाव आदिकाल या वीरगाथा काल तक ही सीमित हो जाता है। इसीलिए उक्त मत के मानने वाले विद्वान् भक्तिकाव्य को आकस्मिक उदय का परिणाम बताते हैं।

सच पूछा जाये तो अपभ्रंश का साहित्य भी स्थूल अर्थ में हिन्दी साहित्य के ठीक पहले की पृष्ठभूमि नहीं है, अर्थात् अपभ्रंश साहित्य शुद्ध अर्थों में प्राकृत प्रभावापन्न तथा उसी से परिचालित होने के कारण हमारे परवर्ती साहित्य के सभी पक्षों की प्रवृत्तियों के विकास का सही संकेत नहीं दे सकता। अपभ्रंश साहित्य का विकास नवीं शताब्दी तक पूर्णतः कुंठित हो चुका था। जैन काव्यों में रूढ़ियों की भरमार थी, वहाँ जीवन का स्पन्दन कम सुनाई पड़ता है, पौराणिकता का संभार अधिक है। ६वीं शताब्दी के बाद नवीन आर्यभाषाओं के उदय के साथ ही संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश, या अवहट्ठ के साहित्य में एक बार पुनः जन-जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। इस साहित्य में शृंगार, शौर्य, रोमांस, नीति, रूढ़िविरोधिता आदि की विकासशील भावनायें प्रबुद्ध होने लगी थीं। अभाग्यवश इस मध्यन्तर संक्रान्ति कालीन साहित्य के सभी पक्षों का पूर्ण अध्ययन नहीं हो सका है। यदि यह अध्ययन पूर्णता और निष्पक्षता से किया गया होता तो आचार्य शुक्ल को शायद यह न कहना पड़ता कि 'आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच-प्रथम डेढ़-दो सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता। धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनायें दोहों में मिलती हैं, इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है, तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं।'[1] शुक्ल जी के इस निष्कर्ष का परिणाम यह हुआ कि हमने भक्तिकाल को आकस्मिक रूप से उदित माना याकि उसकी परम्परा जोड़ने का प्रयत्न किया तो संस्कृत (भागवत, गीतगोविन्दादि) के अलावा और कोई रास्ता न सूझा। रीतिकालीन काव्य की उद्दाम चेष्टाओं को भक्तिकाल के पिछले कवियों सूरादि की रचनाओं से जोड़ा गया जिन्होंने भगवत्प्रेम पूर्ण शृंगारमयी अभिव्यञ्जना से एक ओर जनता को रसोन्मत्त किया वहीं उसी के आधार पर आगे के कवियों ने शृंगार की उद्दामकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया। ऐसे स्थान पर यह पूछना शायद अनुचित न होगा कि क्या भक्त कवियों ने भक्ति के साथ शृंगार को मिलाने की एकदम मौलिक चेष्टा की। क्या उसके पहले भक्ति और शृंगार का समवेत रूप कहीं नहीं दिखाई पड़ता।

इस प्रकार की गड़बड़ी आरंभिक ब्रजभाषा काव्य के पूर्ण आकलन के अभाव के कारण उत्पन्न हुई है। यदि प्राप्त साहित्य—जो बहुत विस्तृत नहीं है—की पूरी समीक्षा की जाये, रचनाओं के भाव तथा विचार तत्त्व की सही जाँच-परख हो तो मेरा विश्वास है कि उसमें भक्ति, रीति तथा वीर काव्य के वे सभी तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान मिलेंगे, जिन्होंने आगे चल कर ब्रजभाषा में इस प्रकार की प्रवृत्तियों को पूर्ण विकसित किया। ब्रजभाषा में यद्यपि जैन काव्य की धारा का पूर्ण विकास नहीं हुआ जो कुछ हुआ भी उसे हिन्दी के इतिहासकारों ने बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना, किन्तु बनारसीदास जैन जैसे उत्कृष्ट के ब्रजभाषा

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ संस्करण, पृ० ३

कवियों को भुला देना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। बनारसी-विलास[1] में प्रकाशित उनकी स्फुट रचनायें तथा अर्द्धकथानक जैसे आत्मकथा काव्य इस कवि के अक्षुण्ण गौरव के प्रमाण हैं।

मैं इस अध्याय में सैद्धान्तिक ऊहापोह के प्रश्नों को छोड़कर केवल परवर्ती ब्रजभाषा काव्य की उन मुख्य प्रवृत्तियों के उद्गम और विकास का विश्लेषण करना चाहता हूँ जिनके तत्व पूर्ववर्ती व्रज साहित्य में वर्तमान हैं।

जैन काव्य

§ ३४५. अपभ्रंश काव्य के प्रकाश में आ जाने के बाद धीरे-धीरे हिन्दी के आलोचक का ध्यान अपने साहित्य की पृष्ठभूमि में वर्तमान इस गौरवमयी साहित्य परंपरा के विश्लेषण तथा परवर्ती हिन्दी साहित्य से इसके घनिष्ट संबन्ध और तारतम्य के निरूपण की ओर आकृष्ट हुआ है। सिद्धों की अपभ्रंश या परवर्ती अपभ्रंश में लिखी रचनाओं को संत काव्य के साथ समन्वित करके उनके परिपार्श्व में विचार-वस्तु और काव्य-रूप दोनों के अध्ययन का प्रयत्न हुआ है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, स्व० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल तथा हिन्दी के अन्य कई विद्वानों ने नाथ सिद्ध साहित्य के प्रकाश में संत-काव्य के आकलन और मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। डा० द्विवेदी ने संत काव्य को मुसलमानी आक्रमण से उत्पन्न तथा उसी से प्रभावित बतानेवाले विद्वानों की धारणा का उचित निरास करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों का नाथ पंथी योगियों के पदादि से सीधा संबन्ध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या पद्य, क्या भाषा, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द—सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्ग दर्शक हैं। कबीर की ही भाँति वे साधक नाना मतों का खंडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाते थे, दोहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे।'[2] उपर्युक्त विद्वानों के इस प्रकार के प्रयत्नों का परिणाम है कि आज हिन्दी की अत्यंत प्राणवान संत काव्य-धारा अपने सही परंपरा में प्रतिष्ठित हुई और हम संत वाणियों की इस अविच्छिन्न धारा को उसके सभी रूपों के साथ समझने में समर्थ हो पाते हैं।

सिद्धों के युग में ही बल्कि उनसे कुछ और पहले से ही एक दूसरी धार्मिक काव्य-धारा का भी समानान्तर प्रवाह दिखाई पड़ता है जिसे हम जैन काव्य धारा कह सकते हैं। अपभ्रंश के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में अधिकांश जैन-साहित्य से संबन्धित हैं। इनमें बहुत थोड़े से प्रकाशित हो चुके हैं, बाकी अब भी जैनियों के मंदिरों और भांडारों में बेष्टित ही पड़े हैं। जैन-काव्य के विश्लेषण-परीक्षण का प्रयत्न हो रहा है। कुछ अत्यंत प्रसिद्ध काव्य ग्रंथों जैसे स्वयंभू के 'पउमचरिउ' आदि से हिन्दी की रचनाओं के संतुलनात्मक अध्ययन का प्रयास भी दिखाई पड़ता है किन्तु जैसा श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'हिन्दी आदि लोक भाषाओं की जननी अपभ्रंश में जैन विद्वानों ने बहुत अधिक साहित्य निर्माण किया है पर अभी तक उसके प्रकाशन

---

१. बनारसी विलास, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, तीसरी आवृत्ति, पृ० ३१

थी तो कौन कहे हमें उसकी पूरी जानकारी भी नहीं है' उक्त लेखक ने हिन्दी वालों की इस अकर्मण्यता के लिए बहुत कोसा है जो उचित भी है। यह सत्य है कि हिन्दी के विद्वानों ने जैन साहित्य को उसका प्राप्य गौरव प्रदान नहीं किया। स्वयंभू के पउमचरिउ के कुछ स्थलों की तुलना तुलसी-मानस के उन्हीं अंशों से करके, इन दोनों के साहित्य के परस्पर संबन्धों की चर्चा करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने इस दिशा में काम करने वालों को प्रेरणा दी थी किन्तु आज भी जैन-साहित्य का अध्ययन ऊपरी स्तर पर काव्य रूपों छन्द, कडवक, पद्धड़िया, चरित कथा आदि तक ही सीमित दिखाई पड़ता है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने बहुत पहले जैन साहित्य को अपने इतिहास से यह कह कर बहिष्कृत कर दिया था कि 'इसमें कई पुस्तकें जैनों के धर्म तत्व निरूपण संबन्धी हैं जो साहित्य कोटि में नहीं आतीं।'[1] शुक्ल जी का प्रभाव और व्यक्तित्व इतना आच्छादक था कि उनकी इस मान्यता को बहुत से विद्वान् आज भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। शायद ऐसी ही मान्यता से किंचित् रुष्ट होकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनायें साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी कभी शुक्ल जी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।'[2] आदिकाल की यत्किंचित् प्राप्त सामग्री में उस काल के जैन लेखकों की रचनायें हमारे लिए अत्यन्त मूल्यवान प्रमाणित हो सकती हैं किन्तु ये रचनायें केवल तत्कालीन भाषा के समझने या कुछ प्रसिद्ध काव्य रूपों के लक्षण-निर्धारण आदि में ही सहायक नहीं हैं, जैसा कि प्रायः माना जाता है, बल्कि यदि इस साहित्य की अन्तर्वर्ती भावधारा को भी ठीक से समझा जाये तो तत्कालीन-जन-जीवन को समझने और उससे अनुप्राणित होने में सहायता मिलेगी, जिसका अत्यंत मार्मिक, विशद और यथार्थ चित्रण इन तथाकथित धार्मिक रचनाओं में बड़ी पूर्णता के साथ हो सका है। यही नहीं इस साहित्य में चित्रित उस मनुष्य को, जिसने अपनी साधना से, कष्टों और कठिनाइयों को झेलते हुए, अपने शरीर को तपश्चर्या से सुखाकर, नाना प्रकार की अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर तत्कालीन मानव जाति के सांसारिक और पारलौकिक सुख के लिए अपने को होम कर दिया, हम अपनी पृथ्वी पर चलते फिरते और हँसते-रोते भी देख सकते हैं।

§ ३४६. अपभ्रंश भाषा में लिखा जैन साहित्य बहुत महान् है। जिस साहित्य ने स्वयंभू, पुष्पदन्त और हेमचन्द्र जैसे व्यक्तियों को उत्पन्न किया वह अपनी महत्ता की स्वीकृति के लिए कभी परमुखापेक्षी नहीं हो सकता। राहुल जी ने तो स्वयंभू की अभ्यर्थना करते हुए यहाँ तक लिख दिया है कि हमारे इसी युग में (सिद्ध-सामन्त युग) नहीं बल्कि हिन्दी कविता के पाँचों युगों—सिद्ध सामन्त युग, सूफी युग, भक्त युग, दर्बारी युग और नव जागरण युग के जितने भी कवियों को हमने यहाँ संग्रहीत (काव्यधारा पाँच भागों में निकलने वाली है) किया है उनमें यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्वयंभू सबसे बड़ा कवि था।[3] जैन साहित्य के

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० ४

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२ ईस्वी, पृ० ११

३. हिन्दी काव्य धारा, प्रथम संस्करण, १९४५, प्रयाग, पृ० ५० ।

विषय में कुछ विद्वानों ने एक अजीब पूर्वाग्रहीत धारणा बना ली है कि यह साहित्य स्थूल, धर्माचार, स्तवन-आराधना, विरागोपदेश तथा नग्नकाय जनों के रूढ़ आचरणों से आक्रान्त है। इसीलिए न इसमें रस है न भाव न जीवन का स्पन्दन। उनकी यह धारणा तो स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे अतिप्रसिद्ध कवियों की एकाध रचनाओं से या उनके अंशों से ही, कम से कम जिन्हें देखने की आशा अवश्य की जाती है, पूर्णतः निर्मूल प्रमाणित हो जानी चाहिए। जिसने स्वयंभू रामायण में पति द्वारा मिथ्या लांछनों से प्रताड़ित सीता की अद्भुत करुणा—दर्प मिश्रित मूर्ति को देखा है जिसने सीता के मुख से सुना है :

पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंत वि
खडु लक्कडु सलिल वहंतिहे पउराणियहे कुलग्गायहे
रयणायरु खार इ देन्तउ तो वि ण थक्कइ णं णइहे

'पुरुष गुणवान् होकर भी कितना हीन होता है, वह मरती हुई पत्नी का भी विश्वास नहीं करता। वह उस रत्नाकर की तरह है जो नदियों को केवल खार देता है, किन्तु उनसे छोड़ा नहीं जाता।'

इस सीता को कौन भूल सकता है! 'राम के हाथों मुक्ति पाने वालों का जब हमारे देश में नाम भी नहीं रह जायेगा, तब भी तुलसी की कद्र होगी, स्वयंभू के जैन धर्म का अस्तित्व भी न रहने पर वह नास्तिक भारत का महान् कवि रहेगा। उसकी वाणी में हमेशा वह शक्ति बनी रहेगी कि कहीं अपने पाठकों को हर्षोत्फुल्ल कर दे, कहीं शरीर को रोमांचित कर दे और कहीं आँखों को भींगने के लिए मजबूर कर दे।'[1]

स्वयंभू का यह प्रसंग केवल इस परितोष के लिए उद्धृत किया गया कि जैन काव्य में केवल धर्मोपदेश नहीं है, केवल निर्ग्रन्थ-आचरण का सन्देश नहीं है, वहाँ काव्य भी है तथा मर्म को छू देने वाली पीड़ा भी।

§ ३५७. हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत केवल वे ही जैन रचनायें परिगृहीत की गई हैं जो परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश यानी अवहट्ठ तथा ब्रजभाषा में लिखी गई हों। दूसरे वर्ग की रचनाओं की संख्या ज्यादा नहीं है क्योंकि इसका बहुत बड़ा भाग ज्ञात-अज्ञात भांडारों में दबा पड़ा है। फिर भी जितनी रचनाओं की चर्चा इनके ऐतिहासिक कालानुक्रम और तिथिकाल आदि के परिचय के सिलसिले में हमने पिछले अध्याय में की है, वे भी कम नहीं हैं। आरम्भिक ब्रजभाषा में लिखे जैन काव्य की मुख्य प्रवृत्तियों और काव्योपलब्धियों का पूरा संकेत तो इनसे मिलता ही है।

जन-जीवन का चित्रण

ब्रजभाषा—जैन काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है जीवन के यथार्थ चित्रण की। लोगों को भ्रम है कि जैन-साहित्य केवल प्राचीन पौराणिक कथाओं के जैनोद्देश्य-परक रूपान्तरों के साथ ही सामन्त और श्रेष्ठी जीवन से सम्बन्धित व्रत-उपवासादि की कहानियों तक ही सीमित है। सामन्तवादी संस्कृति के प्रभावों से तो इस काल का कोई भी साहित्य मुक्त नहीं हो सका

1. वही पृ० ५४

है। १४वीं १५वीं के किसी भी साहित्य में सामन्तवादी संस्कृति का प्रभाव किसी न किसी रूप में वर्तमान रहा है, किन्तु सामन्ती या सेठी जीवन के बाह्य वैभव और प्रदर्शन के भीतर सामान्य मनुष्य के जीवन की स्वच्छ बहने वाली धारा को जैन कवियों ने कभी अवरुद्ध नहीं किया। सामन्ती जीवन में भी वे सामान्य जन जीवन के अपराहत आदर्शों, विचार-पद्धतियों, विश्वासों और मान्यताओं को प्रभावशाली रूप में चित्रित करने में सफल हुए हैं। राजों महाराजों की कहानियाँ लिखते हुए भी जैन कवि पुष्पदंत को याद रख सकते थे जिन्होंने बड़े गर्व से कहा था कि वल्कल धारण करके गिरिकंदराओं में निवास करते हुए, वन के फल-फूल खाकर, दारिद्र्य से शरीर को कष्ट देकर जीवन बिता देना श्रेयस्कर है किन्तु किसी राजा के सामने नतमस्तक होकर अभिमान का खण्डन कराना नहीं।

> वक्कल णिवसणु कंदर मंदिरु, वणहल भोयणु वर तं सुन्दर
> वर दालिद्द सरीरहु दण्डणु, णउ पुरिसहु अहिमाण विहंडणु

आचार्य शुक्ल ने जायसी के विरह-वर्णन की इतनी प्रशंसा इसलिए की थी कि रानी नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह-काव्य छोटे-बड़े सबके हृदय को सामान्य रूप से स्पर्श करते हैं। 'प्रद्युम्न चरित' के कवि सधारु अग्रवाल ने भी वियोग का एक चित्रण प्रस्तुत किया है। किन्तु यह पति-वियोग नहीं पुत्र-वियोग है। रानी रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न को एक दैत्य चुरा कर ले जाता है। पुत्र-वियोग से विदित माँ के हृदय की वेदना को कवि आत्मग्लानि के दर्द से और भी घनीभूत कर देता है। रानी सोचती है कि यह पुत्र वियोग मुझे क्यों हुआ :

> नित नित झीखइ, विलखी खरी, काहे दुखी विधाता करी।
> इकु धावइ अरु रोवइ वयण, आंसू बहत न थाके नयण ॥
>
> की मइ पुरिष विछोही नारि, की दव घाली वणहं मझारि।
> की मइँ लोग तेल-घृत हरयउं, पूत संताप कवण गुण परयउं ॥

तेल-घी चुराकर बच्चे का पालन-पोषण करनेवाली नारी के पुत्र-वियोग की अनुभूति रानी के हृदय को विदीर्ण कर देती है। वह सोचती है कि क्या उसने किसी पुरुष को उसकी पत्नी से अलग किया था, किसी वन में आग लगा दी थी, आखिर यह पुत्र-वियोग का संताप उसे क्यों मिला। अपनी जीविका के लिए किसी के बच्चे की सेवा-शुश्रूषा करने वाली गरीब नौकरानी तेल-घी में से कुछ काट-कपट करके अपने बच्चे का पालन-पोषण करे और अचानक किसी कारणवश उसके बच्चे की मृत्यु हो जाये तो कितनी बड़ी आत्मग्लानि और पीड़ा उसके मन में होती होगी।

प्रद्युम्न-चरित में लेखक ने और भी कई स्थलों पर सामान्य जीवन को बड़ी गहराई से चित्रित किया है। वे समाज के प्रकाश-पूर्ण और कलुष दोनों ही पक्षों का चित्रण समान भाव से करते हैं। प्रद्युम्न को पुत्र की तरह पालनेवाली कालसंवर की रानी कनकमाला उसके तरुण होने पर कामान्ध होकर उसकी तरफ आकृष्ट होती है। रानी की आँखों में चमकने वाले इस घृणित रूप को पहचानने में कवि नहीं चूकता।

कवि ठक्कुरसी ने अपनी गुणवेलि अथवा पंचेन्द्रिय बेलि में पाँचों इंद्रियों के अति व्यापारों से उत्पन्न आचरण की ओर संकेत करते हुए बड़े व्यंगपूर्ण ढंग से इनकी निन्दा की है। स्वाद के वशीभूत होकर आदमी क्या नहीं करता—

केलि करन्तो जम्म जलि गाल्यो लोभ दिखालि
मीन मुनिष संसार सर सों काढ्यो धीवर कालि
मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तहं दीठै
इहि रसना रस के घालै, थल आई मुवै दुष सालै
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो
इहि रसना रस के ताई, नर मुषै बाप गुरु भाई
घर फोड़े मारै बाटा, नित करै कपट घन घाटा
भुवि भूठ साच बहु बोलै, घरि छाँडि देसाउर डोलै
कंवलिय पइठो भंवर दलि घ्राण गंध रस रूद
रैनि पर्या सो संकुयौ सो नीसरि सक्यो न मूढ़

अलंकरण को ही काव्य मानने वाले लोगों को शायद टक्कुरसी की इस रचना में उतना रस न मिले किन्तु सीधी सी बात को सहज किन्तु प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करना भी साधारण कौशल नहीं है। वैसे भी जो अलंकारप्रेमी हैं वे 'मीन-मुनिष' के सांग रूपक को अवश्य सराहेंगे। तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सीधे अभिधात्मक शब्दों के चयन से भी ताकत पैदा की जा सकती है। इन छोटे छोटे साधारण वाक्यों में सत्य की गहराई उतर गई है।

छीहल कवि इस संसार की विचित्र गति को देखकर अपना क्षोभ दबा नहीं पाते। उन्होंने संपत्तिवान् व्यक्ति के चतुर्दिक् मंडराने वाले मिथ्या प्रदर्शन को देखा था, धन के प्रभाव से उस निकृष्ट व्यक्ति में चाहे जितने भी गुणों की प्रतिष्ठा देखी जाये किन्तु असलियत कभी छीहल से छिपी न रह सकी।

होइ घनवंत आलसी ताहु उद्दमी पयंपइ
क्रोधवंत अति चपल तउ थिरता जंग जंपइ
पत्त कुपत्त नहिं लखइ कहइ तसु इच्छाचारी
होइ बोलण असमत्थ ताइ गुरुअत्तण भारी
श्रीवंत रूप अवगुण सहित ताहि लोग गुणकिरि ठवइ
छीहल्ल कहै संसार मंहि संपति को सहु को नवइ

इन वाक्यांशों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जैन कवि न तो अपने पौराणिक कथानकों में ही बँधे रहे और न तो उन्होंने सामन्ती संस्कृति के चित्रण में जन-सामान्य को भुला ही दिया। जैन काव्य में विराग और कष्टसहिष्णुता पर बहुत बल दिया गया है, यह भी सच है कि इस प्रकार सदाचरण के नीरस उपदेश काव्य को उचित महत्त्व नहीं प्रदान करते किन्तु यह केवल एक पक्ष है, अपने आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देते हुए भी, पारलौकिक सुखों के लिए अति सचेष्ट दिखाते हुए भी जैन कवि उन लोगों को नहीं भुला सका जिनके बीच वह जन्म लेता है। उसके मन में अपने आस-पास के लोगों के सुखी जीवन के लिए अपूर्व सदिच्छा भरी हुई है, वह सृष्टि की सारी सम्पत्ति जनता के द्वार पर लुटा देना चाहता है।

कम्पजुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला।
चञ्चल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला।
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा।
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ सखंतूरा।
तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थवक्का।
कुसुम बाण निय अमिय कुंभ किर थापण मुक्का॥

प्रकम्पित कर्णयुगल मानो कामदेव के हिंडोले थे, चञ्चल ऊर्मियों से आपूरित नयन कचोले, सुन्दर चिपैले फूल की तरह प्रफुल्लित कपोल-पालि, शंख की तरह सुडौल सुचिक्कण निर्मल कंठ—उसके उरोज शृंगार के स्तवक थे, मानो पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्वविजय के लिए अमृत कुम्भ की स्थापना की थी।

नव यौवन से विहसती हुई देह वाली, प्रथमप्रेम से उल्लसित वह रमणी अपने सुकुमार चरणों के आशिंजित पायल को रुनझुन से दिशाओं को चैतन्य करती हुई जब मुनि के पास पहुँची तो आकाश में कौतुक-प्रिय देवताओं की भीड़ लग गई। वेश्या ने अपने हाव-भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु मुनि का हृदय उस तप्त लौह की तरह था जो उसकी बात से विंध न सका। जिसने सिद्धि से परिणय कर लिया और संयम श्री के भोग में लीन है, उसे साधारण नारी के कटाक्ष कहाँ तक डिगा सकते हैं—

मुनिवइ जंपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा।
मनु लीनउ संयम सिरि सौं भोग रमेवा॥

यह है जैन कवि की अनासक्त रूपासक्ति। वह तिल तिल जुटा कर सौन्दर्य के जिस ऐन्द्रजालिक माया-स्तूप का निर्माण करता है, उसी को एक ठेस से बिखरा देने में उसे कभी संकोच नहीं होता। प्रेम के प्रसंगों में ऋतुवर्णन का प्रयोग प्रायः होता है। यह वर्णन उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उद्दीपनगत प्रकृति-चित्रण प्रायः प्रथा-प्रथित रूढ़ियों से आक्रान्त होता है। उपकरण प्रायः निश्चित हैं। उन्हीं के आधार पर प्रकृति को इतना आकर्षक और रुचिकर बनाना है कि वह निश्चित भाव को उद्दीप्त कर सके। ऐसी अवस्था में प्रायः वस्तुओं को नामपरिगणना तो हो जाती है, किन्तु उद्दीपन का कार्य भी पूरा नहीं होता यानी वह प्रकृति-वर्णन सहृदय के मन को रंच-मात्र भी नहीं छू पाता। जिनपद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु में वर्षा का वर्णन किया है। यह वर्णन वस्तु-परिगणना पद्धति का ही है इसमें संदेह नहीं, किन्तु शब्दों का चयन कुछ इतना उपयुक्त है कि प्रकृति का एक सजीव चित्र खड़ा हो जाता है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग प्रकृति के कई उद्दाम उपकरणों को रूपाकार देने में सहायक हुए हैं।

झिरि झिरि झिरिमिर झिरिमिर ए मेहा वरसंति।
खलहल खलहल खलहल ए वादला वहंत॥
झब झब झब झब झब झब ए बीजुलिय झंबकइ।
थर हर थर हर थर हर ए विरहिणि मणु कंपइ॥१॥
महुर गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गांजन्ते।
पंच बाण निज कुसुम बाण तिम तिम सांजन्ते॥

जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमल विगमावइ
तिमि तिमि कामिय चरण लगि निज रमणि मनावइ ।७।

उसी प्रकार नेमिनाथ चौपई में नेमि और राजमती के प्रेम का अत्यंत स्वाभाविक और संवेद्य चित्रण किया गया है। पारिवारिक प्रेम की इस पवित्र वेदना से किस सहृदय का मन द्रवीभूत नहीं हो जाता। मधुमास के आगमन पर पवन के झकोरों से वृक्षों के जीर्ण पत्ते टूट कर गिर पड़ते हैं मानो राजल के दुःख के वृक्ष भी रो पड़ते हैं। चैत में नव नव वनस्पतियां अंकुरित हो जाती हैं, चारों ओर कोयल की टहकार गूंजने लगती है, कामदेव अपने पुष्पधनु से राजल के हृदय को वेधने लगता है।

फागुण वागुणि पन्न पडन्त, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्त
चैतमास वणसइ पंगुरइ, वणि वणि कोयल टहका करइ
पंच बाण करि धनुष धरेइ, वेन्धइ माढी राजल देइ
गइ सखि मातेड माम वसन्त, इणि पिक्खिजइ जइ हुइ कन्त

किन्तु माधवी क्रीड़ा के लिए लालायित राजल का पति नहीं आता। ज्येष्ठ की उत्तप्त पवन धू-धू कर जलने लगती है, नदियां सूख जाती हैं, चंपा-लता को पुष्पित देख कर नेह-रंगी राजल बेहोश हो जाती है—

जिट्ठ विरह जिमि तप्पइ सूर, इण वियोग सुक्खिड नइ पूर
पिक्खिड फुल्लिड चंपइ विल्लि, राजल मूर्छी नेह गहिल्लि

जैन कवि पौराणिक चरित्रों में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ही स्थापना करता है। उसके चरित्र अवतारी जीव नहीं होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आतंक से कभी भी कृत्रिम नहीं हो पाते। वे एक ऐसे जीवात्मा का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो अपनी आंतरिक शक्तियों को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिये निरन्तर सचेष्ट है। उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण में सांस लेती है, किन्तु पंक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड़ सत्ता सांसारिक वातावरण से अलग नहीं है। इसीलिए संसार के अप्रतिम सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहने वाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है।

व्यंग-विनोद तथा नीति-वचन

§ ३४६. कष्ट, दुःख, विरक्ति के तथाकथित आतंक से पीड़ित कहे जाने वाले जैन-काव्य में जीवन के हल्के पहलुओं से सम्बद्ध हास्य व्यंग-विनोद की अवतारणा भी बहुत ही सफलता से की गई है। नारद हास्य के प्राचीन आलम्बन हैं। सधारु अग्रवाल ने अपने प्रद्युम्नचरित में नारद का जो भव्य रूप खींचा है वह तुलसी के नारद-मोह से तुलनीय हो सकता है। नारद रनिवास में पहुँचे तो सत्यभामा शृङ्गार कर रही थी, रूपगर्विता नारी के दर्पण में नारद की छाया प्रतिबिम्बित हो गई, वैसे उन्होंने पीठ-पीछे खड़े होकर अपने को छिपाने की बहुत कोशिश की थी।

सहं सिंगार सतभाम करेइ, नयण रेख कज्जल संवरेइ
तिलक ललाट ठवइ मसिलाई, पण नारद रिसि गो तिह ठांई

नारद हाथ कमण्डल धरई, काल रूप अति देखत फिरई
सो सतिभामा पाछे ठियउ, दरपन मांहि विरूप देखियउ
देखि कुढोया कियउ कुताल, मात करना आयेउ वैताल

रूपगर्विता सत्यभामा के इस व्यंग्य से नारद तिलमिला उठे। बड़े-बड़े ऋषीश्वर जिन्हें शीश झुकाते, सुरेश इन्द्र जिनके चरणों को नन्दन-पुष्पों से अर्चित करता उसी को एक नारी ने वैताल कह दिया। नारद क्रोध के मारे पागल हो गए :

बिगहु तूर जु नाव न चलई, ताकों तूर आणु जु मिलई
इकु स्याली इकु बीछी खाइ, इक नारद इकु चल्यो रिसाइ

एक तो स्याली (शृगालिनी) ऐसे ही चिल्लाने वाली, दूसरे यदि उसे बिच्छू डंस ले, एक तो नारद ऐसे ही वाचाल, दूसरे कहीं क्रोध में हों तो क्या कहना। श्रीगिरिपर बैठ कर उस मानिनी नारी के गर्व को ध्वस्त करने के उपाय सोचने लगे। बदला ले लिया और कृष्ण का विवाह रुक्मिणी से कराकर सत्यभामा के सिर पर सौत ला दी।

प्रद्युम्न चरित्र में व्यंग्य का एक दूसरा स्थल भी देखने योग्य है। प्रद्युम्न अपनी माँ से मिलकर कृष्ण को छकाने के लिए षड्यंत्र करता है। यादवों की सभा में जाकर उसने पांडव और यादव वीरों से रक्षित कृष्ण को ललकारा—अरे यादवों और पाण्डवों से सुरक्षित कृष्ण! मैं तुम्हारी प्रियतमा को लिए जा रहा हूँ, शक्ति हो तो छुड़ाओ। कृष्ण और प्रद्युम्न की लड़ाई रुक्मिणी के मन में भय और आशंका का कारण बन रही थी, उधर प्रद्युम्न के बाणों से कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो रहे थे। प्रद्युम्न व्यंग्य से कह रहा था—

हँसि हँसि बात कहै परदमनु, सो सम नाहीं सुणों कमनु
का पहं सीखयो पौरिस हाउण, मो सम मिलिहिं तोहि गुद कउण
धनुष बाण लीने तुम तणे, तेउ रावि सके न आपणे
सो पतरिख में दीठेउँ आज, इहि पराण तेइ भुंजिउ राज
पुनि परदमनु जपइं तास, जरासंध क्यो मारिउ कांस

इस विचित्र और आत्मघाती युद्ध को चरम बिन्दु पर पहुँचने के पहले नारद ने बीच बचाव करके कृष्ण को प्रद्युम्न का परिचय कराया—कृष्ण अवसर कहाँ चूकने वाले थे, बोले! हाँ हाँ रुक्मिणी को ले जाओ, मैं नहीं रोकता। प्रद्युम्न ने गरदन झुका ली। ऐसे प्रसंगों पर कवि ने भारतीय मर्यादानुकूल विनोद का बड़ा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है।

§ ३५०. जैन काव्य नीति-वचनों का भी आगार है। इस प्रकार के विषयों पर लिखे हुए दोहे तथा अन्य मुक्तकोचित छन्द उस काल में अवश्य ही बहुत लोकप्रिय रहे होंगे। परवर्ती अपभ्रंश में लिखे हुए कुछ उपदेशात्मक मुक्तकों का संकलन जैन गुर्जर कवियों में श्री देसाई ने किया है ऐसे कुछ दोहे नीचे उद्धृत किये जाते हैं। परवर्ती व्रजभाषा तथा हिन्दी की अन्य बोलियों में प्रचलित नीतिपरक दोहों से इनकी तुलना की जा सकती है।

१—रिद्धो जे मति भालवइ पुण्यइ कुगल न वत्त
ताहं तणइ किमि आईये रे हीयडा संमत्त

अंबड चवावड

देखत ही हरसे नहीं नयनन भरे न नेह
तुलसी यहां न जाइये कंचन बरसे मेंह

तुलसी

२—साहसीय लच्छी लहइ नहु कायर पुरसाण
काने कुंडल रयण भइ कज्जल पुनु नयणाण
सीहं न जोई चंद्बल, नवि जोई घण ऋद्धि
एकलडो बहु आभिडइ जहं साहस तहँ सिद्धि

अंबड कथानक

३—उत्तर दिशि न उन्हई उन्हइ तो वरसइं
सुपुरुष वयन न उच्चरहिं, उच्चरइं तु करइं
उत्तर दिशा में बादल नहीं उठते, उठते हैं तो अवश्य बरसते हैं
सज्जन बात नहीं बोलते, बोलते हैं तो उसे अवश्य करते हैं

विशालराज सूरि के शिष्य जिनराज सूरि ने अपने संस्कृत ग्रंथ 'रूपचन्द कथा' में कुछ अवहट्ठ की रचनायें दी हैं। उनमें से कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं—

जीभइं सांचु बोलियइ राग रोस करि दूरि
उत्तम मिउं संगति करे लाभइ जिम सुख भूरि ।७।
जहां सहाय हुइ बुद्धिबल, हुइ न तिहां विणास
सूर सचे सेवा करइं रहइं अगलि जिमि दास ।।१८।।

नीति वचनों के लिए डूँगर और छीहल कवि की बावनियों को देखना चाहिए। इनके प्रत्येक छप्पय में अत्यंत मार्मिक ढंग से किसी न किसी सत्य की व्यंजना की गई है। जैनियों के नीति-साहित्य ने ब्रजभाषा के नीति साहित्य (गिरधर, वृन्द आदि के कुंडलिया साहित्य) को बहुत प्रभावित किया है।

भक्ति-काव्य

§ ३५१. ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिन्दी-काव्य धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुष सरसता और अनन्त जनता के मन को नैसर्गिक शान्ति प्रदान करने वाली दिव्य जल धारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है कि 'मध्य युग में हिन्दी के साधक कवियों ने जिस रस ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। यह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्र मिश्रित संयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

भक्तिकाल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्य मंडित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया में पला हुआ, ईसाइयत का अनुसरण बताने वाले अंशों पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डा० ग्रियर्सन, वेबर, केनेडी यहाँ तक भारतीय पंडित डा० भाण्डारकर तक ने यह प्रमाणित

---

1. पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित सुन्दर ग्रन्थावली का प्राक्कथन, सं० १९९३ ।

करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति आन्दोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डा० ग्रियर्सन ने नेष्टोरियन ईसाइयों के धर्ममत का भक्ति आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओं को उनका ऋणी साबित किया।[1] वेबर ने कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कृष्ण जन्म की कथा को ईसा मसीह की जन्म कथा से जोड़ दिया।[2] केनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबन्ध में यह बताने का प्रयत्न किया कि गूजरों से कृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है और चूँकि गूजर सीथियन जाति के हैं इसलिए उनमें प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल प्रदेश के किसी धर्म-मत से मिली होगी।[3] डा० भाण्डारकर ने इन्हीं सब मतों का जैसे एकत्र संयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि आभीर ही शायद बाल देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आये। उन्होंने भी क्राइष्ट और कृष्ण शब्द के कृष्टकृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन में यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता है तथा कंस द्वारा निरपराध व्यक्तियों की हत्या के विवरण क्राइष्ट जन्म की तत्संबन्धित घटनाओं से पूर्णतः साम्य रखते हैं। यह सब कुछ भांडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[4]

इन मतों को पढ़ने पर किसी भी विवेकवान् पुरुष को लगेगा कि इनकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वग्रह और न्यस्त अभिप्राय थे उनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानों ने संकोच नहीं किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि 'भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह परम सहिष्णु और आश्रितवत्सल रहा है दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिण हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागतवत्सल भारत ने उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नहीं था कि इन दुर्गत आश्रितों के सहधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे।'[5] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानों की धारणाओं का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बड़ा संतुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबन पूर्णब्रह्म श्री कृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय व्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।'[6]

---

१. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित, हिन्दुओं पर नेष्टोरियन ईसाइयों का ऋण शीर्षक निबन्ध।

२. इंडियन एंटिक्वैरी भाग ३-४ में उनका 'कृष्ण जन्माष्टमी' पर लेख

३. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ में प्रकाशित उनका कृष्ण, क्रिश्चियानिटी और गूजर शीर्षक निबन्ध।

४. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८-३९

५. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७

६. सूर साहित्य, संशोधित संस्करण १९५६, बम्बई, पृ० ११ तथा १६

देखत ही हरषे नहीं नयनन भरे न नेह
तुलसी वहाँ न जाइये कंचन बरसे मेंह

तुलसी

२—साहसीय लच्छी हवइ नहु कायर पुरसाण
काने कुंडल रयण मइ कज्जल पुनु नयणाण
सोहं न जोई चंद्रबल, नवि जोई धण ऋद्धि
एकलड़ो बहु भाभिडइ जहं साहस तहँ सिद्धि

भंगद कथानक

३—उत्तर दिशि न उन्हई उन्हइ तो बरसइं
सुपुरुष वचन न उच्चरहिं, उच्चरइं तु करइं
उत्तर दिशा में बादल नहीं उठते, उठते हैं तो अवश्य बरसते हैं
सज्जन बात नहीं बोलते, बोलते हैं तो उसे अवश्य करते हैं

विशालराज सूरि के शिष्य जिनराज सूरि ने अपने संस्कृत ग्रंथ 'रूपचन्द्र कथा' में कुछ अवहट्ठ की रचनायें दी हैं। उनमें से कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं—

जीभइं सांचु बोलियइ राग रोस करि दूरि
उत्तम मिउं संगति करे लाभइ जिम सुख भूरि ।७।
जहां सहाय हुइ दुद्दिवल, हुइ न तिहां विणास
सूर सये सेवा करइं रहइं अगलि जिमि दास ।।१८।।

नीति वचनों के लिए डूंगर और छीहल कवि की बावनियों को देखना चाहिए। इनके प्रत्येक छप्पय में अत्यंत मार्मिक ढंग से किसी न किसी सत्य की व्यंजना की गई है। जैनियों के नीति-साहित्य ने ब्रजभाषा के नीति-साहित्य (गिरधर, वृन्द आदि के कुंडलिया-साहित्य) को बहुत प्रभावित किया है।

भक्ति-काव्य

§ २५१. ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित *हिन्दी-काव्य धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुष तरंगावलि* और अनन्त जनता के मनको नैसर्गिक शान्ति प्रदान करने वाली दिव्य जल-धारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है कि 'मध्य युग में हिन्दी के साधक कवियों ने जिस रस-ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। यह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्र मिलित संयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

भक्तिकाल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्य-मंडित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया में पला हुआ, ईसाइयत का अनुकरण बताने वाले लोगों पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डा० ग्रियर्सन, वेबर, केनेडी यहाँ तक भारतीय पंडित डा० भाण्डारकर तक ने यह प्रमाणित

---

1. पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित सुन्दर ग्रन्थावली का प्राक्कथन, सं० १९९३।

करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति आन्दोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डा० ग्रियर्सन ने नेष्टोरियन ईसाइयों के धर्ममत का भक्ति आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओं को उनका ऋणी साबित किया।[1] वेबर ने कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कृष्ण जन्म की कथा को ईसा मसीह की जन्म-कथा से जोड़ दिया।[2] केनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबन्ध में यह बताने का प्रयत्न किया कि गूजरों से कृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है और चूँकि गूजर सीथियन जाति के हैं इसलिए उनमें प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल प्रदेश के किसी धर्म-मत से मिली होगी।[3] डा० भाण्डारकर ने इन्हीं सब मतों का जैसे एकत्र संयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि आभीर ही शायद बाल देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आये। उन्होंने भी क्राइष्ट और कृष्ण शब्द के कृष्टवृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन में यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता है तथा कंस द्वारा निरपराध व्यक्तियों की हत्या के विवरण क्राइष्ट जन्म की तत्संबन्धित घटनाओं से पूर्णतः साम्य रखते हैं। यह सब कुछ भांडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[4]

इन मतों को पढ़ने पर किसी भी विवेकवान् पुरुष को लगेगा कि इनकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वग्रह और न्यस्त अभिप्राय थे उनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानों ने संकोच नहीं किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि 'भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह परम सहिष्णु और आश्रितवत्सल रहा है दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिण हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागतवत्सल भारत ने उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नहीं था कि इन दुर्गत आश्रितों के सहधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे।'[5] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानों की धारणाओं का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बड़ा संतुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबन पूर्णब्रह्म श्री कृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।'[6]

---

१. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित, हिन्दुओं पर नेष्टोरियन ईसाइयों का ऋण शीर्षक निबन्ध।

२. इंडियन एंटिक्वैरी भाग ३-४ में उनका 'कृष्ण जन्माष्टमी' पर लेख

३. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ में प्रकाशित उनका कृष्ण, क्रिश्चियानिटी और गूजर शीर्षक निबन्ध।

४. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८-३९

५. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७

६. सूर साहित्य, संशोधित संस्करण १९५६, बम्बई, पृ० ११ तथा १४

§२५२. भक्ति-आन्दोलन के पीछे ईसाइयत के प्रभाव की बात की गई है उसी प्रकार कुछेक विद्वानों की धारणा है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के आक्रमण के कारण इतने आकस्मिक रूप में दिखाई पड़ा। इस धारणा का भी प्रचार करने में विदेशी विद्वानों का हाथ रहा है। प्रो० हैवेल ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आव आर्यन रूल' में लिखा कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिए गए। इसलिए दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर जो उनके लिए एक-मात्र आश्रय-स्थल रह गया था स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।'[1] हिन्दी के भी कुछ इतिहासकारों ने इसी मत को स्वीकार किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भक्ति-आंदोलन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'[2] बहुत से लोग सोचते हैं कि शुक्ल जी ने भक्ति के विकास का मूल कारण मुसलमानी आक्रमण को बताया, किन्तु ऐसी बात नहीं है। शुक्ल जी ने भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्षों का भी विश्लेषण किया है, उनके निष्कर्ष कितने सही हैं, यह अलग बात है, इस पर आगे विचार करेंगे। शुक्ल जी ने सिद्धों और योगियों की साहित्य साधना को 'गुह्य रहस्य और सिद्धि' के नाम से अभिहित किया है और उनके मत से भक्ति के विकास में इनकी वाणियों से कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रभाव यदि पड़ सकता था तो यही कि जनता सच्चे शुद्ध कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र, तंत्र और उपचारों में जा उलझे।'[3] अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से ऐसी रचनाओं का भक्ति के विकास में कुछ महत्त्वपूर्ण योग दान नहीं था। भक्ति का सैद्धान्तिक विकास 'ब्रह्म सूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर भाष्यों की जो परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही थी, उसमें हुआ।'[4] भक्ति के विकास में सहायक तीसरा तत्त्व शुक्ल जी के मत से 'भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।'[5] भक्ति जैसे लोक चित्तोद्भूत और लोकप्रिय मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाष्य और टीका ग्रन्थों में ढूँढ़ना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि सभी टीका ग्रन्थ भारतीय मनीषा की मौलिक उद्भावना और जीवन्त बुद्धि का परिचय नहीं देते। शुक्ल जी के प्रथम और तृतीय कारण भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि मुसलमानी आक्रमण के कारण जनता में दयनीयता का उद्भव हुआ जिससे भक्ति के विकास में सहायता

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका में डा० द्विवेदी द्वारा उद्धृत, पृ० १५
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ संस्करण, पृ० ६०
3. वही, पृ० ६१
4. वही, पृ० ६२
5. वही, पृ० ६२

मिली तो मुसलमानों के आक्रमण से प्रायः सुरक्षित दक्षिण में यह 'भक्ति का सोता' कहां से पैदा हो गया जो उत्तर में भी प्रवाहित होने लगा था।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के विकास की दिशाओं का संकेत देने वाले तत्वोंका संधान करते हुए बताया है कि[1] बौद्धमत का महायान संप्रदाय अंतिम दिनों में लोक मत के रूप में परिणत हिन्दू धर्म में पूर्णतः घुलमिल गया, पूजा-पद्धति का विकास इसी महायान मत के काल में होने लगा था। हिन्दी भक्ति-साहित्य में जिस प्रकार के अवतार वाद का वर्णन है, उसका संकेत महायान मत में ही मिल जाता है। सिद्धों और नाथ योगियों की कविताएँ हिन्दी संत साहित्य से पूर्णतया संयुक्त हैं, इस प्रकार संत मत का उद्‌भव मुसलमानों के आक्रमण के कारण नहीं, बल्कि भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। इस प्रकार द्विवेदी जी की यह स्थापना है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[2]

§ ३४३. वस्तुतः इन सभी प्रकार के वाद-विवाद का मूल कारण है भक्ति संबंधी प्राचीन-साहित्य का अपेक्षाकृत अभाव। हम भक्ति के आन्दोलन को बहुत प्राचीन मानते हुए भी जयदेव के गीत गोविन्द से प्राचीन कोई साहित्य न पा सकने के कारण अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक ऊहापोह में ही लगे रह जाते हैं। ब्रजभाषा-भक्ति-साहित्य का आरंभ सूरदास के साथ मानते हैं, राम भक्ति काव्य तुलसी के साथ शुरू होता है। प्राचीन संत काव्य ही ले देकर कुछ पुराना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मुसलमानी आक्रमण के साथ भक्ति आन्दोलन का आरंभ मानने वाले लोग इसे 'मुसलमानी जोश' का साहित्य कह कर गोटी बिठा देते हैं। इस दिशा में एक भ्रान्त धारणा यह भी बद्धमूल हो गई है और जो हमें भक्ति काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण में बाधा पहुँचाती है कि भक्ति के सगुण और निर्गुण मतवाद परस्पर विरोधी चीजें हैं। इस प्रकार के विचार वाले आलोचक सगुण काव्य को तो भारतीय परम्परा से संबद्ध मान लेते हैं और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते हैं। परिणाम यह होता है कि निर्गुण काव्य को धारा-च्युत कर देने पर सगुण भक्ति काव्य को १६वीं शती में उत्पन्न मानना पड़ता है और सूर तथा अन्य वैष्णव कवियों के लिए १२वीं शती के जयदेव और १४वीं के विद्यापति एक मात्र प्रेरणा-केन्द्र बन जाते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खास तौर से ब्रजभाषा प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।[3] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि १६वीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन यह सब का सब या तो संस्कृत में है जैसे जयदेव कृत गीत गोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिल-कोकिल कृत पदावली। ब्रजभाषा में लिखी हुई १६वीं शताब्दी से पहले की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।"[4]

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका का 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक अध्याय

२. वही, पृ० २

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५२

४. नाम माहात्म्य, भी अंक, अगस्त सन् १९४०, ब्रजभाषा नामक लेख

मेरा नम्र निवेदन है कि सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति सम्बन्धी साहित्य प्राप्त होता है और यह साहित्य जयदेव के गीतगोविन्द से कम पुराना नहीं है। मैं सूर और अन्य ब्रजभाषा कवियों पर गीत गोविन्द के प्रभाव को अस्वीकार नहीं करता बल्कि मैं तो यह मानता हूँ कि सगुण भक्ति विशेषतः कृष्ण भक्ति के विकास में गीतगोविन्द का अप्रतिम स्थान है। यह हमारे भक्ति कालीन काव्य का सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त प्रेरणा-ग्रन्थ रहा है। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि ब्रजभाषा में कृष्ण काव्य की परम्परा काफी पुरानी है, कम से कम उसका आरम्भ १२वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है। इस अध्याय में मैं ब्रजभाषा में लिखी रचनाओं में सन्त काव्य की निर्गुण मतवादी रचनाओं का विश्लेषण नहीं करूँगा क्योंकि इसके बारे में काफी लिखा जा चुका है जिसे पुनः दुहराने की कोई जरूरत नहीं मालूम होती। निर्गुण मतवाले कवियों की उन्हीं रचनाओं पर विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो सगुण मत के ब्रजभाषा कवियों के काव्य को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती हैं। इसलिए आरम्भिक ब्रज के सगुण भक्तिपरक काव्य खास तौर से कृष्ण भक्ति के काव्य पर ही अपने विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

भागवत कृष्ण काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। और भी कई पुराणों में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान् या परम दैवत के रूप में पूजित होने लगे थे। संस्कृत साहित्य में कई स्थानों पर कृष्ण की अवतार के रूप में अभ्यर्थना की गई है। भागवत के अलावा हरिवंश-पुराण, नारद पंचरात्र, आदि धार्मिक ग्रन्थों में कृष्ण लीला का वर्णन आता है। भास कवि के संस्कृत नाटकों में, जो कुछ विद्वानों की राय में ईसा पूर्व लिखे गए थे, कई ऐसे हैं जिनमें कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। परवर्ती संस्कृत काव्यों शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है। जयदेव का गीतगोविन्द तो कृष्ण भक्ति का अनुपम काव्य ग्रन्थ है ही।

§ ३५४. ब्रजभाषा की जननी शौरसेनी अपभ्रंश भाषा में श्रीकृष्ण सम्बन्धी काव्य लिखे गए। इनमें सर्वाधिक महत्त्व की रचना पुष्पदन्त कवि का *महापुराण* है जिसमें कृष्ण-जीवन का विशद चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में कृष्ण-भक्ति के निश्चित रूप का तो पता नहीं चलता किन्तु कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित घटनायें निःसन्देह भागवत के आधार पर ली गई हैं। गोपियों के साथ कृष्ण का विहार (उत्तर पुराण पृ० ६४।६५), (*पूतना लीला उ० पुराण* ६), ओखल बन्धन, गोवर्धन धारण (उ० पु० १६), कालिय-दमन आदि की घटनायें भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती हैं। पुष्पदन्त ने कथा के लिए जिन सम्बोधनों का प्रयोग किया है उनसे गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि शब्द आते हैं। रास के वर्णन में पुष्पदन्त ने गोपियों की उत्सुकता, प्रेमविह्वलता और असामान्य व्यवहारों का वैसा ही जिक्र किया है जैसा भागवत में है अथवा परवर्ती सूरदास आदि में। कोई-कोई आधी बिलोई दही को वैसे ही छोड़कर भागीं, किसी की मथानी टूट गई। कोई कहती है कि तुमने *मथानी* तोड़ दी, उसका दाम चुकाओ एक आलिंगन देकर। कहीं गोपी की पाण्डुर रंग की चोली कृष्ण की छाया से काली हो जाती है, इस प्रकार धूलिधूसर कृष्ण गोपियों को क्रीड़ा-रस से वशीभूत कर लेते हैं।

धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
कीला रस वसेन गोवालय गोवी हियय हारिणा
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्ध विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं
कावि गोवी गोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथणि भग्गी
एयहि मोल्लें देहु आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे अंगणु
काहिं वि गोविहि पंडरु चेल्लउं, हरि तणु छाइहि जायउं कालउ

उत्तर पुराण पृ० ६९

भागवत से अत्यंत प्रभावित होते हुए भी पुष्पदंत की कथा में कृष्ण भक्ति का स्फुट स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता फिर भी रास क्रीड़ा आदि के वर्णन यह तो प्रमाणित करते हैं कि कृष्ण के रास का महत्व १०वीं शती के एक जैन कवि के निकट भी कम नहीं था। यह याद रखना चाहिए कि पुष्पदंत का यह वर्णन गीत गोविन्द से दो सौ वर्ष पहले का है। बाद में भी कई जैन कवियों ने कृष्ण संबंधी काव्य लिखे परंतु कृष्ण को भगवान् के रूप में चित्रित नहीं किया गया। वे एक महाप्राणवान पुरुष के रूप में ही चित्रित हुए। प्रद्युम्न चरित काव्यों में तो उनकी कहीं कहीं दुर्गति भी दिखाई गई है। जैन कथा के कृष्ण-काव्य पर अगरचन्द नाहटा का लेख द्रष्टव्य है।

§ ३५५. १२वीं शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश के दोहों में दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्ण संबंधी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख्याल है कि ये दोहे एतत्संबंधी किसी पूर्ण काव्य ग्रंथ के अंश हैं। दोहे इस प्रकार हैं।

हरि नच्चाविउ पंगणहिं विम्हइ पाडिउ लोउ
एम्वहिं राह पओहरहं जं भावइ तं होउ

हरि को प्रांगण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो। संभवतः यह किसी हास्यप्रगल्भा सखी के वचन राधा के प्रति कहे गए हैं। इस पद में राधा कृष्ण के प्रेम का संकेत तो मिलता है, किन्तु उस प्रेम को भक्ति संयुक्त मानने का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। दूसरा दोहा अवश्य ही स्तुतिमूलक है।

मइं भणियउ बलिराय तुहुं केहउ मग्गण एहु
जेहु तेहु न वि होइ वढ मइं नारायण एहु

इस पद्य में नारायण और बलि की कथा का संकेत मिलता है, इसमें भी हम बहुत अंशों तक भक्ति के मूल भावों का निदर्शन नहीं पाते। फिर भी ये दोहे आरंभिक ब्रजभाषा के अज्ञात कृष्ण काव्यों की सूचना तो देते ही हैं, इस तरह का न जाने कितना विपुल साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नहीं होता। प्रबंध चिन्तामणि में भी एक दोहा ऐसा आता है जिसमें राजा बलि की कथा को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गई है।

आइणिओ मम्हेंसडो तारय कम्इ कहिज्ज
जग दालिद्दिहिं बुड्डिय बलि बन्धण मुक्किज्ज

मेरा सदेसा उस तारक कृष्ण से कहना कि संसार दारिद्र्य में डूब रहा है अब तो बलि को बंधन मुक्त कर दीजिए। इस दोहे का 'तारक' शब्द महत्वपूर्ण है। उद्धारक या तारक विशेषण से कृष्ण के प्रति भक्तिबुद्धि का पता चलता है।

§ ३५६. कृष्ण भक्ति काव्य का वास्तविक रूप पिंगल ब्रजभाषा में १४वीं शती के आस-पास निर्मित होने लगा। प्राकृत पैंगलम् का रचना काल १४वीं शती के पहले का माना जाता है। यह एक संकलन ग्रन्थ है जिसमें १४वीं शती तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यों से छन्दों के उदाहरण छाँटे गए हैं। इसमें कृष्णभक्ति सम्बंधी कई पद्य संगृहीत हैं। कृष्ण के अलावा शंकर, विष्णु आदि की स्तुति के भी कई पद दिखाई पड़ते हैं। एक पद में तो दशावतार का वर्णन भी मिलता है। इन पद्यों का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्वों का संधान मिलता है। प्रेमभक्ति का बड़ा ही मधुर और मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुतिपरक पद्यों में भी आत्मनिवेदन तथा प्रणति का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शिव सम्बन्धी स्तुति में शंकर के रूप का चित्रण देखिए—

जसु कर फणवइ वलय तरुणि वर तणुमहं विलसइ
णयन अनल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसइ
सुरसरि सिर मँह रहइ सयल जण दुरित दमण कर
हरि ससिहर हरउ दुरित वितरहु अतुल अभय वर (११०, १११)

राम सम्बन्धी स्तुति का एक पद :

वप्पअ उक्कि सिरे जिणि लिज्जिउ तेज्जिय रज्ज वणंत चले विणु
सोहर सुंदर सगहि लग्गिय मारु विराध कबंध तहँ हणु
मारुइ मिल्लिय वालि विहंडिय रज्ज सुग्गीवइ दिज्ज अकंटक
बंध समुद्द विणासिय रावण सो तुव राहव दिज्जउ निब्भय (५७६।२२१)

स्तुतिपरक पद्यों में राम, शिव या कृष्ण की वन्दना परमात्मा के रूप में की गई है और वे दोनों पर कृपा करने वाले तथा अभय देने वाले इष्टदेव के रूप में चित्रित किए गए हैं किन्तु सर्वाधिक महत्व के कृष्ण सम्बन्धी वे पद्य हैं जिनमें कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे पद्यों में कवि ने बड़े कौशल से लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमें चिन्मय सत्ता का आरोप किया है। सूरदास की कविता में गोपियों के सामान्य लौकिक प्रेम के धरातल से चिदोन्मुख प्रेम का जैसा उन्नत रूप उपस्थित किया गया है, वैसा ही चित्रण इन पदों में भी मिलता है। इनमें से कई पद्य जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों से भाव-साम्य रखते हैं इस प्रसंग पर पीछे काफी चर्चा हो चुकी है।

नदी पार करते समय कृष्ण अपनी चंचलता के कारण नाव को हिला डुला कर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कार्यों के पीछे छिपे मन्तव्य को पहचान कर भय का बहाना बनाती हुई प्रेम विह्वल गोपी कहती है।

अरे रे वाहहि कान्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहि संतार देइ जो चाहइ सो लेहि (१।११)

यह स्वतंत्र मुक्तक पद्य भी हो सकता है किन्तु संदर्भ को देखते हुए लगता है कि नौका-लीला संबंधी किसी बड़ी कविता का एक स्फुट पद्य है। एक दूसरे पद्य में कृष्ण के जीवन की विविध लीलाओं का संकेत करते हुए उनकी स्तुति की गई है। यह पद्य वैसे मूलतः स्तुतिपरक ही है किन्तु एक पंक्ति में कृष्ण और राधा के प्रेम-संबंधों पर भी प्रकाश

पड़ता है। कृष्ण को नारायण के रूप में स्मरण करते हुए भी कवि ने उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें प्रेमरूप भक्ति के तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। मधुर भाव की भक्ति का यह संकेत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। राधा तत्त्व के क्रमिक विकास का अत्यंत वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० शशिभूषण दास गुप्त ने लिखा है कि 'संस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल देश भाषा में ही राधा कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी वैष्णव पदावली १५वीं सदी के मैथिल कवि विद्यापति और बँगला के कवि चण्डीदास जी की रचनाओं में पाते हैं।'[1] प्राकृत काव्य से डा० दासगुप्त का मतलब गाथा सप्तशती आदि में पाये जाने वाले उन शृंगारपरक प्रसंगों से है जिसका सम्बन्ध वे राधा कृष्ण प्रेम से अनुमानित करते हैं।[2] उन्होंने इसी प्रसंग में प्राकृतपैंगलम् की एक गाथा भी उद्धृत की है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है कि परवर्ती काल में गाथा सप्तशती से संगृहीत प्राकृत पिंगल नामक छन्द के ग्रन्थ में जो प्राकृत गाथायें उद्धृत मिलती हैं उसके कितने ही श्लोकों और परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन और स्वर में समानता लक्षणीय है, जैसे :

> फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले सामला
> णच्चे विज्जु पिय सहिया, आवे कंता कहु कहिया ॥[3]
>
> (वर्णवृत्त ८१)

जाहिर है कि डा० दासगुप्त ने इस ग्रन्थ को अत्यंत शीघ्रता से देखा अन्यथा उन्हें परवर्ती वैष्णव पदावली से प्राकृतपैंगलम् के कुछ छन्दों की शैली का साम्य दिखाने के लिए उपर्युक्त प्रकृत-वर्णन सम्बन्धी सामान्य वर्णन से संतोष न करना पड़ता। प्राकृतपैंगलम् में कृष्ण राधा के प्रेम सम्बन्धी कई अत्यंत उच्चकोटि की कवितायें संकलित हैं। एक छन्द पहले दे चुके हैं दूसरा इस प्रकार है :

> जिणि कंस विणासिअ कित्ति पयासिअ
> मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे
> जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय
> कालिय कुल संहार करे, जस भुवण भरे
> चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ
> राहा मुह महु पान करे, जिमि भमर वरे
> सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
> चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीअ हरा (२२११२०७)

स्पष्ट है कि इस पद में नारायण के रूप में कृष्ण को परम दैवत या परमात्म बुद्धि से स्मरण किया गया है। ऐसे परमात्मा का राधा के मुख मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन इस बात का संकेत है कि १४ वीं शताब्दी में यानी विद्यापति और चण्डीदास

---

१. राधा का क्रम विकास, हिन्दी संस्करण सन् १९५६, काशी, पृ० २०६-०७
२. देखिये वही पुस्तक, पृ० १२१
३. वही, पृ० १५७

के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था। इस ग्रन्थ में पाये जानेवाले अन्य कृष्णस्तुति परक पद्यों को उद्धृत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) परिणअ ससिहर वअणं विमल कमल दल णयणं
    विहिअ असुर कुल दलणं पणवह गिरि मदुमहणं (४२११०१)

(२) भुवन अंणदो तिहुअण कन्दो
    भँवर सवण्णो स जअइ कन्हो (३६५।४६)

प्राकृत पैंगलम् में एक पद्य ऐसा भी प्राप्त होता है जिसमें शंकर और कृष्ण को साथ-साथ स्तुति की गई है। हालांकि शिव और कृष्ण की युगपद्-भाव की स्थिति का या सम-भाव की स्थिति का यह चित्रण नहीं है जैसा विद्यापति के एक पद में मिलता है जिसमें शिव और कृष्ण को एक ही ईश के दो रूप कहा गया है, फिर भी एक ही श्लोक में दोनों देवताओं के उपासना-वर्णन का महत्त्व है।

जअइ जअइ हर वलइअ विसहर
        तिलइअ सुन्दर चन्द मुनि आणन्द जन कन्द
वमइ गमन कर तिसुल डमरु धर
        णयणहिं डाहु अणंग सिर गंग गोरि अधंग
जयइ जयइ हरि भुभ जुभ धरु गिरि
        दहमुह कंस विणासा, पिय वासा सुन्दर हासा
खुलि खुलि वहि हरु असुर विलय करु
        मुणि जण मानस मुह भासा, उत्तम वंसा
                                        (५६८।२१५)

नवीं-दसवीं शताब्दी में शैव और वैष्णव दोनों ही मतों के बहुत से तत्त्व एक दूसरे में घुल मिल गए थे। यह सत्य है कि उस काल में तथा उसके बाद तक शैवों और वैष्णवों में बहुत भयंकर कलह हुआ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि समूचा उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखंड भक्ति बनी हुई थी, किन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय।[1] विद्वानों की धारणा है कि शैवों और वैष्णवों का कलह गोस्वामी तुलसीदास के काल तक भी किसी न किसी रूप में चलता रहा। इसीलिए उन्होंने शैव और वैष्णव मतों के समन्वय की बहुत चेष्टा की। सेन वंशीय विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर का मन्दिर बनवाया था जिसके एक लेख में शंकर और विष्णु की मिश्रमूर्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है।

[illegible]
[illegible]

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शैव और वैष्णव मतों में समन्वय का प्रयत्न सेन-वंशीय राजाओं के काल में आरम्भ हो गया था। प्राकृत पैंगलम् के पद्य में यद्यपि इस श्लोक में वर्णित शिव और विष्णु की मिश्रमूर्ति का वर्णन नहीं किया गया है और न तो विद्यापति की तरह :

धन हरि धन हर धन तव कला
खन पीत बसन खनहिं बघछला

वाली मूलतः एक, किन्तु प्रतिक्षण दोनों ही रूपों में दिखाई पड़नेवाली अलौकिक मूर्ति का वर्णन है फिर भी एक ही पद में 'जयति शंकर' और 'जयति हरि' कहने वाले लेखक के मन में दोनों के प्रति समान आदर की भावना अवश्य थी ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

§ ३५७. ब्रजभाषा में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी काव्य का अगला विकास सन्त कवियों की रचनाओं में हुआ। सन्त कवि प्रायः निर्गुण मत के माने जाते हैं इसीलिए उनकी सगुण भावना की कविताओं को भी निर्गुणिया वस्त्र पहनाया जाना हमने आवश्यक मान लिया है। परिणाम यह होता है कि सहज अभिव्यक्तिपूर्ण कविताओं के भीतर रहस्य और गुह्य की प्रवृत्ति का अनावश्यक अन्वेषण आरम्भ हो जाता है। निर्गुण और सगुण दोनों बिल्कुल भिन्न धारायें मान ली जाती हैं। वस्तुतः ये दोनों मूलतः एक ही प्रकार की साधनायें हैं। जैसा आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं, पर यहीं तक इसकी इयत्ता नहीं है। इसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है इसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं।[1] ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मत वालों का भी ध्येय है, किन्तु व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधना का प्रयोग करता है वह सीमित है, ब्रह्म का दर्शन इसी सीमित क्षेत्र में होने पर सगुण की संज्ञा पाता है। सूरदासादि अष्टछाप के कवियों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करने वालों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। कुछ लोग इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर दोनों मतों को एक दूसरे का द्रोही सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर आदि भक्त कवि ब्रह्म की निराकार स्थिति को अस्वीकार नहीं करते थे, वे निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के ज्ञानमार्गी साधन को ठीक नहीं मानते थे। श्रीमद्भागवत के एक श्लोक में बताया गया है आनन्द स्वरूप ब्रह्म के तीन रूप होते हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म चिन्मय-सत्ता है, जो भक्त ब्रह्म के इस चिन्मय स्वरूप के साक्षात्कार का प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्म के एक अंश को जानना चाहते हैं या जान पाते हैं, इस मत के अनुसार 'केवल ब्रह्म' 'ज्ञान स्वरूप ब्रह्म' ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। परमात्मा उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता है। इस रूप के उपासकों में शक्ति और शक्तिमान का भेद ज्ञात रहता है। किन्तु तीसरा रूप सर्वशक्तिविशिष्ट भगवान् का है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियों का ज्ञान केवल सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त को ही हो सकता है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते
(भा० १।२।११)

इस प्रकार के भगवान् के प्रेम की प्राप्ति हिन्दी के दोनों संप्रदायों-निर्गुण और सगुण मत वाले भक्तों का उद्देश्य रही है। भक्त के जीवन की परम साधना है भगवान् की लीला। 'भक्तों में अपनी उपासना-पद्धति के अनुसार इस लीला के रूप में भेद हो सकता है। पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो निर्गुण भाव से भजन करता है वह भी भगवान् की चिन्मय सत्ता में विलीन हो जाने की इच्छा नहीं रखता बल्कि अनन्त काल तक उसमें रमते रहने की कामना करता है। कबीरदास, दादूदयाल तथा निर्गुण मतवादियों की नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्यलीला एक ही जाति की है।'[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सगुण और निर्गुण मतों की साम्य-सूचक कुछ और विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। दोनों ही मतों में भगवान् और भक्त को समान बताया गया है अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में छोटे बड़े का कोई प्रश्न नहीं है। प्रेम की महिमा का वर्णन दोनों प्रकार के भक्तों ने समान रूप से किया है। प्रेमोदय के जो क्रम सगुणोपासक भक्तों ने निश्चित किये हैं वे सभी भक्तों में समान रूप से समादृत हैं। अंत में द्विवेदी जीने लिखा है 'और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनता पर जोर देते हैं। आत्मसमर्पण में विश्वास रखते हैं और भगवान् की कृपा से ही मुक्ति मिल सकती है, इस बात पर सम्पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं।'[2]

§ ३५८. सगुण और निर्गुण मतों के साम्य को यह किञ्चित् विस्तृत चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि भ्रमवश ऐसा मान लिया गया है कि सूरदास तथा अन्य अष्टछापी कवियों के साहित्य में निर्गुण की जो विडम्बना की गई है वह इस बात का सबूत है कि ये कवि निर्गुण मत के कवियों से प्रभावित नहीं हुए और उनका भक्ति काव्य बीच के इन सन्त कवियों से सम्बन्धित न होकर जयदेव और विद्यापति से जोड़ा जाना चाहिए। मैं यह कदापि नहीं कहता कि जयदेव विद्यापति का प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु सन्त कवियों ने सगुण मतवादी कृष्ण काव्य के निर्माण में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है उसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन कवियों की भक्ति सम्बन्धी कविताओं की बहुत सी बातें सीधे निर्गुण मतवादी कवियों की परम्परा से प्राप्त हुई। नीचे मैं कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी कविताओं की ही चर्चा करना चाहता हूँ, दूसरे अन्य साम्य सूचक पक्षों पर काफी विचार होता रहा है।

नामदेव अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय देते हुए कहते हैं 'कामी पुरुष कामिनी पियारी, ऐसी नामे प्रीति मुरारी' इस प्रकार के प्रेमास्पद को ऐसी अनन्य प्रीति करने वाले नामदेव ही कह सकते थे कि माधव मुझसे होड़ न लगाओ, यह स्वामी और जन का खेल है :

> बदहु किन होड़ माधव मोसिउ
>
> ठाकुर ते जन जन ते ठाकुर खेल परिउ है तो सिउ[3]

कविता हालाँकि निराकार उपासना से ही सम्बन्ध रखती है किन्तु भक्त के मन का यह अटूट विश्वास, स्वामी के प्रति यह अनन्य भक्ति क्या हमें सूर की कही जाने वाली इन पंक्तियों की याद नहीं दिलाती ?

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८८-८९

२. वही, पृष्ठ ८९

३. श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सन्त काव्य संग्रह, पृ० १४१

बांह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहिं
हिरदय तें जब जाहुगे सबल बदौंगे तोंहि

प्रेम की अनन्त व्यापिनी पीड़ा से जिसका चित्त आपूरित हो जाता है, वही वेदना की इतनी बड़ी पुकार सुनाई पड़ती है।

मोकउ तू न विसारि तू न विसारि तू न विसारे रामईआ[1]

कबीर को अपने गोविन्द पर पूरा विश्वास है पर उन्हें पास जाने में डर लगता है। नाना प्रकार के मतवादों के चक्कर में पड़ कर जीव कष्टों की गठरी ही बांधता रह जाता है। धूप से उत्तप्त होकर किसी तरु-छाया में विश्राम करना चाहे तो तरु से ही ज्वाला निकलने लगती है। इन प्रपंचों को कबीर समझते हैं इसलिए वे विश्वास से कहते हैं मैं तो तुझे छोड़कर और किसी की शरण में नहीं जाना चाहता—

गोविन्दे तुम थे डरपौं भारी
सरणाइ आयो क्यूँ गहिए यह कौनु बात तुम्हारी
धूप दाझ तें छाहं तकाई मति तरवर सचु पाऊँ
तरवर माहे ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊँ ॥१॥
तारण तरण तरण तू तारण और न दूजा जानों
कहै कबीर सरनाई आयौ आन देव नहिं मानौ ॥२॥

कबीर के पदों, साखियों तथा अन्य स्फुट रचनाओं में भगवान् के प्रति उनके अनन्य प्रेम की बड़ी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुर भाव का बीजांकुर कबीर की रचनाओं में मिलता है। यह सत्य है कि ये रचनायें रहस्य की प्रवृत्ति से रंगी हुई हैं और इनमें निराकार परमात्मा और जीवात्मा के मिलन या वियोग के सुख-दुःख का चित्रण है किन्तु भाव की गहराई और प्रेम की व्यंजना का यह रूप सगुण मत के कवियों को अवश्य ही प्रभावित किये होगा क्योंकि उनकी रचनाओंमें इसी भाव की समानान्तर पंक्तियाँ मिल जाती हैं।

१—नैना अंतर आव तूँ ज्यूँ हौं नैन झपेऊँ
ना हौं देखौं और कूँ ना तुझ देखन देऊँ (कबीर)

इसी प्रकार की पंक्तियाँ मीरां के एक पद में भी आती है। प्रेम की वेदना से तप्त जलहीन मीन की तरह यह आत्मा व्याकुल है। विरह का भुजंग इस शरीर को अपनी गुंजलक में लपेटे है, राम का वियोगी कभी जीवित नहीं रह सकता—

विरह भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोइ
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ
(मीरां)

तुम बिनु व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
अन्तरजामी छिप रहे हम क्यों जीवें दूरि
आप अपरछन होइ रहे हम क्यों रैन विहाइ
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ
(दादू)

---

१. वही, पु० १५०

बैजू की कवितायें कृष्ण-लीला के प्रायः सभी पक्षों को दृष्टि में रख कर लिखी गई हैं। नटवर, रूप-मोहिनी, गोपी-प्रेम, विरह, रास, मान-मनुहार आदि सभी पक्षों पर लिखी गई इन कविताओं में कवित्व शक्ति का बहुत अच्छा प्रस्फुटन दिखाई पड़ता है। विरह के वर्णन में बैजू ने उद्दीपनों तथा अन्य कवि-परिपाटी विहित उपकरणों का प्रयोग नहीं किया है, बड़ी सहज और निरलंकृत भाषा में उन्होंने प्रिय वियोग की वेदना को व्यक्त किया है—

प्यारे बिनु भर आए दोउ नैन
जबते स्याम गवन कीनो गोकुल तें नाहीं परत री चैन
लगे न भूख न प्यास न निद्रा सुख आवत नहिं चैन
बैजू प्रभु कोई आन मिलावै वाको बलिहार चरन रैन

§ ३६०. विष्णुदास, बेनाथ आदि कवियों ने कृष्ण के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध महाभारत, गीता आदि के भाषानुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। इन अनुवादों की परंपरा बाद में और भी अधिक विकसित हुई। सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास आदि वल्लभ संप्रदाय के कवियों ने भागवत का पूरा या खंडशः अनुवाद किया। विष्णुदास का रुक्मिणी मंगल विवाहलो की पद्धति में लिखा हुआ सुन्दर भक्ति-काव्य है।

इस प्रकार हमने देखा कि ब्रजभाषा में कृष्ण भक्ति काव्य की परंपरा काफी पुरानी है। सूरदास के समय में अचानक कृष्ण भक्ति के काव्य का उदय नहीं हुआ और न सूरदास इस प्रकार के प्रथम कवि हैं। ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य का आरंभ जयदेव और विद्यापति से पुराना नहीं तो कम से कम उनके समय से तो मानना ही पड़ेगा। प्राकृत पैंगलम् की रचनाओं को देखते हुए यह कहना भी शायद अत्युक्ति न हो कि हिन्दी प्रदेश की किसी भी बोली में इतना प्राचीन कृष्ण-काव्य नहीं मिलेगा, जैसा ब्रजभाषा में है। अष्टछाप के कवियों की प्रतिभा बेजोड़ थी, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनकी कविता में जो शक्ति, परिस्फूर्ति तथा मृदुता है वह केवल उन्हीं की साधना का परिणाम नहीं है बल्कि दसवीं शताब्दी से इस भाषा में कृष्ण-काव्य की जो अविच्छिन्न साहित्य-परंपरा रही है, उसके अप्रतिम योग-दान का भी परिणाम कहना चाहिए।

शृंगार-शौर्य तथा नीतिपरक काव्य

§ ३६१. भक्ति और शृंगार दोनों ही मध्यकालीन साहित्य की अत्यंत प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भक्त कवियों के शृङ्गारिक वर्णनों को लेकर आलोचकों ने बहुत निर्मम आक्षेप किये हैं। आचार्य शुक्ल जैसे अपेक्षाकृत उदार और सिद्ध आलोचक ने भी सूर के बारे में विचार करते हुए उनके शृंगारिक प्रेम के विषय में यही शिकायत की है। उन्होंने लिखा है कि 'समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नहीं रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यञ्जना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय वासना पूर्ण जीवों पर *कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को* इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।' शुक्ल जी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि वे कृष्णभक्ति में शृंगार की अतिवर्णना को समाज की दृष्टि से कल्याणकारी नहीं मानते, दूसरी यह कि रीतिकाल के कामोद्दीपक चित्रणों की

अतिशयता का कारण भक्त कवियों के शृंगारिक चित्रणों को ही मानते हैं। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचकों ने भी व्यक्त किये हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में विशेषतः ब्रज भाषा साहित्य में, सूरदास के पहले शृंगारपूर्ण चित्रणों का अभाव है? क्या भक्त कवियों ने शृंगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनों की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य में नहीं थी? ऐसे प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमें प्रचलित विश्वासों का पूर्व विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि शृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी। शृंगार की मर्यादा क्या थी, उसके किस स्वरूप को समाज में स्वीकार किया गया।

§ ३६२. जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भाव धारा के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि हरि स्मरण में मन सरस हो और यदि विलास-कला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो:

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्

यह कौन सी स्वाभाविक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात रससिद्ध कवि को यह निःसंकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम कला और हरिस्मरण एकत्र उनको पदावली में सुलभ है। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नहीं है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति है इसलिए उसमें निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते हैं। उस काल के धार्मिक ग्रन्थों में जो भक्ति के नियामक तत्वों का विश्लेषण करते हैं, शृंगार और भक्ति की इस समन्वय-धर्मिता के बारे में विशद रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है।

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवंति हृत्कर्णरसायनाः कथाः
तज्जोषणदाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिभक्तिरनुक्रमिष्यति
(भागवत ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'स्त्रीपूजा और उसका वैष्णव रूप' शीर्षक निबंध में इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि 'वस्तुतः भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास संप्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२६।२५) से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है। अथर्व वेद (६-५-२७-२८) में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) के 'कांचन परिहरेत्' मंत्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार किया है 'जो वामदेव सायन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है किसी स्त्री को मत छोड़ो अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।'[2] कथावत्थु

---

१. सूर साहित्य, संशोधित संस्करण, १९५६, बंबई, पृ० ३०-६०

२. वही, पृ० २३-२४

जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १ पृ० १५५) से भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध-काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर इसकी निन्दा की है।[1]

§ ३६३. बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों में वज्रयान का बड़ा जोर था। उसके प्रभाव से 'पंचमकार सेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुरसुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरन्तर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तन्त्रवाद में रति और शृंगार की भावना को एक नये रहस्य और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव धर्म में नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की स्वरूपा-ह्लादिनी शक्ति बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते हैं।[2] चैतन्यदेव ने परकीया प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। सूरदास को तथा अन्य व्रजकवियों को इससे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृंगार के वर्णनों की व्यावहारिक प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रंथों से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन व्रजभाषा के काव्य का पड़ा इसमें संदेह नहीं। संक्षेप में प्राचीन व्रज भाषा के शृंगार काव्य के विविध पक्षों का विवेचन यहां प्रस्तुत किया जाता है।

§ ३६४. ऐहिकतापरक शृंगारिक रचनाओं का आरंभ छठवीं-सातवीं शताब्दी के संस्कृत वाङ्मय में दिखाई पड़ता है। ऐसा नहीं कि इस प्रकार की रचनायें पहले के साहित्य में प्राप्त नहीं होतीं। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाओं का संकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन में दैवी शक्तियोंका आतंक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रभाव उग्ररूप में वर्तमान है। संस्कृत-काव्य देवताओं के स्तुति गान की वैदिक परंपरा की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ इसलिए उसमें पौराणिकता और नैतिक रूढ़िवादिता की सर्वदा प्रधानता बनी रही। विद्वानों की धारणा है कि लौकिक शृंगारपरक काव्यों का आरंभ प्राकृत काल से हुआ खास तौर से चौथी-पांचवीं शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियों की संस्कृति के कारण। हूणों और आभीरों के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके संपर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमांस की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन संस्कृत में निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमांस लिखने की परिपाटी थी—जिसका चरम विकास बाणभट्ट की कादम्बरी में दिखाई पड़ता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नहीं कही जा सकती। अपभ्रंश की रचनायें तो इस मध्यकालीन संस्कृत-रोमांस की पद्धति से भी भिन्न हैं क्योंकि इनमें आमुष्मिकता का आतंक बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ता। हाल की गाथा सतसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ायें, उनका घात प्रतिघात इस ग्रंथ में अतिशय जीवित रस में

---

1. दि कलकत्ता रिव्यू जून १९२७, पृ० ३५२-३ तथा मनीन्द्र मोहन बोस का 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट' पृ० १०१
2. उज्ज्वल नीलमणि, कृष्ण वल्लभा, ५

प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनियों की प्रेम गाथाएं, ग्राम-वधूटियों की शृंगार चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोद्बोधन, आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत् में प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं है। [illegible] और वैदिक का नाम नहीं सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नहीं की जाती, इहलोक और परलोक की दुहाई नहीं दी जाती। द्विवेदी जी ने बड़े ही सूक्ष्म ढंग से मध्यकालीन शृंगार को इन नये काव्य और प्राचीन संस्कृत काव्यों की परंपरा का प्रभाव बताया है। यह लोक साहित्य परंपरा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किन्तु इस लोक साहित्य परंपरा के [illegible] का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योंकि यह अपभ्रंश में सुरक्षित है।

[illegible] शृङ्गार के दोनों पक्षों का जो निभन प्रस्तुत किया गया है, [illegible] के परवर्ती काल के कवियों ने—विद्यापति सूरदास आदि ने—[illegible] अपना बना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणों को देखने से ही [illegible] परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

[illegible] आया नहीं। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण [illegible] है ऐसा कह कर जो रेखा खींच देती है उनसे दीवाल भर [illegible] नहीं।

[illegible] अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गण्णीए।
[illegible] दिअह रिअहच्चे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ॥ (४१२)

[illegible] दिवस की रेखा खींचते-खींचते अपने नाखूनों को ही तो [illegible] के छोड़ने का नाम नहीं लेते—

[illegible] माधव रहत मधुरा पुर कबे घुचब विहि वाम।
दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल बिछुरल गोकुल नाम॥

[illegible] संकलित दोहों में भी एक में यही भाव व्यक्त किया गया है।

जो मह दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसंतेण।
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥

[illegible] की एक दूसरी गाथा में नायिका अपने प्रिय के आगमन पर कहती है [illegible] आने पर सभी प्रकार के मंगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। [illegible] से मैंने पदार्पण किया है और कुचों का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापित कर दिया है—

[illegible] न अणुग्गहा तुमं सा पडिच्छए एन्तम।
[illegible] हियेहि दोहिं वि मंगलकलसेहिं व थणेहिं॥ (१४७०)

[illegible] कृष्ण के आने पर अपनी हृदय की [illegible] में आसन दीप [illegible] कलश की तरह उसके स्तन चोली के बन्धन तोड़ कर स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं।

करत मोंहि कछुवै न बनी।
हरि आये चितवत ही रही सखि जैसें चित्र धनी॥
अति आनन्द हरष आसन उर कमल कुटी अपनी।
हृदय उमंगि कुच कलस प्रकट भये टूटी तरकि तनी॥ (सूर सागर १८८०)

प्रिय से मिलने को उत्सुक नायिका अभिसार के लिए जाने से पहले इतनी प्रेम-विह्वल हो गई है कि वह निमलिताक्षी अपने घर में ही चहलकदमी कर रही है—

अज्ज मए गन्तव्वं घणअन्धारे वि तस्स सुहस्स
अज्जा निमीलिअच्छी पअ परिवाडि घरे कुरइ (३।४९)

सूर की राधा की भी तो अभिसार की उत्सुकता के कारण यही हालत हो जाती है—

आप उठी आँगन गई फिरि घरहीं आई
कबधौं मिलिहौं स्याम कौं पल रह्यो न जाई
फिरि फिरि अजिरहिं भवनहिं तलवैली लागी।
सूर स्याम के रस भरी राधा अनुरागी (सूरसागर १३६६)

§ ३६६. संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश में लिखे हुए दोहों में मुंजराज और मृणालवती के प्रेम पर लिखे हुए दोहे अपनी रसमयता और सांकेतिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। आरम्भिक ब्रजभाषा में लिखे ये दोहे शृंगार-काव्य के 'मुक्ताइल' हैं। इनमें सहज प्रेम और नैसर्गिक माधुर्य की एकत्र पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है।

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि
जो सक्कर सय खण्ड थिय सोवि स मीठी चूरि

शर्करा का सौवाँ खंड भी क्या मिठास में कम होता है। मुंज अपनी प्रौढ़ा नायिका को हर प्रकार से आश्वस्त करना चाहता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संकलित दोहों में प्रेम और शृंगार की अत्यंत स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। विरह की निगूढ़ वेदना को व्यक्त करने वाले एक-एक दोहे में परवर्ती ब्रजभाषा के विरह वर्णनों का पूरा इतिहास भरा पड़ा है। प्रिय-विश्लेष दुःख से पीड़ित नायिका पी पी पुकारने वाले चातक से कहती है, हे निराश, चातक क्यों व्यर्थ की 'पिउ-पिउ' पुकार रहा है। इतना रोने से क्या होगा। तेरी जल से और मेरी वल्लभ से कभी आशा पूरी न होगी।

बप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास
तुम जलि महु पुणु वल्लहइँ बिहुँ वि न पूरिअ आस

पपीहे के बार-बार पुकारने पर वेदना-विजड़ित चित्त से वह निराशा को स्वाभाविक मानती हुई, आक्रोश भी व्यक्त करती है: चिल्लाने से कुछ न होगा, विमल जल से सागर भरा है किन्तु अभागे को एक बूँद भी नहीं मिलता—

बप्पीहा कइँ बोल्लिएण निग्घिण वारइ वार
सायर भरिअइ विमल जल लहइ न एक्कइ धार

सूर की गोपियों के विरह-वर्णन को जिन्होंने पढ़ा है वे जानते हैं कि पपीहा के प्रति प्रेम-आक्रोश, सहानुभूति के कितने शब्द गोपियों ने नाना प्रकार के करुणापूर्ण मार्मोच्छ्वास के साथ सुनाये हैं।

(१) सखी री चातक मोहि जियावत
    जैसे हि रैनि रटत हौं पिव-पिव तैसेहि वह पुनि गावत (३३३४)
(२) अजहु पिय-पिय रजनि सुरति करि झूठैं ही मुख मागत वारि (३३३५)
(३) सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तउ न उर को विथा विचारत(३३३५)

मिलन या संयोग शृङ्गार में जड़ता या अचेतना की स्थिति का वर्णन किया जाता है। अपभ्रंश दोहे में एक नायिका कहती है कि अंग से अंग न मिले, अधरों से अधर न मिले, मैंने तो प्रिय के मुख-कमल को देखती ही रात बिता दी—

अंगहि अंग न मिलिउ हलि अहरें अहर न पत्तु
पिय जोअन्तिहे मुह कमल एवम्इ सुरउ समत्तु

प्रिय के सौन्दर्य का ऐसा ही अप्रतिम चित्रण सूरदास की रचनाओं में भरा पड़ा है।

कमल नैन मुख विनु अवलोकैं रहत न एक घरी
तब तैं अंग-अंग छवि निरखत सो चित तैं न टरी (सूर २३८६)

§ २६७. इन दोहों में कुछ तो *सहज शृंगार और प्रेम के दोहे हैं, कुछ शृंगारिक* उक्तियों और उत्तेजन भाव के भी हैं जिनका अतिवादी विकास बाद में विहारी आदि रीतिकालीन कवियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। इनमें शृंगार का गंभीर रूप नहीं दिखाई पड़ता, ऊहात्मक *अथवा अत्यंत सस्ते कोटि की कामुक और शृंगारिक चेष्टाओं की विवृत्ति दिखाई पड़ती है।* रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के शृंगार की प्रेरणा भी यहीं से मिली, इसे भक्ति-काल के शृंगार का ही विकास नहीं कहना चाहिए वैसे सूर तथा अन्य भक्त कवियों ने शृंगार का कहीं कहीं बड़ा उद्दाम और विक्षोभक चित्रण भी किया है जो मर्यादित नहीं है, ऐसे चित्रणों ने भी रीतिकालीन कविता को शृंगार की अश्लील कोटि तक पहुँचने में मदद दी। इसके लिए कुछ अंशों में सूर आदि के रति और संयोग के शृंगारिक वर्णन भी उत्तरदायी हो सकते हैं। इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवि अथवा रीतिकालीन कवियों की घोर शृंगारिक चेष्टाओं वाले काम की प्रेरणा प्राचीन व्रज के इन दोहों में वर्तमान थी। जैसे—

विट्टीए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठि
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि

हे पुत्री मैंने तुमसे कहा था कि दृष्टि बांकी मत कर। यह अनीदार भाले की तरह हृदय में पैठकर चोट करती है।

नखशिख तथा रूप-चित्रण

§ २६८. रीतिकाल की शैली को यदि एकदम संकुचित अर्थ में कहना चाहें तो नखशिख चित्रण और नायिका भेद की शैली कह सकते हैं। परवर्ती संस्कृत साहित्य में ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। एकदम रूढ़ अर्थ में उसे ऐसा न भी मानें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की कृतियों में नखशिख वर्णन अथवा मानव रूप-चित्रण ज्यादा अलंकरण-प्रधान और चित्रात्मकता-बोधक होने लगा था। आचार्य शुक्ल ने नखशिख वर्णनों की अतिवादी परिणति की निन्दा करते हुए, मनुष्य के सरस रूप के चित्रण की विशेषता बताते हुए कहा है कि 'आकृति चित्रण का अत्यंत उत्कर्ष वहीं समझना

चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों में हम भेद कर सकें।'[1] शुक्ल जी ने इसी प्रसंग में रीतिकालीन कवियों की शैली को अत्यंत निकृष्ट बताते हुए लिखा है कि 'यहाँ हम रूप चित्रण का कोई प्रयास नहीं पाते केवल विलक्षण उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार पाते हैं इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नहीं होता।'[2]

नखशिख-वर्णन सूर तथा उनके अन्य समसामयिक व्रजभाषा कवियों में मिलता है। कहीं-कहीं तो इस चित्रण में वस्तुतः रूढ़ियों के प्रयोग की इयत्ता हो जाती है। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाले प्रसिद्ध नखशिख चित्रण को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा था कि इस स्वभाव सिद्ध (तुलसी के) अद्भुत व्यापार के सामने 'कमल पर कदली कदली पर कुंड, शंख पर चन्द्रमा' आदि कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज़ हैं।'[3] हमें यहाँ यह विचार करना है कि सूरदास आदि की कविताओं में जो इस प्रकार के कविप्रौढोक्ति रूपकातिशयोक्ति की अधिकता दिखाई पड़ती है, उसका कारण क्या है। मैंने ऊपर निवेदन किया है कि संस्कृत के परवर्ती काव्यों में भी इस प्रकार के अलकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। किन्तु नखशिख-वर्णन की इस शैली का विकास—इस अतिशयतावादी शैली का—परवर्ती जैन अपभ्रंश काव्यों तथा आरंभिक व्रजभाषा की रचनाओं में भी दिखाई पड़ता है। मैंने पीछे थूलिभद्दफागु से वेश्या के रूप वर्णन का प्रसंग उधृत किया है (देखिये § ३४८) इस प्रसंग में यद्यपि शैली रूढ़ है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु लेखक ने उसे विलक्षणता प्रदर्शन के लिए नहीं अपनाया है। यौवन-संपन्न उरोजों की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलों के स्तवक से देना एक प्रकार का अलंकरण ही कहा जायेगा किन्तु यह अलंकरण रूप चित्रण में बाधक नहीं है, बल्कि उसे और भी अधिक उद्भासित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुष्पदन्त ने नारी सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह अभूतपूर्व है। पुष्पदन्त के चित्रण शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठापित मानदण्ड के अनुकूल हैं, उसने न केवल दो नारियों के रूप में अन्तर को स्पष्ट अंकित किया है बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों की नारियों के रूप, स्वभाव तथा व्यवहारों का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया है जैसा पूर्ववर्ती काव्यों में कम मिलेगा। हिन्दी काव्यधारा में पृष्ठ २०० पर दिए गए पद्यांश में नारी सौन्दर्य का चित्रण देखा जा सकता है। हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रंश दोहों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्फुट मुक्तक होने के कारण इनमें सर्वांगीणता नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु सूक्ष्मता का स्पर्श तो है ही। जैसे नेत्रों का वर्णन देखिए—

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहु निरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय सर खर पत्थर तिक्खेइ॥

ज्यों ज्यों गोरी अपनी बांकी आँखों की भंगिमा सिखाती है, वैसे ही वैसे मानो कामदेव अपने बाणों को पत्थर पर तीखा करता जाता है।

---

१. चिन्तामणि, भाग २, काशी २००२, पृ० १
२. वही, पृ० २८
३. देखिए शुक्ल जी का 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक निबंध

स्पष्टतः इस वर्णन में कवि ने प्रौढ़ोक्ति सिद्ध उपमानों और उत्प्रेक्षाओं का ही सहारा लिया है, किन्तु इस चित्रण से कवि पाठक के मन में सौन्दर्योद्भूत आनन्द को प्रकट करने में भी सफल हुआ है। नखशिख वर्णन में भी कवि यदि रुचि-संपन्न हुआ, नारी-रूप के प्रति उसके मन में मात्र विद्धोभकारी आकर्षण ही नहीं, यदि वस्तुतः सौन्दर्य के प्रति अनासक्त जागरूकता और संस्कारी चेतना हुई तो ऐसे रूढ़िग्रथित वर्णनों में भी ताज़गी और जीवन दिखाई पड़ता है। छिताई वार्ता में कवि नारायण दास सौन्दर्य का ऐसा ही चित्रण प्रस्तुत कर सकने में सफल हुए हैं। छिताई का रूप पद्मिनी की तरह ही पारस-रूप है, जड़ चेतन को अपनी अपूर्व प्रभावकारिता से स्पन्दित कर देने वाला। यद्यपि कवि प्रतीपालंकार के आधार पर नायिका के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य-चित्रण में उपमानों या अप्रस्तुतों का पराभव दिखाता है, किन्तु इसी के साथ-साथ छिताई के सौन्दर्य की सार्वभौम प्रभुता भी प्रकट होती है।

तैं सिर गुंथी तु बेनी माल, लाजनि गए भुंयंग पयालि
बदनि जोति वै ससिहर हरी, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी
हरे हरिण लोचन तैं नारि, ते म्रिग सेवै अजौं उजारि ॥५४५।
जे गज कुंभ तोहि कुच भए, ते गज देस दिसाउर गए
तैं केहरि मंमस्थल हन्यौ, तौ हरि मेह कंदल नीसर्यौ ।५४६।
दसन ज्योति तें दारिउँ भए, उदर फूटि ते दाँरिउ गए
कमल वास लइ अंग छिनाइ, सजल नीर में रहे लुकाइ ॥५४७॥

सौन्दर्य का स्थूल चित्रण वर्ण्य-वस्तु को साकार करने की दृष्टि से कठिन और कौशल-साध्य व्यापार है किन्तु इससे भी कठिन इस तरह के रूप के चित्रों या छायाकनों को पुनः चित्रित करने का कार्य है। ऐसे स्थलों पर कवि को सौन्दर्य को सजीव बनाने वाले गुणों, हाव भाव, अंगों के मोड़, चाल-ढाल आदि का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान रखना अनिवार्य हो जाता है। अलाउद्दीन द्वारा देवगिरि नरेश को उपहार में दिए गए चित्रकार ने एक दिन चित्रशाला में छिताई को देख लिया। उसने छिताई की एक छवि कागज पर चित्रित कर ली। नारायण दास चित्र की शोभा का वर्णन यों करते हैं :

चतुर चितेरै देखी जिसी, करि कागज मँह चित्री तिसी
चितवनि चलनि मुरनि मुसक्यानि, चतुर चितेरे चित्री बानि ॥१३५॥
सुन्दरि सुघर, सुघर परवीन, जोवनि आनि बजावइ बीन
नाद करत हरि को मन हरइ, नर बापुरा कहा धुं करइ ॥१३६॥
इक सुन्दर अरु सुवन शरीर, मिश्री मिश्रित भो जिमि षीर
इक सोनों इक होइ सुगन्ध, लहइ परम त्रिया महि कंध ॥१३७॥
चित्र देखि बहुरी चित्रिनी, आलस गति गयंद गुरुनी

छीहल कवि की पंच सहेली में शृंगार का बहुत ही सूक्ष्म और मार्मिक वर्णन हुआ है। वियोग शृङ्गार में विरहिणी नायिकाओं के अनुभावों का चित्रण उन्हीं के शब्दों में इतना संवेद्य और अनुभूतिरक है कि कोई भी सहृदय विरह की इस दंशकारी वेदना से व्याकुल हुए बिना नहीं रहता। छीहल की पंच सहेली के दोहे पीछे दिए हुए हैं (देखिए § १६७)।

वीरता और शौर्य

§ ३७०. मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य में शौर्य और शृङ्गार की प्रवृत्तियों का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन रोमैंटिक काव्य चेतना में शौर्य और शृङ्गार दोनों ही सहगामी भाव हैं। यद्यपि भक्ति-रीति काल में शौर्य और वीरता-परक काव्य कम लिखे गए, इस काल की मूल धारा शृङ्गार और भक्ति की ही रही परंतु इस युग में भी भूषण, सूदन, सोमनाथ, लाल जैसे अत्यंत उच्चकोटि के वीर-काव्य प्रणेता भी उत्पन्न हुए।

बहुत से आलोचक रासो काव्यों में चित्रित वीरता की प्रवृत्ति को बहुत सहज और स्वस्थ नहीं मानते। एक आलोचक ने लिखा है कि उस काल का वीर काव्य उन थोड़े से सामन्तों की वीरता की अतिशयोक्ति पूर्ण गाथाओं पर आश्रित है, जिनकी हार-जीत से जनता को कोई चिन्ता प्रसन्नता नहीं होती थी, इसलिये ऐसे काव्यों को वीर काव्य नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम विजय, शत्रुकन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रण क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था वही संमान पाता था। शुक्ल जी ने रासो काव्यों की मूल प्रवृत्ति वीरता की ही बताई वैसे उनके मत से 'इन काव्यों में शृङ्गार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था, पर गौण रूप में। प्रधान रस वीर ही रहता था।'[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृथ्वीराज रासो की प्रेम-कथा की पृष्ठभूमि में वर्तमान तुमुल संघर्ष और युद्ध के वर्णनों की अधिकता को देखते हुए लिखते हैं कि 'वीररस की पृष्ठभूमि में यह प्रेम का चित्र बहुत ही सुन्दर निखरता है, पर युद्ध का रंग बहुत गाढ़ा हो गया है। प्रेम का चित्र उसमें एकदम डूब गया है। या तो युद्ध का इतना गाढ़ा रंग चंद के किसी अनाड़ी चित्रकार ने पोता है, या फिर चंद बहुत अच्छे कवि नहीं थे।'[2] मध्यकालीन ऐतिहासिक अथवा अर्ध ऐतिहासिक काव्यों में प्रायः अधिकांश में प्रेम तथा शौर्य का ऐसा ही असंतुलित, कहीं फीका कहीं अतिरंजित, वर्णन सभी कवियों ने किया है। ऐसे स्थलों पर जब हम वर्तमानयुगीन दृष्टि से वीर-काव्यों का निर्णय करने लगेंगे तो निराशा स्वाभाविक है। बख्तियार खिलजी ने केवल दो सौ घोड़ों से समूचे अंग-बंग के राजाओं को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जूं नहीं रेंगी—इसलिए यह वीर काव्य जनता से कोई संबन्ध नहीं रखते इसलिए इन्हें 'बैलेड काव्य' मानना शुक्ल जी के अतीत प्रेम का प्रमाण मात्र है—इस तरह की धारणा वाले आलोचक शायद यह भूल जाते हैं कि पृथ्वीराज ने संपूर्ण मध्येशिया और पश्चिमोत्तर भारत की शान्ति को नष्ट करने वाले महमूद गोरी को सत्रह बार पराजित भी किया था। हल्दीघाटी के युद्ध में राणा प्रताप ने जो शौर्य दिखाया, वह तत्कालीन जनता के लिए धर्म-गाथा बन गया था। यह सही है कि इन काव्यों में शौर्य का चित्रण बहुत ही अतिरंजना पूर्ण और कृत्रिम है, यह भी सही है कि इनमें प्रेम की प्रधानता है किन्तु यह एकदम 'क्षीयमाण मनोवृत्ति' का ही प्रतिबिंब है ऐसा कहना बहुत उचित नहीं है।

§ ३७१. हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रंश दोहों में शौर्य के नैसर्गिक रूप की बहुत ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इस शौर्य-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है इसके भीतर सामान्य

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठां संस्करण, पृ० ३१–३२
२. हिन्दी-साहित्य का आदि काल, पृष्ठ संख्या ८८

जीवन की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता की प्रेरणा। आलोचकों को रासो काव्यों के रूढ़िवादिता, अतिरंजना और अतिशयोक्ति पूर्ण उन वर्णनों से शिकायत रही है, जिनमें युद्धका निश्चित उपकरणोंके आधार पर वर्णन कर दिया जाता है, घोड़ों की जाति गिनाकर, अस्त्र-शस्त्रों के नामों की एक लम्बी सूची बनाकर तथा भयंकरता और दर्प को सूचित करने के लिए तोड़े-मरोड़े शब्दों की विचित्र पलटन खड़ी करके कवि युद्ध का वातावरण उपस्थित करने का कृत्रिम प्रयत्न करता है, हेमचन्द्र के अपभ्रंश-दोहों में इस प्रकार के शब्द-जालिक युद्ध का वर्णन नहीं है। यहाँ युद्धोन्माद 'तड़ातड़-भड़ाभड़' वाले शब्दों की ध्वनि में नहीं, सैनिक के रक्त में दिखाई पड़ता है जिसके लिए युद्ध दिनचर्या है, तलवार जीविका का साधन।

स्वतंत्रता-प्रिय उन्मुक्त जीवन व्यतीत करने वाली जातियों के जीवन के दोनों ही पक्ष शृंगार और शौर्य इन दोहों में साकार हो उठे हैं। यह शौर्य ऐसा है जिसमें शृङ्गार सहयोग देता है। नायिका को अपने प्रिय के अपूर्व त्याग पर श्रद्धा है, वह जानती है अपनी आज़ादी के लिए वह सब कुछ निछावर कर देगा—बस बच रहेगी घर में प्रिया और हाथ में तलवार :

मह्नु कन्तहु बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु
देन्तहो हउ पर उव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु (४।३७९)

एक ओर प्रिया अपने प्रिय की मृत्यु पर सखियों से संतोष व्यक्त करती हुई कह सकती है कि अच्छा हुआ जो वह युद्ध भूमि में मारा गया, कहीं भाग कर आता तो मेरी हंसाई होती वहीं अपने बाहुबली और निरन्तर युद्धोद्यत प्रिय के लिए चिन्तित होकर निःश्वासें भी लेती है। सीमा-प्रदेश का निवास, संकोची प्रिय, स्वामी की कृपा और उसका 'बाहु बलुल्लडा' पति—भला शान्ति कैसे रह सकती है :

सामि पसाउ सलज्जु पिउ सीमा संधिहिं वासु
पेक्खिवि बाहु बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु (४।४३०)

निरन्तर युद्ध में लिप्त, रणक्षेत्र को ही सुहाग-शैया मानने वाली प्रियतमा शान्ति के दिनों में उदास हो जाती है। भला वह भी कोई देश है जहाँ लड़ाई-भिड़ाई न हो। वह अपने प्रिय को दूसरे देश में जाने का सलाह देती है जहाँ युद्ध होता हो, यहाँ तो बिना युद्ध के स्वस्थ रहना कठिन है :

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहु
रण दुब्भिक्खे भग्गाइँ विणु जुज्झे न वलाहु (४।३८६)

§ ३७२. प्राकृतपैंगलम् की चारण शैली की रचनाओं में शौर्य का रूप यद्यपि हेमचन्द्र-संकलित दोहों में अभिव्यक्त शौर्य की तरह उन्मुक्त और स्वाभाविक नहीं है, किन्तु इसे हम परवर्ती रासो काव्यों की तरह नितान्त रूढ़ और भाव-शून्य नहीं कह सकते। ये रचनायें न केवल भाषा की दृष्टि से ही प्राचीन अपभ्रंश और चारण शैली की ब्रजभाषा के बीच की कड़ी कही जा सकती हैं बल्कि काव्य-वस्तु और कौशल में भी इन्हें हम उपर्युक्त दोनों प्रकार की रचनाओं का मध्यन्तरित विकास कह सकते हैं। इन रचनाओं में वे सभी रूढ़ियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं जिनका परवर्ती विकास रासो काव्यों में तथा आगे चलकर भूषण, सूदन, लाल आदि कवियों की ब्रजभाषा-रचनाओं में दिखाई पड़ता है। हम्मीर युद्ध के लिए चले, युद्ध प्रयाण के समय की परिस्थिति का चित्रण कवि-शब्दों में इस प्रकार है :

अन्योक्ति वाले दोहों में भ्रमर, गज, धवल (बैल), सागर, आदि को लक्ष्य करके बड़ी अपूर्व अन्योक्तियाँ कही गई हैं। इस प्रकार की अन्योक्तियों की पद्धति परवर्ती काल के गिरधर दास, वृन्द तथा रहीम आदि में दिखाई पड़ती हैं। एक दोहे में कवि हाथी को संबोधित करते हुए कहता है कि हे कुंजर, सल्लकियों को याद करके लम्बी सासें न लो, विधिवश जो कुछ प्राप्त है उसे चर कर संतोष करो, मान मत छोड़ो।

कुंजरि सुमरि म सल्लइउ सरला सांस म मेल्लि
कवलजि पाविय विहि वसिण ते चरि माणु म मेल्लि (४।३८७)

दूसरे पद्य में भ्रमर को सम्बोधित करके कहा गया है—हे भ्रमर नीम पर कुछ दिन विरम रहो, जब तक घने पत्तों वाला छायाबहुल कदम्ब नहीं फूल जाता।

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु
घण पत्तलु छाया बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु (४।३८७)

परवर्ती ब्रज में भी इन दोनों प्रकार की शैलियों में सूक्तिकाव्य लिखे गए। ठक्कुरसी का गुण वेलि या पञ्चेन्द्रिय वेलि मुख्यतया नीतिपरक काव्य ही है। उसी प्रकार डूँगर कवि की बावनी में भी प्रत्येक छप्पय में किसी न किसी नीति का संदेश दिया गया है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि विष्णुदास ने संवत् १४९२ में महाभारत कथा की रचना की थी, इस ग्रन्थ के आरम्भ में नीतिपरक बहुत ही उच्चकोटि के पद्य दिए हुए हैं। कवि ने बड़े तीखे शब्दों में धर्मध्वजों, पाखंडियों, याचकों आदि की निन्दा की है :

बिनसै धर्म किये पाखंड़, बिनसै नारि गेह परचंड़।
बिनसै रॉड़ पढ़ाये पांडे, बिनसै खेले ज्वारी डाँड़े ॥१॥
बिनसै नीच तनैं उपजारू, बिनसै सूत पुराने हारू।
बिनसै मांगनो जरै जु लाजै, बिनसै जूझ होय बिनु साजै ॥२॥
बिनसै मंदिर रावर पासा, बिनसै काज पराई आसा।
बिनसै विद्या कुसिखि पढ़ाई, बिनसै सुन्दरि पर घर जाई ॥४॥
बिनसै खेती आरसु कीजै, बिनसै पुस्तक पानी भीजै ॥७॥
बिनसै देह जो राँचे बेस्या, बिनसै नेह मित्र परदेसा ॥८॥

छीहल कवि की बावनी के एक-एक छप्पय नीति के रत्न हैं जो अपनी प्रभा से उद्भासित और प्रकाशित हैं। परिशिष्ट में ऐसे बहुत से छप्पय संलग्न हैं। इनमें लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से मर्यादा, नीति और न्याय के पक्ष का समर्थन करते हुए पाखंडियों, धनकुबेरों, स्वार्थियों की खबर ली है। उदाहरण के लिए केवल एक छप्पय नीचे दिया जाता है :

अमृत जिमि सुरसाल स्रवति धुनि वदन सुहाई
पंखिन मांहि परसिद्धि लहै सो अधिक बड़ाई
अंब वृच्छ मनि बसइ प्रमइ निर्मल फल सोई
ए गुण कोकिल मांहि देखि वन्दइ नहि कोई
पापिष्ट मांस खञ्जन मुकर करत सदा क्रमि मख भुगति
छीहल ताहि पूजइ जगत करम तणी विपरीत गति

पभ भर हयमह धरनि तरनि रह तुट्टिय मंडिय
कमठ पिट्ठ हर फलिय सेस मंदर गिर कंपिय
कोह चलिय हम्मीर बीर गजजूह संजुत्ते
किगउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छइ के पुत्ते

—पृष्ठ १२ पद संख्या १५७

इस प्रकार नायक के शौर्य और दर्प का अतिरंजना पूर्ण वर्णन पृथ्वीराज रासो आदि में बहुत हुआ है।

नीति-काव्य

§ ३७३. नीतिपरक काव्य-रचना की पद्धति काफी प्राचीन है। संस्कृत में लिखे हुए ऐसे काव्यों की संख्या बहुत बड़ी है। नीति मुक्तकों और सुभाषितों का आरम्भ पञ्चतंत्र से ही माना जा सकता है। वैसे स्मृतिग्रन्थ, महाकाव्यों, पुराणों, नाटकों तथा परवर्ती निजंधरी कथाओं में भी स्फुट नीतिपरक श्लोक उपलब्ध होते हैं। इन मुक्तकों में जीवन की अनुभूतियाँ, विचारों की गहराई और अर्थवत्ता तथा अत्यंत उच्चकोटि की संस्कारी कवित्वपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है। भर्तृहरि का नीति शतक, अमरुशतक, तेरहवीं शती के श्रीधरदास का सदुक्तिकर्णामृत, चौदहवीं शती का शार्ङ्गधर पद्धति, वल्लभदेव का सुभाषितावली, अमितगति का सुभाषित संदोह संस्कृत में लिखे नीति-श्लोकों के भांडार हैं। प्राकृत भाषाओं में भी इस *प्रकार के काव्य का बहुत विकास हुआ। गाथा सप्तसती में एक ओर जहाँ प्रेम और शृङ्गार* के सरस वर्णनों से युक्त गाथायें संकलित हैं, वहीं नीतिपरक गाथाओं का भी सुन्दर संग्रह हुआ है।

§ ३७४. ब्रजभाषा के नीति-काव्य का आरम्भ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों को देखते हुए *१० वीं शती से ही मानना चाहिए। नीति-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है, वह सूक्ष्म* दृष्टि जो मनुष्य के संघर्षरत जीवन को गहराई से देखती है, मानसिक उथल-पुथल और नाना प्रकार के परस्पर विरोधी विचार-धाराओं के उद्वेलन में, किंकर्तव्य विमूढ़ता की परिस्थिति में फँसे हुए मनुष्य को संतुलित जीवन का सही रास्ता दिखाती है। इस स्पष्ट जीवन—दृष्टि के लिए कवि का अत्यंत संस्कारी होना भी आवश्यक है। विचार-मंथन से उत्पन्न सार तत्व को कविता की भाषा में आबद्ध करना भी एक अत्यंत कठिन कौशल का कार्य है। जो इन दोनों ही गुणों को अर्थात् विचारों की स्पष्टता और कवित्व पूर्ण अभिव्यक्ति को एकत्र समुपस्थित कर सके, वही उच्चकोटि का नीतिपरक काव्य लिख सकता है। हेमचन्द्र-संकलित दोहों में इन दोनों पक्षों का सुन्दर सामंजस्य दिखाई पड़ता है। इन दोहों में दो प्रकार की शैली का प्रयोग किया गया है। कुछ मुक्तक तो सीधे नीतिपरक हैं, *कुछ में अन्योक्ति का सहारा लेकर कथ्य की अभिव्यक्ति* का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। जीवन किसे प्यारा नहीं होता, धन किसे इष्ट नहीं होता, किन्तु समय पड़ने पर जो इन दोनों को तृण के समान त्याग सकता है, वही श्रेष्ठ है—

जीवउ कासु न वल्लहउं धण पुणु कासु न इट्ठु
देण्णि वि अवसर निवडिअइं तिण सम गणइ विसिट्ठु (४।३५८)

अन्योक्ति वाले दोहों में भ्रमर, गज, धवल (बैल), सागर, आदि को लक्ष्य करके बड़ी अपूर्व अन्योक्तियाँ कहीं गई हैं। इस प्रकार की अन्योक्तियों की पद्धति परवर्ती काल के गिरधर दास, वृन्द तथा रहीम आदि में दिखाई पड़ती हैं। एक दोहे में कवि हाथी को संबोधित करते हुए कहता है कि हे कुंजर, सल्लकियों को याद करके लम्बी साँसें न लो, विधिवश जो कुछ प्राप्त है उसे चर कर संतोष करो, मान मत छोड़ो।

कुंजरि सुमरि म सल्लइउ सरला सांस म मेल्लि
कवलजि पाविय विहि वसिण ते चरि माणु म मेल्लि (४।३८७)

दूसरे पद्य में भ्रमर को सम्बोधित करके कहा गया है—हे भ्रमर नीम पर कुछ दिन विरम रहो, जब तक घने पत्तों वाला छायाबहुल कदम्ब नहीं फूल जाता।

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु
घण पत्तलु छाया बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु (४।३८७)

परवर्ती व्रज में भी इन दोनों प्रकार की शैलियों में सूक्तिकाव्य लिखे गए। ठक्कुरसी का गुण वेलि या पञ्चेन्द्रिय वेलि मुख्यतया नीतिपरक काव्य ही है। उसी प्रकार डूँगर कवि की बावनी में भी प्रत्येक छप्पय में किसी न किसी नीति का संदेश दिया गया है। व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि विष्णुदास ने संवत् १४९२ में महाभारत कथा की रचना की थी, इस ग्रन्थ के आरम्भ में नीतिपरक बहुत ही उच्चकोटि के पद्य दिए हुए हैं। कवि ने बड़े तीखे शब्दों में धर्मध्वजों, पाखंडियों, याचकों आदि की निन्दा की है :

विनसै धर्म किये पाखंडू, विनसै नारि गेह परचंडू।
विनसै राँड पढ़ाये पांडे, विनसै खेले ज्वारी डाँडे ॥१॥
विनसै नीच तनै उपजारू, विनसै सूत पुराने हारू।
विनसै मांगनो जरै जु लाजै, विनसै जूझ होय बिनु साजै ॥२॥
विनसै मंदिर रावर पासा, विनसै काज पराई आसा।
विनसै विद्या कुसिष्यि पढ़ाई, विनसै सुन्दरि पर घर जाई ॥४॥
विनसै खेती आरसु कीजै, विनसै पुस्तक पानी भीजै ॥७॥
विनसै देह जो राँधे वेस्या, विनसै नेह मित्र परदेसा ॥८॥

छीहल कवि की बावनी के एक-एक छप्पय नीति के रत्न हैं जो अपनी प्रभा से उद्भासित और प्रकाशित हैं। परिशिष्ट में ऐसे बहुत से छप्पय संलग्न हैं। इनमें लेखक ने बड़ी पटुता से मर्यादा, नीति और न्याय के पक्ष का समर्थन करते हुए पाखंडियों, धनकुबेरों, स्वार्थियों की खबर ली है। उदाहरण के लिए केवल एक छप्पय नीचे दिया जाता है :

अमृत जिमि सुरसाल स्रवति धुनि वदन सुहाई
पंखिन मंहि परसिद्धि लहै सो अधिक बड़ाई
अंब वृक्ष मनि बसइ प्रसइ निर्मल फल सोई
ए गुण कोकिल मांहि पेपि वन्दइ नहिं कोई
पापिष्ट नीच खञ्जन सुकर करत सदा क्रमि मल भुगति
छीहल ताहि पूजइ जगत करम तणी विपरीत गति

§ ३७५. आरम्भिक ब्रजभाषा में वर्तमान इन मुख्य प्रवृत्तियों के इस विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि परवर्ती ब्रज की सभी मुख्य धारायें किसी न किसी रूप में इन्हीं के विकसित रूप हैं। भक्ति काव्य, जैन काव्य, वीर, शृङ्गार अथवा नीति काव्य का विकास ब्रजभाषा में आकस्मिक रूप से नहीं हुआ और न तो इसकी पृष्ठभूमि में केवल संस्कृत काव्य की प्रेरणा ही थी, बल्कि १००० से १६०० संवत् तक के ब्रजभाषा साहित्य में इनके बीजबिन्दु वर्तमान थे, इनका विकास इसी काव्य की पृष्ठभूमि पर आगे संपन्न हुआ।

प्राचीन व्रज के काव्य रूप

उद्गम-स्रोत और विकास

§ ३७६. रूप और पदार्थ दोनों ही सापेक्ष्य शब्द हैं। आकार या रूप के बिना वस्तु की और वस्तु के आधार के बिना आकार की कल्पना नहीं हो सकती। अशरीरी वस्तुओं के भी रूप होते हैं जो केवल बोधगम्य हैं, वे स्थूल इंद्रियों के विषय नहीं हो सकते। इसीलिए अरस्तू ने रूप या आकार (Form) की परिभाषा बताते हुए कहा था कि किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध कराने वाले चार कारणों में रूप या आकार प्रथम कारण है। दो कारण वस्तु से बहिर्भूत (Extrinsic) हैं अर्थात् उसका स्रष्टा और प्रयोजन। दो वस्तु में अंतर्निहित होते हैं, एक वस्तु का उपादान कारण और दूसरा उसका रूपाकार कारण। भौतिक कारण वस्तु के उपकरण का परिचय देता है और आकार उसे 'वह' बनाता है जो वह है। इस प्रकार अरस्तू के मत से रूप केवल बाहरी ढांचे या ऊपरी आकार का नाम नहीं है बल्कि वह निर्माण-प्रक्रिया के नियमों को व्यक्त करता है। कला के क्षेत्र में इस रूप या फार्म का अर्थ बाहरी आकार-प्रकार नहीं है बल्कि रूप में वह सब कुछ शामिल है जो किसी वस्तु को स्पष्ट करने, उसकी अभिव्यक्ति कराने तथा उसके अस्तित्व का स्पष्ट बोध कराने में समर्थ हो।[1] इस प्रकार काव्य-रूप का मतलब छन्द, अलंकरण या सजावट नहीं बल्कि भाव या व्यक्तव्य वस्तु को स्पष्ट करने की एक निश्चित प्रणाली है। यह शैली नहीं है, इसी कारण यह कवि की व्यक्तिगत विशिष्टता नहीं है। काव्य मीमांसा में राजशेखर ने काव्य-पुरुष का वर्णन किया है, वह कई दृष्टियों से प्राचीन होते हुए भी, आजकल प्रचलित अर्थ को भलीभांति व्यक्त करता है। 'शब्दार्थ इस पुरुष का शरीर है, संस्कृत

1. Dictionary of world literary terms, Ed. J. T. Shipley London, 1955 p p. 161.

(भाषा) मुख है—सम, प्रसन्न, मधुर, उदार, ओजस्वी इसके गुण हैं, रस आत्मा है, छन्द रोम हैं, प्रश्नोत्तर, पहेलियां, समस्या आदि वाग्विनोद हैं, अनुप्रास, उपमा आदि उसे अलंकृत करते हैं।'[1] रस और गुण को छोड़कर बाकी सभी वस्तुयें काव्यपुरुष के बाहरी रूप को व्यक्त करनेवाली बताई गई हैं। इसमें शब्द, भाषा, अलंकरण, वाग्विनोद, पहेलियाँ, प्रश्नोत्तर आदि रूप-तत्व (फारमल एलीमेन्ट्स) मिलकर काव्य के कलेवर की सृष्टि करते हैं।

§ ३७७. काव्य रूपों का निर्माण, उनके उद्भव और विकास की प्रक्रिया देश-काल की सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से परिचालित होती हैं। भाषा और कवि की कारीगरी पर भी इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। काव्यरूप तो किसी भाषा को बहुत वर्षों की साधना से उपलब्ध होते हैं इसलिए इनमें परिवर्तन शीघ्र नहीं होता किन्तु जब सामाजिक परिस्थितियों में कोई बहुत बड़ी उथल पुथल या परिवर्तन होता है तब काव्य-रूपों के भीतर भी परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। मेलार्मे वस्तु और रूप की समस्या पर विचार करते हुए कहते हैं "कवि के लिए कविता-निर्माण का सबसे बड़ा उपकरण भाषा है जो कवि को उसके देश और काल के अनुसार प्राप्त होती है। किन्तु भाषा कभी भी पूर्णतः रूप-आकारहीन उपकरण नहीं है, यह मनुष्य की युगोंकी साधना की उपलब्धि है जिसमें हजारों प्रकार के काव्य-रूप निर्मित होते रहते हैं।'[2] वस्तुतः कवि की सबसे बड़ी परीक्षा यहीं पर होती है कि वह अपनी व्यक्तव्य भाव-वस्तु के लिए किस प्रकार का रूप चुनता है। यदि उसके चुनाव में सामंजस्य और औचित्य हुआ तो उसकी सफलता निःसंदिग्ध है। टी० एस० इलियट ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है कि '*कुछ काव्य रूप ऐसे होते हैं जो किसी निश्चित भाषा के लिए ही उपयुक्त होते हैं और फिर बहुत से उस भाषा में भी किसी काल-विशेष में ही लोकप्रिय हो पाते हैं।*'[3] इसी को थोड़ा बदल कर कह सकते हैं कि भाषाओं के परिवर्तन के कारण काव्यरूपों में भी परिवर्तन अनिवार्यतः होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'जब जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ आती हैं, नई आचार-परम्परा का प्रचलन होता है, नये काव्य-रूपों की उद्भावना होती है, और नये छन्दों में जनचित्त मुखर हो उठता है, नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है।'[4] इस प्रकार काव्यरूपों का पूरा इतिहास नाना प्रकार के तत्वों के मिश्रण से बना हुआ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के काव्य रूपों का विश्लेषण किया जाये तो इनमें न जाने कितने प्रकार के विदेशी तत्व दिखाई पड़ेंगे। संस्कृतियों के संमिश्रण का प्रभाव केवल भाषा, आचार-व्यवहार, धर्म-संस्कारों में ही नहीं दिखाई पड़ता, बल्कि भवन्य सूक्ष्म कलाओं, संगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि में भी दिखाई पड़ता है।

---

१. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं···समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि। प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति। तृतीय अध्याय, राजशेखर, काव्य मीमांसा, पटना १९५४ ईस्वी, पृ० १४

२. [illegible] हिन्दी के साहित्य कोश में उद्धृत, पृ० १९८

३. टी० एस० इलियट : केर मेमोरियल लेक्चर्स : [illegible], खण्ड १, पृ० [illegible]

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० ५०

§ ३७८. संस्कृत के लक्षणकारों ने बहुत से अभिजात काव्यरूपों का अध्ययन किया था। महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, मुक्तक, रूपक आदि काव्य प्रकारों पर सविस्तर विवेचन किया गया है, किन्तु बहुत से ऐसे काव्य रूप, जो प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं में लोक-प्रचलित काव्य प्रकारों से लिए गए, संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में विवेचित नहीं हो सके हैं। आरम्भिक ब्रजभाषा में दोनों प्रकार के काव्य रूप मिलते हैं, प्राचीन अभिजात काव्य रूप जो समय के अनुसार बदलते और विकसित होते रहे हैं साथ ही लोकात्मक काव्य रूप जिन्हें कवियों ने जन-काव्यों में प्रयुक्त देखा और इनकी लोकप्रियता से आकृष्ट होकर इन्हें किंचित् परिष्कृत करके साहित्यिक भाषा में भी अपना लिया। इस प्रकार के काव्य रूपों की संख्या काफी बड़ी है। हम केवल थोड़े से अत्यंत प्रसिद्ध प्रकारों पर ही विचार करना चाहते हैं। आरम्भिक ब्रजभाषा में निम्नलिखित काव्य रूप महत्त्वपूर्ण हैं :

(१) चरित काव्य—प्रद्युम्न चरित (१४११ संवत्), हरिचन्द पुराण (१४५३ संवत्), रैदास कृत प्रह्लाद चरित (१५ वीं शती का अन्त) रणमल्ल छन्द (संवत् १४५०)।

(२) कथा-वार्ता—लखमणसेन पद्मावती कथा (संवत् १५१६), छिताई वार्ता (संवत् १५५० के लगभग), मधुमालती (संवत्१५५०तक)।

(३) रास और रासो—संदेसरासक (११ वीं शती), पृथ्वीराज रासो, खुमान-रासो, विजयपाल रासो, विसलदेव रासो आदि।

(४) लीला काव्य—स्नेह लीला (विष्णुदास १४६२ विक्रमी) तथा परशुराम देव की कई लीलासंज्ञक रचनाएं।

(५) षड्ऋतु और बारहमासा—संदेस रासक का षड्ऋतु वर्णन, पृथ्वीराज रासो का षड्ऋतु वर्णन, नेमिनाथ चउपई तथा नरहरि भट्ट का बारहमासा।

(६) बावनी—डूँगरबावनी (१५४८ संवत्), छीहलबावनी (१५८४ संवत्)।

(७) विप्रमतीसी—परशुराम देव की विप्रमतीसी, कबीर-बीजक की विप्रमतीसी।

(८) वेलि काव्य—कवि ठक्कुरसी की पञ्चेन्द्रिय वेलि (१५५० विक्रमी) तथा नेमि राजमति वेलि।

(९) गेय मुक्तक—विष्णुदास, सन्त-कवियों तथा संगीतज्ञ कवियों आदि के गेय पद।

(१०) मंगल काव्य—रासो का विनय मंगल, विष्णुदास का रुक्मिणी मंगल, नरहरि भट्ट का रुक्मिणी मंगल तथा मीरांबाई का नरसी का माहेरो।

इन रूपों के उद्गम-स्रोत इनका ऐतिहासिक विकास तथा इनकी शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन आवश्यक है। सूरोत्तर ब्रजभाषा के काव्य-रूपों के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। परवर्ती ब्रज के बहुत से काव्य-रूपों के विकास की एकसूत्रता बताने के लिए अनुमान से काम लेना पड़ता था। नीचे हम इन काव्य-रूपों के शास्त्रीय और लौकिक दोनों पक्ष प्रस्तुत करते हैं।

चरित-काव्य

§ ३७९. चरित काव्य मध्यकालीन साहित्य का सबसे प्रसिद्ध साथ ही सर्वाधिक गुंफित और उलझा हुआ काव्य रूप है। संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा को अग्रसरित करने वाला

यह काव्य रूप न जाने कितने प्रकार के देशी-विदेशी काव्य-रूपों से प्रभावित हुआ है। इसमें कितना तत्व संस्कृत महाकाव्यों का है, कितना परवर्ती प्राकृत-अपभ्रंश के धार्मिक काव्यों का। यह निर्णय करना भी कठिन है। चरित काव्य की शैली में विदेशी ऐतिहासिक काव्यों की शैली का प्रभाव पड़ा है। यही नहीं चरित काव्य लोकविश्वासोद्भूत नाना प्रकार की निजंधरी-कथाओं, रोमांचक तथा काल्पनिक घटनाओं के ऐन्द्रजालिक वृत्तान्तों से इतना रंगा हुआ है कि उसमें ऐतिह्य का पता लगा सकना भी एक दुस्तर कार्य है। मध्य काल में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा नवोदित देशी भाषाओं में चरित नाम के सैकड़ों काव्य लिखे गए। सब समय चरित नाम से अभिहित रचना, जो इस काव्य रूप की शैली से युक्त होती है, इसी नाम से नहीं पुकारी गई है। प्रकाश, विलास, रूपक, रासो[1] आदि इसके विभिन्न नाम रहे हैं जिनमें शुद्ध रूप से इसी शैली को नहीं अपनाया गया है। फिर भी इसके रूपतत्व के जाने कितने उपकरण, कौशल और तरीके उन काव्यों में भी अपनाये गए हैं। कथा, आख्यान, वार्ता, आदि नामों से संकेतित आख्यानक काव्यों में भी इस शैली का तथा इसके काव्य-रूप का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यही नहीं सभी चरित काव्यों ने अपने को कथा भी कहा है। चरित काव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही। तुलसीदास जी का रामचरित मानस 'चरित' तो है ही कथा भी है। उन्होंने कई बार इसे कथा कहा है।'[2] स्पष्ट है कि चरित काव्य की अत्यंत-शिथिल परिभाषा प्रचलित थी जिसके लपेट में कोई भी पद्यबद्ध इतिवृत्तात्मक काव्य आ सकता था। इस प्रकार की परिभाषा क्यों और कैसे निर्मित हुई, चरित-काव्य का पूरा इतिहास क्या है—आदि प्रश्न न केवल इस साहित्यिक प्रकार (फार्म) को समझने में सहायक होंगे, बल्कि इनसे मध्यकालीन साहित्य के अनेक काव्य रूपों के स्वरूप-निर्धारण में भी सहायता मिल सकती है।

§ ३८०. संस्कृत महाकाव्यों के लक्षणों के बारे में काफी विस्तार से विचार हुआ है।[3] संस्कृत आचार्यों के महाकाव्य-विवेचन का पूर्ण विश्लेषण करने पर निम्नलिखित लक्षण सर्वमान्य रूप से निर्धारित हो सकते हैं।

---

१. श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'रास, विलास, प्रकाश और रूपक संज्ञक रचनाओं में चरित काव्यों की गणना की है :

(१) रासो—रायमल रासो, राणा रासो, जगतसिंघ रासो, रतन रासो आदि। -

(२) प्रकाश—राज प्रकाश, सूरज प्रकाश, भीमप्रकाश, कीरत प्रकाश

(३) विलास—राज विलास, जग विलास, विजै विलास, रतन विलास

(४) रूपक—राजरूपक, राव रणमल्ल रो रूपक, महाराज गजसिंघ रो रूपक आदि। राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ५०

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ५२

३. महाकाव्य के लक्षणों के लिए द्रष्टव्य : भामह, काव्यालंकार १।१९–२१, दण्डी काव्यादर्श १।१४–१९, रुद्रट, काव्यालंकार १६।२–१९, हेमचन्द्र काव्यानुशासन आठवां अध्याय तथा कविराज विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का छठ परिच्छेद

(१) कथानक की दृष्टि से महाकाव्य किसी अतिप्रसिद्ध घटना पर अवलम्बित होता है जिसका स्रोत पुराण या इतिहास हो सकता है। कथा ख्यात और उत्पाद्य या काल्पनिक दो प्रकार की होती है किन्तु महाकाव्य की कथा का अधिकांश ख्यात रहना चाहिए, साथ ही रोमांचक, निजंधरी, लोक-कथा आदि का भी सहारा लिया जा सकता है।

(२) महाकाव्य का नायक संस्कारी और धीरोदात्त होना चाहिए ताकि उसके चरित्र के प्रति लोगों का आकर्षण हो। सत्यासत्य के संघर्ष के लिए, जो जीवन में अनिवार्यतः होता है, प्रतिनायक का होना भी अनिवार्य है।

(३) प्रकृति और परिस्थितियों का विशद वर्णन देश-काल की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, वातावरण के चित्रण के बिना कथा को समुचित आधार प्राप्त नहीं होता।

(४) महाकाव्य की शैली के बारे में आचार्यों ने बहुत बारीकी से विचार किया है। सर्ग, छन्द, आरंभ-अन्त, मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा तथा दुर्जन-निन्दा, रस, अलंकार भाषा आदि का समुचित प्रयोग और निर्वाह होना चाहिए। ये संक्षिप्त में महाकाव्य के सर्वमान्य लक्षण हैं। परवर्ती संस्कृत महाकाव्य कला-सौन्दर्य पर अधिक ध्यान देने तथा लाक्षणिक रूढ़ियों से पूर्णतः आबद्ध हो जानेके कारण अलंकरण-प्रधान काव्य-कोटि में रखे जाते हैं।

§ ३८१. संस्कृत के परवर्ती काव्यों में ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन को भी कथा-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया। इस प्रकार संस्कृत महाकाव्यों की निम्नलिखित श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं।

१—शास्त्रानुशासित महाकाव्य, २—पौराणिक शैली के महाकाव्य तथा ३—ऐतिहासिक महाकाव्य। प्रथम प्रकार के महाकाव्यों का विकास अत्यन्त रूढ़िवादी रीतिबद्ध महाकाव्यों के रूप में होने लगा। यह विकास रामायण-रघुवंश से आरम्भ होकर शिशुपाल वध और नैषधचरित में पूर्णता या अत्यन्त आलंकारिता को प्राप्त हुआ। पौराणिक शैली के महाकाव्यों का विकास प्राकृत-अपभ्रंश तथा परवर्ती भाषाओं में चरित काव्य के रूप में हुआ। तीसरी शैली के महाकाव्य चरित काव्यों तथा मध्यकालीन अलंकृत कथाओं (कादम्बरी आदि) की शैली से प्रभावित होकर अर्ध ऐतिहासिक तथा रोमांचक काव्यों (रासो आदि) में परिवर्तित हो गए।

चरित-काव्य के मध्यकालीन रूप का आरम्भ और विकास प्राकृत-अपभ्रंश के 'चरित' काव्यों में दिखाई पड़ता है। चरित काव्योंके कथानक मूलतः पौराणिक होते हैं। कभी-कभी पुराण नाम से भी चरित काव्य लिखे गए। हमारे आलोच्य काल में बाबू मणियार का 'हरिचन्द पुराण' ऐसा ही चरित काव्य है जिसमें हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा को प्रस्तुत किया गया है। छन्द और शैली की दृष्टि से भी चरित काव्य और पुराण-संज्ञक काव्यों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। पउमसिरि चरिउ की भूमिका में इस समता की ओर संकेत करते हुए डा० हरिवल्लभ भायाणी ने लिखा है कि 'स्वरूप (फार्म) की दृष्टि से अपभ्रंश के पुराण काव्यों और चरित काव्यों में कोई खास अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विस्तार होने से सन्धियों की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है जब कि चरित काव्यों में विषय विस्तार मर्यादित होता है। संधि, कड़वक, तुक तथा पंक्तियुगल आदि में कोई भेद नहीं है। सभी चरित-काव्य कड़वक बद्ध हों ऐसी भी बात नहीं, हरिभद्र कृतणेमिणाह चरिउ'

आद्यन्त रड्डा छन्द में है ।'[1] चरित काव्य और पुराण को कुछ लोग भिन्न भी बताते हैं। 'अद्दास एकपुरुषाश्रिता कथा' अर्थात् एक व्यक्ति के जीवन पर आधारित कथा को चरित कहेंगे जब कि पुराण का अर्थ 'त्रिषष्ठिपुरुषाश्रिता कथा' अर्थात् तिरसठ पुरुषों के जीवन पर आधारित कथा है ।[2] यह भेद चरित और पुराण काव्यों की शैली के उचित विश्लेषण पर आधारित नहीं प्रतीत होता । यह विभेद वस्तुगत है, इसलिए इस मान्यता से पुराण और चरित के शैली साम्य का विरोध नहीं दिखाई पड़ता । हिन्दी में रामचरित मानस को भी बहुत से लोग पुराण शैली का काव्य मानते हैं ।

§ ३८२. ब्रजभाषा के प्रद्युम्नचरित और हरिचन्द पुराण की शैली निःसन्देह जैन पौराणिक चरित काव्यों की शैली का विकसित रूप है। हरिचन्द पुराण का लेखक हिन्दू है इसीलिए हरिश्चन्द्र की कथा हिन्दू पुराणों की कहानी का अनुसरण करती है । प्रद्युम्न चरित में कवि ने हिन्दू पुराणों की कहानी को काफी परिवर्तित कर दिया है । प्रद्युम्न चरित नामक कई काव्य अपभ्रंश में मिलते हैं। इस ग्रन्थ की शैली पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इससे जैन और परवर्ती हिन्दी के चरित काव्य रूपों के बीच की कड़ी का संधान लग सकता है । ग्रन्थ आरम्भ इस प्रकार होता है :

सारद विणु मति कवितु न होइ, मकु आखर णवि बूझइ कोइ
सो सधारु पणयइ सुरसती, तिन्ह कहं बुधि होइ कत हुती ।।१।।
सब कोइ सारद सारद कहई, तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई
अठ दल कमल सरोवर वास, कासमीर पुर मांहि निवास ।२।
हंस चढ़ी कर लेखनि लेइ, कवि सधार सारद पणमेइ ।
सेत वस्त पद्मावतीण, करइ अलावणि वाजइ वीण ॥३॥

हिन्दी के रासो और चरित काव्यों में आदि में सरस्वती वन्दना का प्रायः यही रूप दिखाई पड़ता है । बीसलदेव रास के आरम्भ की सरस्वती वन्दना देखें

हंस वाहणि देवी कर धरइ वीण
मूढ़इउ कवित कहइ कुलहीण
वर दीयो माता सारदा भुलउ अषर आणि वहोडि
तइ तूठी अषर ठवइ, माल्ह वखाणइ बे कर जोडि

हरिचन्द पुराण के आरम्भ में जाखू मणियार-कृत सरस्वती वन्दना उपर्युक्त दोनों स्तुतियों से कितना साम्य रखती है ।

जय कुँवरि स्वामिनी स्वर साथ, सुर किन्नर मुनि लागइ पाँव
कियो सिंगार अलावण लेइ, हंस गमणि सारद वर देइ

---

1. चाँदिल रचित 'पउमसिरिचरिउ' भूमिका (गुजराती में) विद्याभवन, बम्बई २००५ संवत्, पृ० १५ ।

2. पुष्पदन्त कृत महापुराण की भूमिका में डा० पी० एल० वैद्य द्वारा उद्धृत महापुराण, भाग १, पृ० ३३ ।

उसी प्रकार कवि की हीनता का वर्णन भी सादृश्य-सूचक दिखाई पड़ता है।

हौं अति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो वखाण
मन उछाह मइ कियउँ विचित्त, पंडित जन सोहउ दे चित्त
पंडित जन विनवउँ कर जोरि, हउँ मति हीन म लावउ खोरि
(प्रद्युम्न चरित ७०१-२)

भाषा भनिति मोरि मति भोरी, हँसिवे जोग हसे नहिं खोरी
कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू
(तुलसी)

इस प्रकार के वर्णन निःसंदेह रूढ़िगत और मान्य परिपाटी के निर्वाह के प्रयत्न की ओर संकेत करते हैं, किन्तु ऐसे प्रसंगों से इनकी शैली के सादृश्य का कुछ न कुछ पता तो चलता ही है।

§ ३८३. चरित काव्यों की शैली की सबसे बड़ी विशेषता उनमें कथानक-रूढ़ियों के प्रयोग की है। ये कथानक रूढ़ियां हिन्दी के परवर्ती काव्यों पद्मावत, रामचरित मानस तथा किंचित् पूर्ववर्ती पृथ्वीराज रासो आदि में भी मिलती हैं। इस प्रकार के कथाभिप्रायों (Motifs) के प्रयोग मध्यकालीन संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की कथाओं में भी मिलते है। बृहत्कथा, कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि में इस प्रकार की कथा-रूढ़ियों की भरमार है। हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत लिखी गई कथाओं—छिताई वार्ता तथा लक्ष्मण सेन पद्मावती कथा में भी इस प्रकार की रूढ़ियां मिलती हैं। ऐतिहासिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्तियों से संबद्ध निजंधरी कथाओं में रूढ़ियों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। क्योंकि ऐतिहासिक चरित के लेखक संभावनाओं पर अधिक बल देते हैं। 'संभावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घ-काल से व्यवहृत होते आए हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल जाते हैं।'[1] इसी सत्य की ओर संकेत करते हुए विन्टरनित्ज ने लिखा है कि भारत में पुराण तत्व (Myths) निजंधरी कथाओं तथा इतिहास में भेद करने का कभी प्रयत्न नहीं किया गया। भारत में इतिहास-लेखन का मतलब महाकाव्य लिखने से भिन्न नहीं माना गया।[2] रासो काव्यों में इतिहास और कल्पना का अद्भुत संमिश्रण पाया जाता है। ये कल्पनायें अपनी लम्बी उड़ानें भर कर थक गईं और यथार्थ के अभाव में कल्पना के काव्य-प्रयोग दूसरे लेखकों के लिए अनुकरणीय विषय हो गए। इस प्रकार कथानक रूढ़ियों का जन्म होता रहा। मध्यकालीन काव्यों की कथानक रूढ़ियों के बारे में श्री एम० ब्लूमफिल्ड ने सन् १९१७-२४ के बीच जर्नल आव अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी में प्रकाशित अपने निबंधों में तथा पेंज़र ने कथासरित्सागर के नए संस्करण की टिप्पणियों में विस्तार से विचार किया है। श्री एम० एन० दासगुप्त और श्री एस० के० डे ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में संस्कृत काव्यों में प्राप्त

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४
2. As it has never been the Indian way to make clearly defined distincton between myth, legend and history, histriography in India was never more than a branch of epic poetry-A History of Indian Literature by Winternitz, calcutta, 1933, Vol. II, pp 208.

होनेवाली कथानक रूढ़ियों का परिचय और अध्ययन प्रस्तुत किया।[1] हिन्दी में इस तरह का पहला कार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया। आदिकाल के रासो के वस्तु विवेचन के सिलसिले में उन्होंने कथानक रूढ़ियों का विस्तृत विवेचन किया है। डा० द्विवेदी ने जिन २१ रूढ़ियों का परिचय दिया है वे इस प्रकार हैं।[2]

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा, (२) स्वप्न में प्रिय का दर्शन, चित्र देखकर भिक्षुकों आदि से सौन्दर्य-वर्णन सुनकर किसी पर मोहित होना (३) मुनि का शाप, (४) रूप परिवर्तन (५) परकाय प्रवेश, (७) आकाशवाणी, (८) अभिज्ञान या सहदानी, (९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या या रानी के बहन के रूप में अभिज्ञान (१०) नायक का औदार्य, (११) षड्ऋतु या बारहमासा के माध्यम से विरह वर्णन, (१२) हंस कपोत आदि से संदेश भेजना, (१३) घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँचना, (१४) सरोवर पर पहुँचना, सुन्दरी स्त्री का दिखाई पड़ना, प्रेम और प्रयत्न, (१५) विजन वन में सुन्दरी से साक्षात्कार, (१६) *कापालिक की वेदी से, या युद्ध से सुन्दरी स्त्री का उद्धार,* (१७) गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और उसकी माता द्वारा तिरस्कार, (१८) भरुण्ड और गरुण आदि के द्वारा प्रिय युगलों का स्थानान्तरकरण, (१९) प्यास और जल की खोज में जाते समय असुर दर्शन और प्रिय-वियोग, (२०) उजड़ नगर, (२१) दोहद पूर्ति के लिए असाध्य साधन का संकल्प और (२२) शत्रु-सन्तापित सरदार को शरण देना और फिर युद्ध।

पृथ्वीराज रासो की कथानक-रूढ़ियों पर विचार हो चुका है। द्विवेदीजी ने इो कथा-रूढ़ियों के आधार पर रासो के प्रामाणिक कथांशों के निर्णय का भी प्रयत्न किया है। हम अपने विवेच्य काल की कृतियों में आनेवाले कथाभिप्रायों का संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं। सधारु अग्रवाल के प्रद्युम्न चरित, दामो कवि की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा और नारायणदास की छिताई वार्ता में आने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण कथानक-रूढ़ियाँ इस प्रकार हैं।

प्रद्युम्न चरित की रूढ़ियाँ :

(१) बालक प्रद्युम्न को एक दैत्य उठाकर ले जाता है और एक शिला-खंड के नीचे दबाकर रख देता है। मृगया के लिए निकले हुए कालसंवर नरेश को यह बच्चा मिलता है और वे अपनी रानी के गूढ़ गर्भ की बात प्रचारित करके इसे अपना पुत्र बताते हैं।

(२) पुत्र वियोग से विकल रुक्मिणी को सान्त्वना देकर नारद बालक प्रद्युम्न को ढूँढ़ने निकलते हैं। जैन मुनि से मालूम होता है कि प्रद्युम्न पिछले जन्म में मधु नाम का राजा था। उसने वटपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रवती का अपहरण किया था। हेमरथ पत्नी-वियोग में पागल होकर मर गया उसी ने इस जन्म में उक्त दैत्य के रूप में जन्म लिया है। यह पुनर्जन्म की अत्यंत प्रचलित कथानक रूढ़ि है।

(३) प्रद्युम्न के अन्य भाइयों के मन में उसकी बढ़ती देखकर ईर्ष्या होती है। उसे नाना प्रकार से परेशान करने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं। पहाड़ से गिराना, कुएँ में

1. A History of Samskrt Literature Vol. 1. pp. 28-29
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४-७५

डालना, जंगल में छोड़ना, प्रद्युम्न हर स्थान पर किसी दैत्य, गर्धव को पराजित करके कई मायास्त्र तथा विद्यायें प्राप्त करता है।

(४) विपुल वन में प्रद्युम्न की अचानक एक अति सुन्दरी तपस्विनी से भेंट होती है, वह उससे प्रेम करता है और दोनों का गन्धर्व विवाह हो जाता है।

(५) यादवों की सेना को प्रद्युम्न अपने मायास्त्रों से पराजित करता है।

(६) दुर्योधन की पुत्री से बलपूर्वक विवाह करता है।

लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा की रूढ़ियाँ

§ ३८५. (१) सिद्धनाथ नामक कापालिक योगी आकाश मार्ग से उड़ कर जहाँ चाहे वहाँ पहुँचता है और भयंकर उत्पात मचाता है।

(२) पद्मावती को प्राप्त करने के लिए उसने एक सौ राजाओं के शिरच्छेदन का संकल्प किया और सबको मंत्र-शक्ति से अपहृत करके एक कुएँ में डाल दिया।

(३) लक्ष्मणसेन को भी छल से योगी ने उसी कुंए में ढकेल दिया। सभी बन्दी राजाओं को मुक्त करके लक्ष्मणसेन थका-प्यासा सामौर नगर के पास स्वच्छ जल के सरोवर पर पहुँचा, वहीं पद्मावती का रूप देखकर वह उसके प्रति आकृष्ट हुआ।

(४) स्वयंवर में ब्राह्मणवेषधारी लक्ष्मणसेन ने सभी राजाओं को पराजित किया और पद्मावती से विवाह किया।

(५) स्वप्न में सिद्धनाथ की भयंकर मूर्ति का दर्शन और पानी का मांगना। राजा दूसरे दिन योगी को ढूंढकर उससे मिला तो उसने स्वप्न वाली बात बताकर पद्मावती से उसके उत्पन्न प्रथम-पुत्र की याचना की। राजा यथावसर जब बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने लड़के को टुकड़े-टुकड़े काट देने की आज्ञा दी। लाचार लक्ष्मणसेन को वैसा ही करना पड़ा। वे कटे हुए टुकड़े खंग, धनुष बाण, वस्त्र और कन्या में बदल गए। मंत्र शक्ति और शाप तथा जादू-टोना की कथानक रूढ़ि कई काव्यों में इसी ढंग की प्राप्त होती है।

(६) राजा का पागल होकर जंगल में चला जाना। डूबने हुए एक लड़के की रक्षा करके वह उसके धनकुबेर पिता का कृपाभाजन बना। धारानगर की राजकुमारी से प्रेम और विवाह।

छिताई वार्ता की कथानक-रूढ़ियाँ

§ ३८६. (१) दिल्ली का चित्रकार देवगिरि की राजकन्या छिताई का चित्र बादशाह अलाउद्दीन को दिखाता है। छिताई के रूप से पराभूत अलाउद्दीन उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है।

(२) छिताई का पति सुरसी मृगया में मृग के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए मुनि भर्तृहरि के आश्रम पर पहुँचता है। हिंसा से विरत कराने वाले मुनि का अपमान करने के कारण उसे पत्नी-वियोग का शाप मिलता है।

(३) देवगिरि के किले को अलाउद्दीन घेर लेता है; पर तोड़ नहीं पाता। राघव चेतन अपनी अद्भुत मंत्र-शक्ति से हंसारूढ़ पद्मावती का दर्शन करके किले के गुप्त भेद प्राप्त करता है।

रुद्रट संस्कृत कथा का गद्य में लिखा जाना आवश्यक मानते
ो कथाएं भी उनके सामने थीं जो अगद्य में होती थीं। भामह ने इ
ने वाली कथाओं की शैली को दृष्टि में रख कर कथा के लक्षण
ा। उन्होंने लिखा कि सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानी वाली
जाता है। यह उच्छ्वासों में विभक्त होती है, वक्ता स्वयं नायक हो
त्र और अपवक्त्र छन्द आ जाते हैं। कन्याहरण, युद्ध तथा अन्त
होता है।'[1] भामह कथा को आख्यायिका से भिन्न मानते हैं।
न्होंने लिखा है कि कथा में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द नहीं होते
का विभाजन उच्छ्वासों में किया जाता है। कथा की कहानी
लिक दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप की पद्धति पर निर्मित होती है।
न नहीं होता।[2] दण्डी ने भामह द्वारा निर्धारित इन नियमों को
ाये इस श्रेणी-विभाजन को अनुचित बताया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि
के प्रयोग हों या न हों इससे कथा या आख्यायिका के रूप में
न आचार्यों के मतों के विवेचन करने के बाद डा० हजारीप्र
पहुँचे कि कथा संस्कृत से भिन्न भाषाओं (प्राकृतादि) में पद्य में लि
...न्यथा में उन दिनों निश्चय ही पद्य में लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्त
कथा कहा जाता था।"[4] संस्कृत के आचार्य इस गद्य-पद्य के माध्यम वाले प्रश्न
नहीं दिखाई पड़ते। दण्डी की ही तरह विश्वनाथ ने भी संस्कृत की कथा-आ
मूलतः गद्य-कृति माना जिसमें कभी-कभी छन्दों का भी प्रयोग होता था।"[5] कि
तरह हेमचन्द्र ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि संस्कृतेतर भाषाओं में कथाख्यायिका
भी होती हैं।[6] प्राकृत और अपभ्रंश कथाओं में अधिकांश पद्य ही में हैं इसलिए ऐ
है कि मध्यकाल में पद्यबद्ध कथाओं के लिखने का प्रचलन हुआ। संस्कृत के लेखक
लोकप्रिय काव्यरूप को लेकर संस्कृत में भी कथाओं में पद्य का प्रयोग आरम्भ किया।

संक्षेप में कथा के प्रधान लक्षण इस प्रकार रखे जा सकते हैं।

(१) कथा संस्कृत में गद्य में होती है, प्राकृत अपभ्रंशादि में पद्य में भी।

(२) कथा में कन्यालाभ-अर्थात् प्रेम, अपहरण, विवाह आदि वर्णन अनिवार्यतः
है। रुद्रट ने स्पष्ट कहा कि कथा का उद्देश्य ही शृङ्गार-सज्जित कन्या का लाभ है।

(३) कथानक सरस और प्रवाह युक्त होना चाहिए। कुछ कहानियों में जो विशि
व्यक्तियों के चरित्रों पर लिखी जाती हैं उनमें कल्पना के प्रयोग पर कुछ अंकुश हो सकता

---

१. भामह, काव्यालंकार, १।२५-२८
२. वही, २।२५-२८
३. काव्यादर्श १।२३-२८
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ...
५. कथायां सरस...

किन्तु भारतीय कथा में तो कल्पना का भी स्वच्छन्द प्रयोग होता है। अतिमानवी, निर्जीवी, सुरासुरवर्ग पात्रों का प्रयोग।

(४) शैली की दृष्टि से कथा एक अलंकृत काव्य कृति है।

हमारे विवेच्य काल में तीन कथायें प्राप्त होती हैं। लखमसेन पद्मावती कथा, छिताई वार्ता और मधुमालती। तीनों रचना के समय के विषय में अभी काफी वाद-विवाद है इसलिए उस पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। लखमसेन पद्मावती कथा है जैसा उसके नाम का अभिधान पर स्पष्ट करता है जबकि छिताई चरित को वार्ता कहा गया है।

§ ३८८. वार्ता कहानी का ही एक प्रकार है। वार्ता का अर्थ बातचीत या विवरण होता है। वार्ता में सामान्यतः मानव द्वारा निर्धारित कथन, कथा को कहने वाला व्यक्ति स्वयं नहीं होता बल्कि यह दो व्यक्तियों की वार्ता की पद्धति पर लिखी जाती है, वार्ता शब्द में निहित मालूम होता है। वार्ता या बात कहानी की एक श्रेणी है। बात नामक बहुत सी रचनायें राजस्थानी भाषा में लिखी हुई हैं। गुजराती में वार्ता का अर्थ ही कहानी होता है। राजस्थानी का बात साहित्य ऐतिहासिक व्यक्तियों पर भी लिखा गया है। जैसे राजा उदैसिंह री बात, राव सूरजमल री बात, राजा पीथैजी री बात, जैसलमेर री बात आदि। बात गद्य में भी लिखी जाती थी किन्तु पद्य में लिखा बात-साहित्य भी प्राप्त होता है। मधुमालती के कवि चतुर्भुजदास ने इस प्रेम-कथा को 'बात' ही कहा है।

मधुमालती बात यह गाई, दोष जवा मिलि सोय बनाई

चतुर्भुज कायस्थ और माधव ने मिलकर इस बात की रचना की थी। इसका काल डा० माता प्रसाद गुप्त विक्रमी १५५० मानते हैं। रचना काल पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। रचना में 'बात' को 'गाई' कहा गया है अर्थात् यह बात न केवल पदबद्ध ही होती थी बल्कि यह गेय भी होती थी। छन्दोबद्ध लोककथाओं—विजयमल, लोरिक, चन्दा आदि की तरह वार्ता या बात भी गाई जाती थी। गुजराती भाषा में बहुत से आख्यानक काव्यों का नाम 'वार्ता' मिलता है। प्रो० मंजुलाल मजूमदार ने 'गुजराती लोकवार्ताओं' की जो विशेषतायें बताई हैं[1] वे ब्रजभाषा की वार्ता या कथाओंपर भी लागू होती हैं। ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

(१) चक्षुराग अर्थात् प्रथम दर्शन का प्रेम, (२) प्रेम में वर्णाश्रम व्यवस्था की शिथिलता, (३) नारी के दैवी और आसुरी रूपों का विचित्र चित्रण, खास तौर से वेश्या, कुट्टिनी, पुंश्चली आदि का चित्रण, वेश्या की श्रेष्ठता का वर्णन, (४) नारी-पुरुष का वेश-परिवर्तन (५) जादू मंत्र तंत्र, कामण रत्न परीक्षा, मृत संजीवनी, जादुई छुड़ी, आकाशचारित, पवन पंखी घोड़ों आदि का वर्णन (६) नीति धर्म की शिक्षा, (७) पुनर्जन्म, (८) कुट राजनीति, षड्यंत्र, सद्राज्य की प्रशंसादि, (९) नगर राज्यों का वर्णन, और (१०) भयानक तथा अद्भुत रस का पोषण।

मजूमदार द्वारा संकेतिकक विशेषताओं में कई कथानक-रूढ़ियाँ हैं जिसके बारे में विस्तार से चरित काव्य के प्रसंग में विचार किया गया है।

---

१. गुजराती साहित्य नां स्वरूपो, बड़ौदा, १९५४ ई० पृ० १११–११

§ ३८६. लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा, छिताई वार्त्ता तथा मधुमालती तीनों ही प्रेमाख्यानक हैं। हिन्दी में प्रेमाख्यानक का अर्थ प्रायः अवधी में लिखा सूफी काव्य ही लगाया जाता है। इसीलिए बहुत से विद्वान् हिन्दी प्रेमाख्यानकों का आरंभ मुसलमानी संपर्क के प्रभाव से बताते हैं। परवर्ती काल में लिखी प्रेम-कहानियों पर सूफी साहित्य का ही प्रभाव नहीं है, बल्कि इन पर हिन्दू प्रेमाख्यानकों का, जो सूफियों के बहुत पहले से इस देश में लिखे जा रहे थे, प्रभाव मानना चाहिये। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने लिखा है कि 'नन्ददास कृत रूपमंजरी की प्रेम-कहानी में सूफियों द्वारा मसनवी ढंग पर लिखी प्रेम गाथाओं की किसी विशेषता अथवा आदर्श के अनुकरण का कोई चिह्न नहीं है, हाँ इन प्रेम-गथाओं की दोहा चौपाई की छन्द शैली का नमूना अष्टभक्तों के सम्मुख अवश्य था। ब्रजभाषा में प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए हैं। नन्ददास की रूपमंजरी, जिसमें निर्भयपुर के राजा धर्मवीर की कन्या रूपमंजरी की कहानी वर्णित है, प्रेमाख्यान ही है। भक्ति का प्राधान्य है, किन्तु शैली हिन्दू प्रेमाख्यानकों की है। माधवानल कामकन्दला (आलम कवि की) कविवर रामदास का उषा-चरित, मुकुन्द सिंह का नल-चरित्र, नरपति व्यास कृत नल दमयन्ती (१६८० के पूर्व) दामोदर कृत माधवानल-कथा (१७३७ लिपि काल) आदि प्रेम कथायें सूफी काव्यों की परम्परा में नहीं प्राचीन ब्रजभाषा के हिन्दू प्रेमाख्यानकों की परम्परा में विकसित हुई हैं। इन काव्यों में हिन्दू प्रेमाख्यानकों की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। रही दोहे चौपाई वाली शैली की बात। नन्ददास के भागवत दसम स्कंध भाषा के लिए भी सूफी प्रेमाख्यानकों की शैली को आदर्श मानना ठीक नहीं है। क्योंकि उनके पहले ब्रजभाषा में कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे जो दोहे चौपाई की ही शैली में हैं। विष्णुदास का रुक्मिणी-मंगल, मेघनाथ की गीता-भाषा, सधार अग्रवाल का प्रद्युम्न-चरित चौपाई छन्द में लिखे गए हैं। रुक्मिणी मंगल में तो दोहे चौपाई का क्रम भी है। शुक्लजी ने ठीक ही लिखा है कि 'आख्यान काव्यों के लिए दोहे चौपाई की परम्परा बहुत पुराने विक्रम की ग्यारहवीं शती के जैन चरित काव्यों में मिलती हैं।[2] इतना ही क्यों कालिदास के विक्रमोर्वशीय में दोहा तथा चौपाई की तरह का छन्द प्रयोग में लाया गया है।[3]

रासक और रासो

§ ३६०. रासक अथवा रासो मध्यकालीन भारतीय साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य रूप था। अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और ब्रजभाषा में लिखे हुए रास काव्यों की संख्या काफी बड़ी है। अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के अधिकांश रास काव्य जैन धार्मिक कथाओं को प्रस्तुत करते हैं, इसलिए विद्वानों की धारणा थी कि इस प्रकार के धार्मिक काव्य रूप को, विशेषतः जैन धर्म के नैतिकता-प्रधान और विरागोत्पादक जीवन को छन्दोबद्ध करने वाले काव्य प्रकार को—परवर्ती शृङ्गारमूलक रासो काव्यों से जोड़ना ठीक न होगा। शैली की दृष्टि से भी इस प्रकार की धारणा को पुष्टि मिलती थी। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासो को

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, संवत् २००४, पृ० २०

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ संस्करण, पृ० ७४

३. विक्रमोर्वशीय, ४।१२

शैली को देखते हुए, जो निःसन्देह रासा काव्य की शैली है, रासों और जैन रास काव्यों में जो भेद रूपक माने जाते हैं, सम्यक् स्थापित करना भी कठिन कार्य था। पिछले कुछ वर्षों में रास संज्ञक कई रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं और इनमें कई गुनी अधिक अप्रकाशित रचनाओं की सूचनाएँ मिली हैं। इन रासकों में सन्देशरासक की स्थिति कुछ भिन्न है। यह पहली रचना है जो अहिन्दू-अजैन लेखक ने लिखी, जिसमें धार्मिक-नैतिकता या आनुष्ठिकता का आतंक नहीं है। लेखक ने लौकिक प्रेम-व्यापार का चित्रण प्रस्तुत किया है। रास रचनाओं में इस प्रकार की जैन धर्म कथाओं के अलावा पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लौकिक प्रेम-प्रधान कथानकों को स्वीकार किया गया है। इस विपुल और अत्यंत महत्त्वपूर्ण काव्य प्रकार की शैली तथा वस्तु दोनों का ही अध्ययन परवर्ती मध्यकालीन हिन्दी-ब्रज साहित्य को समझने के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित है।

रासक काव्यों के बारे में संस्कृत के लक्षण ग्रंथों में यत्र-तत्र कुछ स्फुट विचार दिये हुए हैं। संभवतः रासक काव्य के विषय में सबसे पुराना उल्लेख अभिनवगुप्त की अभिनव-भारती में प्राप्त होता है।[1] गेय रूपों के डोंबिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक आदि भेद बताये गए हैं। यहां रासक की परिभाषा इस प्रकार बताई गई है।

अनेक नर्तकी योज्यं चित्रताललयान्वितं
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्

इस परिभाषा से मालूम होता है अभिनवगुप्त के समय (ईसवी दसवीं शती) में न केवल गेय रूपों में रासक भी शामिल किया जाता था, बल्कि यह भी मालूम होता है कि इसके अभिनय में अनेक नर्तकियाँ भाग लेती थीं, यह विचित्र प्रकार के ताल और लय से समन्वित होता था तथा इसमें चौसठ नर्तक-युग्म भाग लेते थे। मसृण और उद्धत इसके दो प्रकार होते थे। परवर्ती आचार्यों ने इसी विभाजन और लक्षण को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने इसी स्थान पर 'चिरन्तनैरुक्तानि' पद से यह भी संकेत कर दिया है कि पहले के आचार्यों ने भी ये लक्षण बताये हैं। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में पूर्वकृत-विभाजन को ही प्रस्तुत किया है। उनके मत से गेय काव्य के कई भेदों में एक रासक भी है।

गेयं डोम्बिका भाण प्रस्थान शिङ्गक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड
हल्लीसक रासकगोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि (काव्यानुशासन ८।४)

हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने अपने नाट्य-दर्पण में रासक का लक्षण इस प्रकार बताया है[2] :—

षोडस द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासै रासकं तदुदाहृतम्॥
पिण्डनात् तु भवेत् पिंडी गुम्फनाच्छृङ्खलाभवेत।
भेदनाद् भेद्यको जातो लताजालापनोदतः॥

---

1 Quoted by Dr. B J. Sandesara in his book Literary circle of Mahamatya Vastupala and its contribution to Samskrit literature in the Chapter on Apabhramsa Rasa, S. J. S. No. 33.

२. नाट्य-दर्पण, ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, ई० १९२९, भाग १ पृ० २१९-१९

कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते ।
रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥

रामचन्द्र ने अभिनव भारती वाले भेद को स्वीकार किया है। रासक की परिभाषा में अवश्य कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है किन्तु गीत नृत्य आदि का तत्व पूर्णतः स्वीकार किया गया है। वाग्भट्ट द्वितीय ने अपने काव्यानुशासन में उपर्युक्त विभाजन और लक्षण को पूर्णतः अपनाया है। 'डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिंगक-रामाक्रीड-हल्लीसक-श्रीगदित-रासक गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि' (काव्यानुशासन, पृष्ठ १८)। रासक की परिभाषा वही है जो अभिनव भारती या हेमचन्द्र में प्राप्त होती है। रासक के बारे में विचार करनेवाले चौथे आचार्य विश्वनाथ कविराज हैं जिन्होंने साहित्य दर्पण में 'रासक' का लक्षण इस प्रकार बताया है।

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषा विभाषा भूयिष्ठं भारती कैशिकीयुतम् ॥
असूत्रधारमेकांक सवीथ्यंगकलान्वितम् ।
शिलष्टनान्दीयुतं स्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥
उदात्त भाव विन्यास संश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते ॥

रासक को नाटक के रूप में मानते हुए विश्वनाथ ने उपर्युक्त लक्षण बताये, सामान्य रूप से गेय रूपकों का विभाजन और लक्षण[1] अभिनव गुप्त वाला ही रहा।

साहित्य-दर्पण में नाट्यरासक और रासक दोनों के भेदक तत्वों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि रासक मूलतः लोक गेय रूपक (Folk opera) ही था और आरम्भिक दिनों में इसका प्रचार अभिजात साहित्य के प्रकार के रूप में नहीं था। यह शैली जनता में अवश्य ही बहुत लोकप्रिय थी, जिससे पठित वर्ग भी आकृष्ट होता था, बाद में इसी लोक-प्रचलित रूप को परिष्कृत और संशोधित करके 'नाट्यरासक' का रूप दे दिया गया।

§ ३६१. कुछ लोग रासक की व्युत्पत्ति रास से करते हैं। रास शब्द का प्रयोग संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। रास का विस्तृत वर्णन भागवत पुराण में मिलता है। भागवतकार ने कृष्ण-गोपी रास का वर्णन करते हुए लिखा है :

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतः
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपी मण्डलमण्डितः
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः
(भागवत १०।३३।२)

गोपियों और कृष्ण की इस 'रासक्रीड़ा' को लेकर नाना प्रकार के वाद-विवाद हुए हैं। बहुत से विद्वानों ने इस प्रकार के स्वच्छन्द विहार-विनोद को आभीर-संस्कृति का प्रभाव बताया है। इसी प्रकार के प्रमाणों के आधार पर दो कृष्णों की कल्पना भी की जाती है। इस स्थान

१. साहित्य दर्पण, डा० काणे द्वारा संपादित, पृ० १०४-५

पर विवाद को उठाना प्रासंगिक नहीं मालूम होता, इससे हमारा सीधा प्रयोजन भी नहीं है, किन्तु रास और आभीरों के संबंध को एकदम असंभव भी नहीं कहा जा सकता। अपभ्रंश भाषा आभीरों की प्रिय भाषा थी, इसे कुछ आचार्यों ने तो 'आभीरवाणी' ही नाम दे दिया। रास ग्रंथ प्रायः अपभ्रंश में लिखे गए, कृष्ण और गोपियों के नृत्य का नाम रास क्रीड़ा रखा गया इन चक्करदार संबंधों को देखते हुए यह मानना अनुचित न होगा कि रास नृत्य आभीरों में प्रचलित था, उनके संपर्क में आने के बाद, उनके नृत्य की इस लोकप्रिय शैली को यहां के लोगों ने भी अपनाया और बाद में यही नृत्य शैली गेय नाट्य के रूप में विकसित होकर रासक के नाम से अभिहित हुई। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन आभीरों के सम्पर्क तथा भारतीय संस्कृति पर उनके प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'इन आभीरों का धर्ममत भागवत-धर्म के साथ मिलकर एक अभिनव वैष्णव मतवाद के प्रचार का कारण हुआ। बहुत से पंडितों का विश्वास है कि प्राकृत और उससे होकर संस्कृत में जो यह ऐहिकतापरक सरस रचनायें आई उसका कारण आभीरों का संसर्ग था।'[1] अपभ्रंश पर आभीरों के प्रभाव तथा मध्यदेशीय संस्कृति से उनके संपर्क का विवरण हम पीछे प्रस्तुत कर चुके हैं (देखिए § ४६) ये आभीर एक जमाने में सौराष्ट्र और गुजरात के शासक थे। १२ वीं शताब्दी में शारंगदेव ने संगीत-रत्नाकर की रचना की। इस ग्रन्थ में लोकनृत्य के उद्‌भव और विकास की बड़ी मनोरंजक कहानी दी हुई है। भगवान् शिव ने जब ताण्डव नृत्य का सृजन किया तो उनके उग्र नृत्य और प्रलयंकर ताल से सारी सृष्टि आन्दोलित हो उठी। उस समय उनके क्रोध को शमित करने के लिए पार्वती ने लास्य नृत्य का सृजन किया। इस लास्य नृत्य को कालान्तर में अनिरुद्ध-पत्नी उषा ने पार्वती से सीखा। उषा ने यह नृत्य द्वारावती की गोपिकाओं को सिखाया। इन गोपियों के द्वारा यह नृत्य सारे सौराष्ट्र और गुजरात में फैल गया।[2] शारंगदेव के इस संकेत से भी प्रतीत होता है कि लोकनृत्य लास्य का प्रचार सौराष्ट्र के गोपालों यानी आभीरों में था। संभव है इसी लास्य से रास की उत्पत्ति हुई हो।

रास शब्द के बारे में अभिधान कोशों में जो विचार मिलते हैं, उनसे भी आभीर-प्रभाव की पुष्टि होती है।

(१) रासः क्रीडासु गोदुहाम् भाषा शृंखलके (अनेकार्थ संग्रह, हेमचन्द्र)

(२) भाषा शृंखलके रासः क्रीडायामपि गोदुहाम् (त्रिकाण्डशेषे पुरुषोत्तम)

यहाँ रास के दो अर्थ बताए गए हैं ग्वालों की क्रीड़ा तथा भाषा में शृंखलाबद्ध रचना। दूसरे अर्थ का संकेत स्पष्ट ही रासक-काव्य से है। पहले अर्थ का संबंध आभीरों से स्पष्टतया प्रकट होता है।

§ ३१२. रास काव्य की शैली के दो भेद दिखाई पड़ते हैं। आरंभिक शैली का रासक गेय रूपक था इसका परवर्ती विकास रासो काव्यों के रूप में हुआ जो बहुत अंशों में गेय होते हुए भी मध्यकालीन चरित काव्यों के कारण पाठ्य काव्य की तरह विकसित हुए। पहली शैली के रास ग्रन्थों में संदेशरासक प्रमुख है और दूसरी में पृथ्वीराज रासो।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, बंबई, सन् १९४० ई०, पृ० ११२-११४

२. संगीत रत्नाकर (७।३-८)

पहली शैली के गेय रूपकों के अभिनय या गाये जाने का संकेत संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश के कई ग्रन्थों में मिलता है। संस्कृत के लक्षणकारों के विचार हम आरंभ में उद्धृत कर चुके हैं। अभिनवभारती में रासक को 'मसृणोद्धतम्' कहा गया है। विचित्र लय ताल समन्वित इस प्रकार की रचनाओं को नर्तक-युग्म गाते हुए नाचते थे। रेवन्तगिरि रास के अंतिम पद्य में रासक के अभिनयात्मक प्रयोग के बारे में कहा गया है :[1]

रंगिहि ए रमइ जो रासु सिरि विजयसेन सूरि निम्मविउए।
नेमि जिणु तूसइ तासु अंबिक पूरइ मणि रली ए॥

जिन नेमिनाथ उन्हें संतुष्ट करेंगे तथा अम्बिका उन अभिनेताओं के मन की आशा को पूरी करेंगी जो श्री विजयसेनसूरि-रचित इस रास को उत्साह से अभिनीत (रंगमञ्चित) करेंगे। गेय रूपकों की पद्धतियों की चर्चा करते हुए बारहवीं शती के शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन ग्रन्थ के दसवें अधिकार में तीन प्रकार के रासक बताये हैं। लतारासक, दण्डरासक तथा मण्डल रासक :

लतारासक नाम स्यात्त्रेधा रासकं भवेत्।
दण्डकरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम्॥

प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में संकलित सप्तक्षेत्रि रासु में लतारास और लकुट रास का प्रसंग आता है।[2]

§ ३६३. हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत इस शैली में लिखी ब्रजभाषा की रचनाओं में सन्देशरासक (अवहट्ट में) प्रमुख है। इसी शैली का विकास बाद में रास-लीला के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में बहुत से लीला-काव्य लिखे गए। इस प्रकार के काव्यों के बारे में आगे विचार किया गया है (देखिए § ३६५) यहाँ हम संक्षेप में संदेश रासक के बारे में कुछ विचार करना चाहते हैं। द्विवेदी जी ने सन्देश रासक को मसृण गेय रासक बताया है। सन्देशरासक और पृथ्वीराज रासो के काव्य रूप का तुलनात्मक अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं 'सन्देश रासक जिस ढंग से आरम्भ हुआ है उसी ढंग से रासो भी आरम्भ होता है। आरम्भ की कई कविताएँ बहुत अधिक मिलती हैं। सन्देशरासक में युद्ध का प्रसंग नहीं है। पर उद्धत प्रयोग-प्रधान गेय रूपक में युद्ध का प्रसंग आना प्रयोगानुकूल ही होगा। और युद्धों के साथ प्रेम-लीलाओं का मिश्रण भी प्रयोग और व्यक्तव्य विषय के अनुकूल ही होगा। इससे लगता है कि पृथ्वीराज रासो आरम्भ में ऐसा कथा काव्य या जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग प्रधान मसृण-प्रयोग युक्त गेय-रूपक था।'[3] इस प्रकार की मान्यता को रासो के विकसनशील स्वरूप तथा उसके लघुतम, लघु और बृहत् रूपों की कल्पना से सहायता मिलती है, किन्तु रासो के वर्तमान रूप को देखते हुए इसे मसृण या

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य में संकलित, गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज़ नंबर १३, १९२१ बड़ौदा

२. प्राचीन गुर्जर काव्य में संकलित, गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज नम्बर १३, १९१६, पृ० ५२

३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६०

उद्धृत गेय रूपक की परम्परा में रखना बहुत उचित नहीं मालूम होता। क्योंकि मसृणोद्धत रासक का जहाँ वर्णन आता है वहाँ 'चित्रतालल‌याऽन्वित' तथा 'अनेकनर्तकीयोज्य' की शर्त भी दिखाई पड़ती है। रासो अपने वर्तमान रूप में पूरा गेय भी नहीं है 'नर्तकीयोज्य' होना तो दूर। वस्तुतः रासक काव्य-परम्परा पर मध्यकालीन चरित काव्यों खास तौर से संस्कृत के ऐतिहासिक चरित काव्यों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि इसका रूप ही बदल गया। परवर्ती रासक जैन कथाओं को खास तौर से ऐतिहासिक कथाओं को स्वीकार करके लिखे जाने लगे थे।[1] इस तरह के जैन ऐतिहासिक रास काव्यों की सूची जैन गुर्जर कवियो तथा श्री अगरचन्द नाहटा सम्पादित ऐतिहासिक जैन काव्य[2] में मिलती है। इन ऐतिहासिक रासकों को देखने से मालूम होता है कि धार्मिक कथाओं को रासक रूप में ढालने की शैली मात्र बच गई थी, वस्तु बिल्कुल ही इतिवृत्तात्मक और घटना प्रधान होने लगी थी, परवर्ती जैन ऐतिहासिक रास शुद्ध रासक नहीं रह गए थे। गाये ये अब भी जा सकते थे किन्तु रासकोचित ताल, लय, नृत्य का इनमें अभाव ही दिखाई पड़ता है। रासो काव्य भी ऐतिहासिक काव्य है। पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, हम्मीर रासो तथा अन्य कई ऐतिहासिक रासो-काव्य रासक की दूसरी शैली यानी पाठ्य शैली में लिखे गए जिनका मुख्य प्रयोजन राजाओं की स्तुति तथा उनके सामने इनका सस्वर पाठ रह गया।

पृथ्वीराज रासो की पद्धति के ग्रन्थों में बहुत-सी ऐसी बातें दिखाई पड़ती हैं जो आरम्भिक गेय रासकों में नहीं हैं। कथा तत्व की व्यापकता तथा उलझनें, कथानक रूढ़ियों का प्रयोग, राजस्तुति की अतिशयोक्ति, लम्बे लम्बे वस्तु वर्णन जो मूलतः अभिधात्मक होने के कारण नीरस और कवि-समयों से आक्रान्त अथच मौलिक निरीक्षण और उद्भावनाओं से रहित हैं। ये चीजें आरम्भिक गेय रासकों में नहीं दिखाई पड़तीं, इनका आरम्भ ऐतिहासिक जैन रास ग्रन्थों में तथा विकास और अवाञ्छित चरम परिणति ब्रजभाषा के हिन्दू रासो ग्रन्थों में दिखाई पड़ता है। पृथ्वीराज रासो तथा अन्य रासो काव्यों की उपर्युक्त विशिष्टताओं के बारे में जो इनमें चरित-काव्यों की शैली के प्रभाव के कारण आईं, हम पहले विचार कर चुके हैं (देखिए § ३८३)।

इस प्रकार रासक और रासो यद्यपि एक ही उद्गम से विकसित हुए हैं, उनकी मूल प्रवृत्तियाँ भी बहुत कुछ एक जैसी ही रहीं, किन्तु परवर्ती काल में उनकी शैलियों के बीच काफी व्यवधान और अन्तर दिखाई पड़ता है।

लीला काव्य

§ ३९४. ऊपर रास काव्यों की दो परंपराओं का संकेत किया गया है। गेय रास की परंपरा काफी विकसित हुई। राजस्थानी में गेय रासक लिखे गए यद्यपि संख्या वैसे रासो काव्यों की भी ज्यादा है जो इतिवृत्तात्मकता और नीरस वर्णनों से भरे हुए हैं। ब्रजभाषा में भी रास नामक गेय रचनायें लिखी गईं। ये रचनाएँ जैन कवियों ने ही लिखीं क्योंकि रास काव्य की जैन-परंपरा उन्हें सहज सुलभ थी। याचक सहजसुन्दर के ब्रजभाषा में लिखे रतनकुमार रास

---

1. जैन गुर्जर कवियो, श्री देसाई द्वारा सम्पादित; बम्बई
2. जैन ऐतिहासिक काव्य, अगरचन्द और भंवरमल नाहटा, कलकत्ता।

का विवरण पीछे प्रस्तुत किया गया है (देखिये § १६६)। इस रचना में गेयता और भाव-प्रवणता अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ती है।

हँस पषइ जिमि मान सरोवर राज पषइ जिमि पाट रे
सांभर को जल जिमि विनु लोयण गरथ पषइ जिमि हाट रे
विन परिमल जिमि फूल करंडी सील पषइ जिमि गोरी रे
चन्द कला पषइ जिमि रयणी ब्रह्म जिसय विण वेद रे
मारग पुण्य पवित्र तिमि गुरु विनु कोई न बूझे भेद रे

इस प्रकार की रचनायें जैन धर्मानुमोदित भक्ति-भावना से पूर्णतः ओत-प्रोत हैं। रास शैली में लिखी रचनायें ब्रजभूमि में भी लिखी गईं। शैली, रूपाकार करीब करीब वही है किन्तु इन रचनाओं का काव्य रूप रास न कहा जाकर लीला कहा गया है। लगता है ये रचनायें रास-लीला कही जाती थीं क्योंकि गेय रूपक होने के कारण इनका अभिनय होता था, जिसे साधारणतः लोग रास-लीला कहा करते थे क्योंकि ऐसी रचनाओं में गोपी-कृष्ण प्रेम के प्रसंग ही रखे जाते थे। पश्चिमी प्रदेशों में १५वीं शती के पहले कृष्णभक्ति का बहुत व्यापक प्रचार नहीं था। जैन धर्म के प्रभाव के कारण रास-लीला संबंधी कृष्ण काव्य राजस्थानी-गुजराती में कुछ दूसरे ही रंग में उपस्थित हुए उनमें जैन-प्रभाव अत्यंत तीव्र दिखाई पड़ता है। उन दिनों कृष्ण भक्ति का प्रचार ब्रज से बंगाल तक के प्रदेश में बड़ी तीव्रता से हो रहा था। बंगाल में जयदेव का गीतगोविन्द अभिनय के साथ गाया जाता था। डा० दशरथ ओझा ने ब्रजभाषा के लीला काव्यों के विकास का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'बारहवीं शताब्दी में श्री वोपदेव रचित श्रीमद्भागवत में कृष्ण रास लीला के प्रमाण से तथा राजस्थानी रास की उपलब्धि से तत्कालीन कृष्ण रास-लीला की रास पद्धति का अनुमान किया जा सकता है।'[1]

१४वीं शताब्दी में संकलित पिंगल-ग्रन्थ प्राकृतपैंगलम् में एक ऐसा पद्य आता है जो प्राचीन अपभ्रंश की किसी कृष्ण लीला से लिया हुआ प्रतीत होता है। इस पद्य में रास लीला की शैली की विशेषताएँ पाई जाती हैं। रास लीला में रूपकत्व या अभिनेयता लाने के लिये वर्णन सम्भाषण-शैली में होते हैं। यह पद्य इस प्रकार है :

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोड़ि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहिं संतार देइ जो चाहइ सो लेहि
(प्राकृतपैंगलम् पृ० १२ छन्द ६)

स्पष्ट ही यह पद्य नौका-लीला का है जिसमें गोपी नाव को डगमग करने वाले कृष्ण से कहती है कि अरे रे ऐसा मत करो। इस नदी को पार तो करा दो फिर जो चाहते हो वही मिलेगा।

§ ३१५. ब्रज-मंडल में अष्टछापी कवियों के समय में रास-लीला का बहुत व्यापक प्रचार हुआ। ये कवि स्वयं बहुत बड़े संगीतज्ञ थे। कृष्ण और गोपियों के प्रेम तथा मधुर आमोद-प्रमोद से बढ़कर इस प्रकार के लीला काव्यों के लिए दूसरा विषय भी क्या हो सकता है। परिणामतः १६वीं शताब्दी के अन्त में ब्रज-प्रदेश कृष्णलीला के मधुर गेय रूपकों का केन्द्र

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, दिल्ली १९५४, पृ० १०१

बन गया। हित हरिवंश, वल्लभाचार्य, गदाधरभट्ट आदि वैष्णव महात्मा रास-लीला के संस्थापक माने जाते हैं। ब्रजभाषा के अष्टछापी कवियों में से अनेक ने लीला काव्य लिखे। ध्रुवदास (१६६० संवत्) ने दानलीला, मानलीला तथा वृन्दावनदास ने चालीस लीलाएँ लिखीं। नन्ददास ने स्याम सगाई लिखी। हमारे आलोच्य काल के अन्दर विष्णुदास की स्नेह-लीला (१४९२ संवत्) तथा परशुराम देव की अमरबोध लीला, नाम लीला, नन्दलीला, आदि रचनाएँ लिखी गईं। यदि विष्णुदास की स्नेहलीला प्रामाणिक कृति मानी जाये तो लीला काव्य का आरंभ अष्टछापी कवियों से बहुत पहले का साबित होता है। स्नेह लीला में केवल कवि का नाम विष्णुदास दिया है, प्रति उनकी रचनाओं की प्रतियों के साथ ही मिली है, तिथिकाल आदि कुछ ज्ञात नहीं है। लीला काव्यों की शैली की मुख्य विशेषताएँ :

(१) छन्दोबद्धता तथा गेयता प्रधान गुण-धर्म।

(२) मधुर प्रेम-विरह और संयोग दोनों ही लीला काव्य के विषय हो सकते हैं।

(३) लीला काव्य अभिनय की दृष्टि से लिखे जाते थे इसलिए इनके कथोपकथन अर्थात् संभाषण-शैली का प्रयोग होता है।

(४) जैन रास की तरह लीला काव्य में भी नृत्य, गीत आदि की प्रधानता रहती है।

(५) ब्रजभाषा के लीला काव्यों में भक्ति और शृङ्गार का अद्भुत संमिश्रण दिखाई पड़ता है। यह जैन रासों में नहीं है। जैन रास एकदम नैतिकतावादी तथा धर्ममूलक हैं। जो गृहस्थ जीवन को लेकर लिखे गये हैं उनमें आमुष्मिकता का घोर आतंक दिखाई पड़ता है। लीला काव्य इस दृष्टि से संदेस रासक आदि मसृण लय-ताल-युक्त गेय रूपकों की कोटि के बहुत नजदीक हैं।

षड्ऋतु और बारहमासा

§ ३६६. प्रकृति मनुष्य की चिर सहचरी है। मानव जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करने वाली, उसे प्रेरणा और चेतना प्रदान करने वाली माया-शक्ति के रूप में प्रकृति की भारतीय वाङ्मय में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगनद्ध रूप में, दोनों के पारस्परिक संबंधों के संतुलन तथा सहयोग से जीवन की सफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्ति-निष्ठ स्वार्थ के वशीभूत होकर जब जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है तब तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में अहंकार का त्याग आवश्यक है, जब तक इस अहंकारसे पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सबरूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वेदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीतिकाव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

षड्ऋतु और बारहमासा इसी प्रकृतिचित्रण के रूढ़-प्रकार हैं जो छठवीं-सातवीं शताब्दी में अलग काव्य रूप (Poetic form) की भाँति विकसित हुए। इसके पहले ऋतुओं

का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण में प्रासंगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मंत्रों में ऋतु या प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में ही होता था वह स्वयं वर्ण्य थी, आकर्षण और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण। यह बात दूसरी है कि सर्वत्र वैदिक ऋषि आह्लाद-युक्त भाव से ही उसका चित्रण नहीं कर पाता था। उसे प्रकृति के उग्र रूप का भी अनुभव था और इस प्रचण्डभीमा प्रकृति की उग्रता से भयातुर होकर भी वह उसकी स्तुति करता था। वाल्मीकि के काव्य में भी प्रकृति प्रधान रही। कालिदास तो निसर्ग के कवि ही कहे जाते हैं। कालिदास के ऋतु संहार काव्य को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि प्रकृति उनके लिए मानवीय रति या शृंगार के उद्दीपन भाव का साधन बनकर ही नहीं रह गई है, फिर भी उसमें स्वाभाविता और यथार्थ का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुओं के विवरण में रूढ़ियों का प्रभाव गाढ़ा होने लगा था। शुक्लजी का अनुमान है कि उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्रण की परिपाटी तभी से आरम्भ हुई है। उन्होंने लिखा कि ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से दृश्य वर्णन के सम्बन्ध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल वर्णन में तो वस्तुवर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारहमासा' पढ़ा जाता है।[1]

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण का रूप अत्यंत कृत्रिम और रूढ़िग्रस्त हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ स्वरूप पर आधारित न होकर आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियों के लिए बना-बनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे बना देना रह गया। काव्य मीमांसा में काल-विभाग के अंतर्गत इस प्रकार का पूरा-विवरण एकत्र मिल जाता है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया कि देश-भेद के कारण पदार्थों में कहीं कहीं अन्तर आ जाता है किन्तु कवि को तो कवि-परंपरा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए। देश के अनुसार नहीं।[2]

> देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।
> तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः॥

(काव्यमीमांसा, १८वाँ अध्याय)

अर्थात् कवि की अपनी अनुभूतियों और निरीक्षण-उपलब्धियों का कोई मूल्य नहीं।

हमारे विवेच्य काल के अंतर्गत इस काव्य-प्रकार में कई रचनायें लिखी गई हैं। व्रजभाषा को अवहट्ट या पिंगल शैली में भी और आरंभिक शुद्ध व्रजभाषा में भी। इनमें संदेश-रासक का षड्ऋतु वर्णन, प्राकृतपैंगलम् के स्फुट ऋतु वर्णन के पद, पृथ्वीराज रासो का षट्ऋतु वर्णन, नेमिनाथ चौपई का बारहमासा तथा नरहरि भट्ट का बारहमासा आदि अत्यंत महत्वपूर्ण रचनायें हैं।

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी, संवत् २००२, पृ० २१

२. काव्य मीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २६२

§ ३१७. संदेश-रासक और पृथ्वीराज रासो के षड्ऋतु वर्णन उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। संदेश रासक का ऋतु-वर्णन विरहिणी नायिका के हृदय के दग्ध उच्छ्वासों से परिपूर्ण है। पथिक उस प्रोषितपतिका से उसकी दिनचर्या पूछता है वह जानना चाहता है कि कब से नूतन मेघ-रेखा से विनिर्गत चंद्रमा के समान नायिका का निर्मल वदन इस प्रकार विरह धूम से श्यामल हो रहा है और तब नायिका एक वर्ष पहले ग्रीष्म ऋतु में विदा होने वाले प्रियतम के वियोग की सविस्तार वर्णना सुना जाती है। संदेश रासक का ऋतु-वर्णन कवि-प्रथा के अनुसार निश्चित वस्तुओं की सूची उपस्थित करता है, इसमें शक नहीं, किन्तु जैसा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'कि जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्य वस्तु निरूपक वर्णन बाह्य वस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर मनुष्य के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है।'[1]

रासो का ऋतु-वर्णन यद्यपि विरहाशंकिता नायिकाओं के हृदय की पीड़ा को व्यंजित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है किन्तु इन पदों में संयोगकालीन स्मृतियों की विवृति दिखाई पड़ती है, इसीलिए इसे हम संयोगकालीन उद्दीपक ऋतु वर्णन की प्रथा का ही निदर्शन कहेंगे। संयोगिता से मिलने के लिये उत्सुक पृथ्वीराज जयचन्द के यज्ञ में उपस्थित होना चाहते हैं, वे प्रत्येक रानी के पास विदा लेने के लिए जाते हैं, किन्तु रानियों का ऐसे ऋतु में बाहर न जाने का मधुर आग्रह वे टाल नहीं पाते और रुक जाते हैं। रासो के ऋतु वर्णन की विशेषताओं पर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है।[2] प्राकृत पैंगलम् एक संग्रह काव्य है, छन्दों के उदाहरण के लिए पद्य संकलित हैं इसलिए उसमें पूर्णता के साथ षड्ऋतु वर्णन का मिलना कठिन है। किन्तु इस काव्य में स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो चित्रण मिलता है, खास तौर से ऋतुओं का चित्रण, वह निश्चय ही किसी अज्ञात-ज्ञात काव्य के ऋतु-वर्णन प्रसंग से लिया गया है। उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु का एक चित्रण देखिए :

> फुल्लिअ केसु चन्द तँह पअलिअ मंजरि तेजिअ चूआ
> दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ
> केअइ धूलि सव्व दिसि पसरइ पीअर सव्वउँ भासे
> आउ वसन्त काइ सहि करिअइ कन्त ण थक्कइ पासे
>
> (प्राकृत पैंगलम् पृ० २१२)

प्राकृतपैंगलम् का एक और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी पद हम पीछे उद्धृत कर चुके हैं (देखिए § ११०) इस पद में शिशिर के बीतने और वसन्त के आगमन का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। प्राकृतपैंगलम् में ऐसे ऋतु-वर्णन की विशेषता यह है कि ये वर्णन उद्दीपन के रूप में चित्रित होते हुए भी कालिदास के ऋतु संहार की परंपरा में हैं अर्थात् केवल उद्दीपन-मात्र ही नहीं है, प्रकृति के सौंदर्य का चित्रण भी अभीष्ट रहा है।

---

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ८४
2. वहीं, पृ० ८२-८३

नेमिनाथ चतुष्पदिका[1] और नरहरि भट्ट के ऋतु-वर्णन बारहमासा-पद्धति में लिखे हुए हैं। नेमिनाथ चौपई में राजमती के विरह का सविस्तर वर्णन मिलता है। नेमिनाथ के वियोग में उनकी परिणीता राजमती आषाढ़ से आरंभ करके ज्येष्ठ तक के बारह महीनों की अपनी विरह-पीड़ा तथा नेमि की कठोरता का विवरण अपनी सखी को सुनाती है। नेमिनाथ चतुष्पदिका के प्रसंग पीछे दिये हुए हैं (देखिए § ११३) नरहरि भट्ट के बारहमासे भी विरह काव्य ही हैं। आरंभ आषाढ़ से होता है। वर्णन रासोकार की पद्धति पर उद्दीपन-प्रधान ही है, भाषा भी प्रायः ऐसी ही है। रासो के वर्षा-वर्णन और नरहरि का सावन मास का चित्रण मनोरंजक तुलना का विषय है। नरहरि भट्ट का श्रावण और भाद्र का वर्णन देखिये[2] :

विज्जु तरकि चमकि पपीहा चहंकित स्याम सुहर्ष सुहावन
भुम्मि हरित्त सरित्त भरित्त दिगत्त रहित्त जितितिय भावन
नरहरि स्वामि समीप जहां लगि रचहिं हिंडोल सखी सुख गावन
वे भादर बिलपत्तहि न कह बिन विट्ठल बिलपति है सावन ?
जल जंगल महिय गान गुंजत दादुर मोर सोर घन सादव
जदपि मघा मेघ झरि मंडि झुकि बिरह बिकल बिन कादव
नरहरि निरखि जात जोवन बन प्रगटित प्रेम वृथा बिन आदव
अब तक परती विकल ब्रज सुंदरि दुम्भर नयन भरति भरि भादव

§ ३९८. षड्ऋतु और बारहमासा संबंधी रचनायें गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों में प्राप्त होती हैं। इन रचनाओं की वस्तु तथा भावधारा का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन मूलतः संयोग शृंगार का काव्य है जब कि बारहमासा विरह या विप्रलंभ का। वैसे संदेश रासक में षड्ऋतु का वर्णन विरह प्रधान है जो इस मान्यता के विरुद्ध में दिखाई पड़ता है, किन्तु अधिकांश रचनाओं से उपर्युक्त मत की पुष्टि ही होती है। षड्ऋतु का चित्रण रासो में संयोग काव्य की प्रथा में ही हुआ है। पद्मावत में षड्ऋतु और बारहमासा दोनों ही के प्रसंग आते हैं। षड्ऋतु वर्णन खंड में पद्मावती और रत्नसेन के संयोग-शृङ्गार का चित्रण हुआ है। ठीक उसी के बाद आने वाले नागमती वियोग खंड में नागमती के विरह का वर्णन बारहमासे की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसी को लक्ष्य करके पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा कि 'प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग सुख के सम्बन्ध में षड्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के प्रसंग में बारहमासे का चित्रण किया गया है।'[3] नेमिनाथ चतुष्पदिका तथा नरहरि भट्ट के बारहमासे में भी वियोग-वेदना की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है।

मोर पिया सखि गेल दुर देस
जौवन दए गेल साल सनेस

1. गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज नंबर १३, १९२० बड़ौदा
2. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ३१०
3. त्रिवेणी, द्वितीय भाग, सवत् २००२ काशी, पृ० ९६

मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रहओं निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहाँ जोगिनि वेस

आषाढ़ में नवीन मेघों के उनय आने से प्रिय-विश्लेष-दुःख की काली छाया निरंतर घनी होती जा रही है और पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश को सूखी आँखों से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देने वाला ज्येष्ठ आ जाता है। विद्यापति ने अत्यंत कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमासे में अंकित किया है।[1] सूरदास ने बारहमासे की शैली में अलग से कोई काव्य नहीं लिखा किन्तु गोपी-विरह में इस शैली की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। ब्रजभाषा के परवर्ती लेखकों ने षड्ऋतु और बारहमासे की पद्धति में कई काव्य लिखे। सेनापति (संवत् १६४६) का ऋतु वर्णन अपनी अत्यंत सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण की कुशलता तथा भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के लिए प्रसिद्ध है। संवत् १६८८ में सुन्दर कवि ने तथा १८११ में हंसराज ने बारहमासों की रचना की।

इन बारहमासों में प्रकृति का चित्रण प्रायः आषाढ़ मास से आरम्भ होता है। षड्ऋतु में ऋतु का आरम्भ ग्रीष्म से दिखाया जाता है। ऋतु संहार में इसी पद्धति को अपनाया गया था। किन्तु इन नियमों के अपवाद भी कम नहीं दिखाई पड़ते। उदाहरण के लिए गुजराती में अठारहवीं शती में लिखा इन्द्रावती कृत षड्ऋतु वर्णन वर्षा से आरम्भ होता है उसी प्रकार गुजराती के दूसरे कवि श्री दयाराम ने संवत् १८८५ में लिखे गए अपने षड्ऋतु विरह वर्णन काव्य में ऋतु का आरम्भ वर्षा से किया है।[2] षड्ऋतु वर्णन में जायसी ने ऋतु का आरम्भ वसन्त से किया है।[3]

प्रथम बसन्त नवल ऋतु आई, सुऋतु चैत बैसाख सुहाई
चंदन चीर पहिरि धरि अंगा सेन्दुर दीन्ह बिहँसि भर मंगा

सन्देश रासक में षड्ऋतु का वर्णन आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से ही होता है। बारहमासे के प्रसङ्ग में आषाढ़ से आरम्भ की पद्धति प्रायः सर्वमान्य दिखाई पड़ती है। कविप्रिया में केशवदासने १० वें प्रभाव में बारहमासा का वर्णन चैत्र से किया है जो फाल्गुन में समाप्त होता है। ७वें प्रभाव में षड्ऋतु का वर्णन वसन्त ऋतु से हुआ है।[4] अलंकारशेखर में २१वें मरीचि में षड्ऋतु वर्णन सुरभि ऋतु यानी वसन्त से ही शुरू होता है।[5] वैसे भी इस

1. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा संपादित, द्वितीय संस्करण, पृ० १०१
2. गुजराती साहित्य नां स्वरूपो, पृ० २५८-६०
3. जायसी ग्रंथावली, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १९८१ संवत, षट्ऋतु वर्णन खंड दोहा ५
4. कविप्रिया, केशव ग्रंथावली खंड १, संपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १९५४, पृ० १५७-१६० तथा १६६-६८
5. श्री माणिक्यचन्द्र कारित श्री केशवमिश्र कृत अलंकारशेखर, संपादक शिवदत्त, बंबई १९२६, पृ० ५१

देश में नव वर्ष का आरम्भ भिन्न-भिन्न महीनों से माना जाता है राजशेखर कवि के अनुसार ज्योतिष शास्त्रवेत्ता संवत्सर का आरंभ चैत्र मास से यानी बसन्त ऋतु से तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से मानते हैं। स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः (काव्य-मीमांसा १८वां अध्याय) इसी आधार पर राजशेखर ने जो ऋतुओं का क्रम बताया है वह वर्षा से आरंभ होता है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म।[1] यहाँ पर वर्षारंभ की पद्धति वही है जिसे गुजराती कवियों ने स्वीकार किया है। लगता है कि राजशेखर के काल में भी इस क्रम में व्यत्यय होता था इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि ऋतु-क्रम में व्यत्यय करने से कोई दोष नहीं पैदा होता, हाँ इतना अवश्य है कि वह प्रसंगानुकूल हो।[2]

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः।
तथा कथा कापि भवेद्व्युत्क्रमो भूषणं यथा॥

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम षड्ऋतु और बारहमासे के सम्बन्ध में निम्न-लिखित विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं।

(१) दोनों ही उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य-प्रकार हैं किन्तु सामान्यतः षड्ऋतु का वर्णन संयोग-शृंगार में, बारहमासे का विरह में होता है। इन नियमों का पालन बड़े शिथिल ढंग से होता है, अतः अपवाद भी मिलते हैं।

(२) षड्ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानों पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्रायः आषाढ़ महीने से आरम्भ होता है।[2]

(३) इन काव्यों की पद्धति बहुत रूढ़ हो गई है, कवि-प्रथा का पालन बहुत कड़ाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्भावना की कमी दिखाई पड़ती है।

वेलि काव्य

§ ३९९. वेलि का अर्थ वल्लरी या लता होता है। ज़ाहिर है कि इस लतासूचक शब्द को काव्य रूप का अभिधान कुछ विशिष्ट कारणों से मिला होगा। राजस्थानी के प्रसिद्ध वेलि काव्य किसन रुकिमणी वेलि में कवि ने इस शब्द को लक्ष्य करके एक रूपक का प्रयोग किया है:

वेलि तसु बीज भागवत वायउ, महि थाणउ प्रथिदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख॥२९१॥
पत्र अक्खर दल दाला जस परिमल नवरस तंतु विधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सुभगति मंजरी मुगति फूल फल भुगति मिसि॥२९२॥
कलि कल्पवेलि वलि काम धेनुका चिन्तामणि सोम वेलि पत्र।
प्रगटित प्रथमी प्रिथु मुख पंकजि अखरावलि मिसि थई एकत्र॥२९३॥
प्रिथु वेलि कि पंच विध प्रसिद्ध प्रनाली आगम नीगम कजि अखिल।
मुगति तणी नीसरणी मंडी सरग लोक सोपान इल॥२९४॥

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २३८

२. राजशेखर, काव्य मीमांसा, पटना १९५४, पृ० २६३

पृथ्वीराज अपनी अपनी 'वेलि' को भक्ति-लता के समान बताते है और सांगरूपक की पद्धति से इसके विभिन्न अंगों का वर्णन करते हैं। यहाँ पर 'वेलि' के काव्य रूप के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। २६२ वें पद्य में 'दलढाला' से लेखक यह संकेतित करता है कि वेलि में दोहले या दोहे होते हैं जो लता के दल की तरह हैं। श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'वेलि किसन रुकमिणी' की भूमिका में वेलि को छन्द बताया है।[1] इसका आधार उक्त वेलि में प्रयुक्त वेलियो छन्द है जिसका लक्षण इस प्रकार है।

सुहरावाली सुरु मही मुहरामांहि सुजन्त।
वणे गीत इस वेलियो आद गुरू लघु अन्त ॥

चारो चरण क्रमशः १६–१५–१६–१५ मात्राओं के होते हैं। वस्तुतः यह साणौर नामक छन्द का एक प्रकार होता है। साणौर छन्द के चार भेद होते हैं, उसमें एक वेलियो भी होता है। इस गीत में प्रथम चरण में सर्वत्र दो मात्रायें अधिक होती हैं अर्थात् १६ के स्थान पर १८ मात्रायें। ये दो मात्रायें हमेशा चरण के आदि में बढ़ती हैं।[2]

वेलि काव्यों की सामान्य शैली को देखने से मालूम होता है कि इनमें दोहे तथा बीच-बीच में १६-१५ मात्रा के चार चरण वाले छन्द प्रयुक्त होते हैं और इनकी व्यवस्था आल्हा छन्द की तरह से होती है। इसमें निश्चित क्रम में दोहे और चार चरण के छन्द प्रयुक्त होते हैं। संभव है इसी क्रम को देखकर इस पर वेलि या लता का साम्य आरोपित किया गया हो। डा० मजूमदार वेलि को विवाह-काव्य मानते हैं किन्तु वेलि शैली में कई ऐसे काव्य दिखाई पड़ते हैं जिसमें विवाह या मंगल का वर्णन नहीं मिलता। उदाहरण के लिए हमारे विवेच्य काल में ब्रजभाषा की पंचेन्द्रिय वेलि में विवाह का कोई प्रसंग ही नहीं है।

§ ४००. वेलि काव्यों में अद्यावधि प्राप्त सबसे पुरानी रचना संवत् १४६२ की चिहुँगति वेलि है। यह पुरानी राजस्थानी में लिखी हुई है। इसमें मनुष्य, देव, तिर्यक् और नारकी इन चार गतियों का वर्णन किया गया है।[3] प्राचीन राजस्थानी गुजराती में और भी बहुत सी वेलि-रचनायें प्राप्त होती हैं जिनमें सिंहा कवि की संवत् १५३५ की जम्बूस्वामी वेलि तथा नेमि-वेलि, जयवंत सूरि की सं० १६१५ की नेमि राजुल बारहमास वेलि, केशवदास वैष्णव की १७वीं शती की वल्लभवेल, कवि वजिया कृत सीतावेल तथा संवत् १६०७ में लिखी केशव किशोर रचित श्री कीरतलीला में वल्लभ कुल वेलि महत्वपूर्ण हैं। इनमें अन्तिम तीन रचनायें वैष्णव भक्ति से प्रभावित हैं। श्री कीरतलीला (संवत् १६०७) ब्रजभाषा की बहुत ही सुन्दर रचना है। नीचे एक पद दिया जाता है।

द्राविड़ भक्ति उत्पन्न हे गुर्जर पर ले जानि
प्रकट श्री विट्ठलनाथ जू दीनी वेलि बखानि ॥१०१॥
सू सो कहे कहे बोले से जानत हे शिव पूजि
अब वे भये अनन्य सब रहत रास सब गूंजि ॥१०२॥

---

१. श्री नरोत्तम स्वामी सम्पादित वेलिकिसन रुकमिणी भूमिका
२. प्रो० मंजुलाल मजूमदार, गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, बड़ौदा, १९५४, पृ०२०१
३. जैन गुर्जर कवियो, प्रथम भाग, बंबई, १९२६, पृ० २१

काशी तजि यम किंकरनि लागत नहिं कंहू घात।
चित्रगुप्त कागज त्यजे कोउ न पूछत बात ॥७३॥
श्री द्वारकेस जु कृपा करी लीनो हौ अपनाय।
श्री वल्लभ कुल की वेलि पर केशव किसोर बलि जाय ॥७४॥

विक्रमी संवत् १६४७ में गुजरात के एक कवि ने वल्लभ कुल की यह वेलि ब्रजभाषा में लिखी, ब्रजभाषा के विस्तार और उसकी लोकप्रियता का यह एक सबल प्रमाण है।

संवत् १५५० में की लिखी हुई पंचेन्द्रिय वेलि आरंभिक ब्रजभाषा की महत्वपूर्ण रचना है।[1] कवि ठक्कुरसी की इस 'वेलि' में पंच इन्द्रियों के गुण-धर्म का तथा इनके अतिवादी आचरण से उत्पन्न कष्टों का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया गया है।

परवर्ती ब्रजभाषा तथा हिन्दी को दूसरी बोलियों में भी वेलि काव्य मिलते हैं। कहा जाता है कि कबीर ने भी एक वेलि काव्य लिखा था। कबीर ग्रंथावली में उनकी एक दो वेलि संकलित है। बीजक की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। इसलिए इस वेलि को भी पूर्णतः प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। साखियों वाले भाग में एक 'वेली को अंग' भी है। यहाँ भी वेलि या अर्थ लता ही है।[2] भगवानदास और रामराज ने भी मनोरथ वल्लरी नाम से अलग अलग वेलि काव्य लिखे हैं। १८वीं शताब्दी के श्री वृन्दावनदास की आठ वेलि-रचनाओं की सूचना मिलती है। इनमें यमुनाप्रताप वेलि काफी महत्वपूर्ण रचना है।[3] घनानन्द-रचित रसकेलि वेलि तथा नागरीदास की कलि वैराग्य वल्लरि प्रकाशित हो चुकी है। ब्रजनिधि ग्रंथावली में जयपुर के महाराज प्रतापसिंह की दुःखहरण वेलि तथा दादू ग्रंथावली में दादू की 'कायावेलि' संकलित हैं।

बावनी

§ ४०१. बावनी नागरी वर्णमाला के बावन अक्षरों को दृष्टि में रखकर रचे गए काव्य का नाम है। यह काव्य-रूप मध्यकाल में बहुत प्रचलित था और धार्मिक तथा नैतिक उपदेशों के निमित्त लिखे जानेवाले काव्योंका यह बहुत ही मान्य प्रकार था। मध्यकालीन स्वर और व्यंजन, जिनके आधार पर इस प्रकार की रचना होती थी, निम्नलिखित हैं।

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, रि (ऋ) री (ॠ), लि (ऌ), ली (ॡ), ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

व्यंजन—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह क्ष त्र ज्ञ।

इन बावन अक्षरों को नाद-स्वरूप ब्रह्म की स्थिति का अंश मानकर इन्हें अत्यंत पवित्र अक्षर के रूप में प्रत्येक छन्द के आदि में प्रयुक्त किया जाता था। डा० मजूमदार ने लिखा है

---

१. पूरी रचना परिशिष्ट में संलग्न है।
२. कबीर ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण २००८ विक्रमी पृ० ८६
३. गुजराती साहित्य नां स्वरूपो, बड़ौदा, १९५४, पृ० ४६२

कि 'ग्राम्य शाला में जब बालक को शिक्षा शुरू होती है तो उसे ककहरा से आरंभ करना इष्ट है। प्रत्येक अक्षर को सिखाने के लिए एक पद्य का प्रयोग होता था, इसी प्रणाली को कवि ने उपदेश देने के लिए अपनाया। प्रायः बावनी संज्ञक रचनाओं में तिरपन पद्य दिये जाते हैं। बावन अक्षर व्यवहार में आने वाले लोकविदित हैं। तिरपनवाँ अक्षर ब्रह्म है जो इन अक्षरों का निर्माता है।

बावनी संज्ञक रचनाओं में आरंभ के पाँच पद्यों के आदि अक्षरों से कोई ईश्वर वाचक या गुरु या इष्ट के नाम का पद बनता है। ऐसे स्थानों पर ॐ नमः सिद्धाय या विकृत रूप में ॐ नमः सिद्ध। या नमः शिवाय, गणेशाय नमः आदि पदों के एक एक अक्षर को पद्यों के आरंभ में विठलाया जाता है।

§ ४०२. गुजराती में इस प्रकार की रचनाओं को कक्क काव्य भी कहते हैं। श्री चीमनलाल दलाल द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह[1] में सालिभद्द कक नामक रचना संकलित है। उसी पुस्तक में इस शैली की तीन अन्य रचनाएँ भी संकलित हैं—दूहामातृका, मातृका, चउपई तथा सम्यक्तवभाई चउपई। वर्णमाला के बावन अक्षरों का बीज-नाम मातृका है। मातृका का अर्थ ही होता है अक्षर या वर्ण। इस प्रकार मातृका संज्ञक रचनायें भी एक प्रकार से कक्क काव्य ही हैं। कक्क या कक्का काव्य में कभी कभी केवल व्यंजनों के आधार पर वर्ण संख्या छत्तीस ही मानी जाती है। इस प्रकार की शैली की रचनाओं को और भी कई नाम दिए गए हैं जैसे अखरावट, बारहखड़ी, ककहरा, छत्तीसी आदि।

आरम्भिक ब्रजभाषा में दो बावनी संज्ञक रचनायें मिलती हैं। डूँगर कवि की डूँगर बावनी और छीहल की छीहल बावनी। दोनों ही रचनाओं में वर्णमाला का आरम्भ छठें पद्य से किया गया है। आरम्भिक पाँच पदों में आदि अक्षरों के द्वारा 'ॐ नम सिद्ध' पद बनता है जो सूचित करता है कि कवि जैन थे और यह जिन की वन्दना है।

हिन्दी में कई बावनी काव्य मिलते हैं। इस शैली की अब तक प्राप्त रचनाओं में सम्भवतः कवि श्री पृथ्वीचन्द्र रचित मातृका प्रथमाक्षर दोहका सबसे पुरानी कृति है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रमी १३ वीं शती के अन्त में हुई थी।[2] भाषा पुरानी राजस्थानी है। कबीर ग्रन्थावली में भी एक बावनी संकलित है।[3] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि कबीर ग्रन्थावली के ग्रन्थ बावनी में मुक्त छः पद आते हैं।[4] किन्तु चौपाई और दोहे में लिखी इस बावनी में पद छः नहीं कडवक छः हैं। पदों की संख्या तो ४२ है। दोहे और चौपाइयों के ४२ पद्य प्रयुक्त हैं। केवल व्यंजनों को ही आधार बनाया है। स्वरों को आदि अक्षर के रूप नहीं विठलाया गया है फिर भी शिथिल ढंग से नाम बावनी ही है। कबीर ने बावनी का आरम्भ इस प्रकार किया है :—

बावन आखिर लोकत्री सब कुछ इनहीं माहिं।
ये सब खिर-खिर जाँहिगे सो आखर इनमें नाहिं॥

---

१. गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज नंबर १३, बड़ौदा, सन् १९२०
२. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८ अंक ३, जुलाई-सितम्बर १९५५ ईस्वी, पृ० ११०
३. कबीर ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, पृ० २२७-२८
४. कबीर साहित्य की परख, प्रयाग, संवत् २०११, पृ० १९९

और अन्त में :—

बावन आखिर जोरै आनि, एक्यो आखिर सक्यो न आनि ।

सारा विश्व इन इन बावन अक्षरों में ही तो बँधा है किन्तु इन नाशवान् अक्षरों में वह अविनाशी अक्षर कहाँ मिलता है।

कबीर के अलावा और भी कई हिन्दी कवियों ने बावनी काव्यों की रचना की। संवत् १६६२ में स्वामी अग्रदास ने हितोपदेश उपखाण बावनी की रचना की।[1] १७६७ संवत् में श्री किशोरी शरण ने 'बारह खड़ी' लिखा[2] और १६वीं शती में भी राम सहाय दास (बनारस) तथा राजा विश्वनाथ सिंह ने 'ककहरा' की रचना की।[3] केशवदास की रतन बावनी और भूषण की शिवा बावनी में छन्दों की संख्या की दृष्टि से इस शैली का अनुसरण तो दिखाई पड़ता है किन्तु वर्णमाला संबंधी नियम का पालन नहीं दिखाई पड़ता। लगता है बाद में केवल संख्या ही प्रधान हो गई और बावन पदों की रचना बावनी कही जाने लगी।

विप्रमतीसी

§ ४०३. यह कोई बहुत प्रसिद्ध काव्य रूप नहीं है किन्तु इसका प्रयोग मध्यकाल में कुछ कवियों ने किया है। हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत निम्बार्क संप्रदायी कवि परशुराम ने विप्रमतीसी ग्रन्थ की रचना की है। इसी नाम का एक ग्रन्थ कबीर दास ने भी लिखा है। दोनों ग्रन्थ न केवल भाव-वस्तु में साम्य रखते हैं बल्कि उनकी शैली तथा भाषा भी पूर्णतः समान दिखाई पड़ती हैं। इन रचनाओं की समता और इनकी प्रामाणिकता आदि के विषय में हम पहले ही विचार व्यक्त कर चुके हैं (देखिये § २२५)।

विप्रमतीसी में ब्राह्मण की रूढ़िवादिता और उसके शास्त्राभिमान का उपहास किया गया है। इनमें छन्द संख्या तीस आती है इसीलिए इसका नाम विप्र-तीसी-विप्रमतीसी हो गया है। इसे कोई विशिष्ट काव्य प्रकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें काव्य की शैली पर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया है केवल छन्द संख्या का निर्धारण काव्य प्रकार नहीं हो सकता जहाँ तक मुझे मालूम है इन दो कवियों के अलावा किसी और की इस नाम की रचना हिन्दी में नहीं दिखाई पड़ती। विशिष्ट काव्य प्रकार न होने का यह दूसरा प्रमाण है।

गेय मुक्तक

§ ४०४. गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परम्परा-प्रशंसित प्रकार है। मनुष्य के वैयक्तिक भावों, संवेगों, इच्छा-व्यापारों का एक मात्र सहज अभिव्यक्ति-माध्यम होने के कारण गीति-काव्य को जो स्वीकृति और संमान मिला वह अद्वितीय है। गीति काव्य का रूप अभिजात साहित्य में उतना सहज और शुद्ध नहीं होता जितना लोक-वार्ता में होता है। विद्वानों की धारणा है कि सभ्य देशों में बौद्धिकता और सामाजिक रूढ़ियों का युग (जैसा कि योरोप में अठारहवीं शताब्दी में था) गीति काव्य में प्रबल अभिरुचि उत्पन्न करने

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४९

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४५

३. वहीं, पृ० ३८८ और ३४५

कि 'प्राग्य शाला में जब बालक की शिक्षा शुरू होती है तो उसे ककहरा से आरंभ करना हो
है। प्रत्येक अक्षर को सिखाने के लिए एक पद्य का प्रयोग होता था, इसी प्रणाली को कवि
ने उपदेश देने के लिए अपनाया। प्रायः बावनी संज्ञक रचनाओं में तिरपन पद्य दिये ज
हैं। बावन अक्षर व्यवहार में आने वाले लोकविदित हैं। तिरपनवाँ अक्षर ब्रह्म है जो इ
अक्षरों का निर्माता है।

बावनी संज्ञक रचनाओं में आरंभ के पाँच पद्यों के आदि अक्षरों से कोई ईश्वर वाच
या गुरु या इष्ट के नाम का पद बनता है। ऐसे स्थानों पर उं नमः सिद्धाय या विकृत रूप
ऊं नमः सिद्ध। या नमः शिवाय, गणेशाय नमः आदि पदों के एक एक अक्षर को पद्यों के
आरंभ में विठलाया जाता है।

§ ४०२. गुजराती में इस प्रकार की रचनाओं को कक्क काव्य भी कहते हैं। श्री चीमन
लाल दलाल द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह[1] में सालिभद्द कक्क नामक रचना संकलित
है। उसी पुस्तक में इस शैली की तीन अन्य रचनाएँ भी संकलित हैं—दूहामातृका, मातृका,
चउपई तथा सम्यक्त्वमाई चउपई। वर्णमाला के बावन अक्षरों का बीज-नाम मातृका है।
मातृका का अर्थ ही होता है अक्षर या वर्ण। इस प्रकार मातृका संज्ञक रचनायें भी एक प्रकार
से कक्क काव्य ही हैं। कक्क या कक्का काव्य में कभी कभी केवल व्यंजनों के आधार पर वर्ण
संख्या छत्तीस ही मानी जाती है। इस प्रकार की शैली की रचनाओं को और भी कई नाम
दिए गए हैं जैसे अखरावट, बारहखड़ी, ककहरा, छत्तीसी आदि।

आरम्भिक ब्रजभाषा में दो बावनी संज्ञक रचनायें मिलती है। डूँगर कवि की डूँगर
बावनी और छीहल की छीहल बावनी। दोनों ही रचनाओं में वर्णमाला का आरम्भ छठे पद
से किया गया है। आरम्भिक पाँच पदों में आदि अक्षरों के द्वारा 'ॐ नम सिद्ध' पद बनता है
जो सूचित करता है कि कवि जैन थे और यह जिन की वन्दना है।

हिन्दी में कई बावनी काव्य मिलते हैं। इस शैली की अब तक प्राप्त रचनाओं में
सम्भवतः कवि श्री पृथ्वीचन्द्र रचित मातृका प्रथमाक्षर दोहका सबसे पुरानी कृति है। इस ग्रन्थ की
रचना विक्रमी १३ वीं शती के अन्त में हुई थी।[2] भाषा पुरानी राजस्थानी है। कबीर ग्रन्थावली
में भी एक बावनी संकलित है।[3] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि कबीर ग्रन्थावली
के ग्रन्थ बावनी में मुक्त छः पद आते हैं।[4] किन्तु चौपाई और दोहे में लिखी इस बावनी में
पद छः नहीं कडवक छः हैं। पदों की संख्या तो ४२ है। दोहे और चौपाइयों के ४२ पद्य
प्रयुक्त हैं। केवल व्यंजनो को ही आधार बनाया है। स्वरों को आदि अक्षर के रूप नहीं
बिठलाया गया है फिर भी शिथिल ढंग से नाम बावनी ही है। कबीर ने बावनी का आरम्भ इस
प्रकार किया है :—

बावन आखिर लोकित्री सब कुछ इनहीं माहिं।
ये सब खिर-खिर जाँहिगे सो आखर इनमें नाहिं॥

---

१. गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज नंबर १३, बड़ौदा, सन् १९२०
२. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८ अंक २, जुलाई–सितम्बर १९५५ ईस्वी, पृ० ११०
३. कबीर ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, पृ० २२७–२८
४. कबीर साहित्य की परख, प्रयाग, संवत् २०११, पृ० १९६

और अन्त में :—

बावन आखिर जोरै आनि, एक्यो आखिर सक्यो न जानि।

सारा विश्व इन इन बावन अक्षरों में ही तो बँधा है किन्तु इन नाशवान् अक्षरों में वह अविनाशी अक्षर कहाँ मिलता है।

कबीर के अलावा और भी कई हिन्दी कवियों ने बावनी काव्यों की रचना की। संवत् १६६२ में स्वामी अग्रदास ने हितोपदेश उपखाण बावनी की रचना की।[1] १७६७ संवत् में श्री किशोरी शरण ने 'बारह खड़ी' लिखा[2] और १६वीं शती में श्री राम सहाय दास (बनारस) तथा राजा विश्वनाथ सिंह ने 'ककहरा' की रचना की।[3] केशवदास की रतन बावनी और भूषण की शिवा बावनी में छन्दों की संख्या की दृष्टि से इस शैली का अनुसरण तो दिखाई पड़ता है किन्तु वर्णमाला संबंधी नियम का पालन नहीं दिखाई पड़ता। लगता है बाद में केवल संख्या ही प्रधान हो गई और बावन पदों की रचना बावनी कही जाने लगी।

विप्रमतीसी

§ ४०३. यह कोई बहुत प्रसिद्ध काव्य रूप नहीं है किन्तु इसका प्रयोग मध्यकाल में कुछ कवियों ने किया है। हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत निम्बार्क संप्रदायी कवि परशुराम ने विप्रमतीसी ग्रन्थ की रचना की है। इसी नाम का एक ग्रन्थ कबीर दास ने भी लिखा है। दोनों ग्रन्थ न केवल भाव-वस्तु में साम्य रखते हैं बल्कि उनकी शैली तथा भाषा भी पूर्णतः समान दिखाई पड़ती हैं। इन रचनाओं की समता और इनकी प्रामाणिकता आदि के विषय में हम पहले ही विचार व्यक्त कर चुके हैं (देखिये § २२५)।

विप्रमतीसी में ब्राह्मण की रूढ़िवादिता और उसके ज्ञानाभिमान का उपहास किया गया है। इनमें छन्द संख्या तीस आती है इसीलिए इसका नाम विप्र-तीसी-विप्रमतीसी हो गया है। इसे कोई विशिष्ट काव्य प्रकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें काव्य की शैली पर कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया गया है केवल छन्द संख्या का निर्धारण काव्य प्रकार नहीं हो सकता जहाँ तक मुझे मालूम है इन दो कवियों के अलावा किसी और की इस नाम की रचना हिन्दी में नहीं दिखाई पड़ती। विशिष्ट काव्य प्रकार न होने का यह दूसरा प्रमाण है।

गेय मुक्तक

§ ४०४. गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परंपरा-प्रशंसित प्रकार है। मनुष्य के वैयक्तिक भावों, संवेगों, इच्छाआकांक्षाओं का एक मात्र सहज अभिव्यक्ति-माध्यम होने के कारण गीति-काव्य को जो स्वीकृति और सम्मान मिला वह अद्वितीय है। गीति काव्य का रूप अभिजात साहित्य में उतना सहज और शुद्ध नहीं होता जितना लोक-काव्यों में होता है। विद्वानों की धारणा है कि सभ्य देशों में बौद्धिकता और सामाजिक रूढ़ियों का युग (जैसा कि योरोप में अठारहवीं शताब्दी में था) गीति काव्य में प्रबल अभिरुचि उत्पन्न करने

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४६
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४५
३. वही, पृ० १८८ और १४५

के उपयुक्त नहीं होता।[1] इसके विपरीत सामाजिक विघटन, रूढ़ि-विरोधिता, क्रान्ति और संघर्ष के युग में गीति काव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। हाप्किन्स ने वैदिक और संस्कृत गीतियों का विश्लेषण करके इन्हें चार भागों में विभाजित किया है।[2] पहला युग वैदिक गीतियों का है जो ईसा पूर्व आठवीं से चौथी शती तक फैला हुआ है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियों की प्रधानता है। दूसरा युग ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से पहली शती तक है जिसमें आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता है। तीसरा काल पहली शती से चौथी पाँचवीं तक आता है जिसमें प्रेम-गीत लिखे गए। इसी काल में चौथी श्रेणी के भी गीत लिखे गए जिनमें रहस्य और वासना दोनों का भयंकर मिश्रण दिखाई पड़ता है। संस्कृत में वस्तुतः शुद्ध गीतिकाव्य प्राप्त नहीं होता। वैदिक गीतों की स्वच्छन्द धारा संस्कृत के सामन्तवादी अभिजात साहित्य में खो गई इसीलिए १२वीं शती के जयदेव को कुछ लोग संस्कृत का प्रथम गीतिकार मानते हैं। यद्यपि यह पूर्णतः ठीक नहीं है।[3]

§ ४०५. गीत काल का वास्तविक उदय बारहवीं शताब्दी के बाद देशी भाषाओं में हुआ। विद्यापति, चण्डीदास, सूर, मीरां आदि इस गीत-युग के प्रमुख स्रष्टा हैं। ब्रजभाषा का सत्रहवीं शताब्दी का काव्य मूलतः गीत-काव्य है। गेय मुक्तकों के रूप में गीतों का जैसा निर्माण उक्त शताब्दी में ब्रजभाषा में हुआ वैसा अन्यत्र शायद ही संभव हो। इसका मूल कारण उस काल की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के भीतर निहित है। मुसलमानी आक्रमण से क्षुब्ध जन-मानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढ़ि-विरोधी विचारों की क्रान्तिकारी मान्यताएँ तथा सामन्तवादी संस्कृति के विघटन से उत्पन्न नई वैयक्तिक चेतना इन गीतों के निर्माण में पूर्णतः सहायक हुई है। इस युग में रचित गीतों को देखकर प्रायः विद्वानों को बड़ा कौतूहल रहा है कि एक सद्यः जात भाषा में इतने उच्चकोटि के गीतों का आकस्मिक सृजन कैसे सम्भव हुआ। किन्तु यह कौतूहल बहुत उचित नहीं है क्योंकि सूर-पूर्व ब्रजभाषा में गीत काव्य की बहुत ही पुष्ट और विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है।

परवर्ती अपभ्रंश में गेय पद लिखे जाते थे। प्राकृत पैंगलम् जैसे मूलतः छन्द का ग्रन्थ है उसमें छन्दों के उदाहरण पिंगल के लक्षणों के लिए संकलित हैं, संगीत या रागिनियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी कुछ पद ऐसे हैं जो गेय प्रतीत होते हैं। उनमें गीत तत्व की विशेषताएँ मिलती हैं। गेय मुक्तक की सबसे बड़ी विशेषता भावना-पूर्णता है अर्थात् गीत के लिए अति भावप्रवण होना आवश्यक है। गीत की अन्य विशेषताओं में गेयता, सम्पूर्णता, प्रभावान्विति आदि को अत्यन्त आवश्यक गुणधर्म माना जाता है। प्राकृतपैंगलम् का एक पद नीचे दिया जाता है।

१ डा० [illegible] : [illegible], पृ० ९०

२. इ० वाशबर्न हाप्किन्स : द [illegible] [illegible] [illegible] आफ इंडिया, [illegible] [illegible]

३. द्रष्टव्य : लेखक का निबन्ध, [illegible] : [illegible], [illegible], [illegible], ११५१ ईस्वी

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पआसिअ ।
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे, गिरि हत्थ धरे ॥
जमलज्जुण भंजिअ पअ भर गंजिय ।
कालिय कुल संहार करे, जस भुवण भरे ॥
चाणूर विहंडिअ णियकुल मंडिय ।
राहा मुह महु पान करे जिमि भ्रमर वरे ॥
(प्राकृत पैंगलम् पृ० ३३४ पद सं० २०७)

इसमें अन्तिम वाक्यार्थ का प्रयोग यद्यपि छन्द की गति के अनुकूल है किन्तु यह पदों की टेक की तरह बीच में प्रवाह तोड़ कर नये आरोह से गीत-तत्व को बढ़ाने में सहायक भी होता है। इन पदों की तुलना में गीत गोविन्द के श्लोकों से कर चुका हूँ। गीत गोविन्द में बहुत से श्लोक इसी शैली में लिखे गए हैं और उन्हें भी गीत ही कहा जाता है। लोगों की धारणा है कि जयदेव ने लोक-जीवन से गीत-तत्व प्राप्त किया था। उस समय की लोक भाषा का हमें पूरा ज्ञान नहीं है। किन्तु उपर्युक्त प्रकार के अवहट्ट-पद इसका कुछ संकेत देते हैं।

चर्यागीत गेय काव्यों की परंपरा के अत्यंत उज्जवल स्मृति-चिह्न हैं। चर्या के पद राग-रागिनियों में बंधे हुए हैं। सरहपा के पदों में गूजरी (पद नं० २), राग देशाख (पद नं० ३२) भैरवी (पद नं० ३३) राग मालशी (पद नं० ३६) आदि तथा शबरपा के पदों में राग बलाड्डि (पद नं० २८) डोम्बिपा के पदों में राग धनसी अर्थात् धनश्री (पद १४), राग बराडी (पद ३४) आदि का नाम दिया हुआ है। सिद्धों के समूचे गीत इसी प्रकार राग-बद्ध हैं। सिद्धों के गीतों की भाषा पूर्वी प्रभाव के बावजूद मूलतः शौरसेनी के परवर्ती रूप का आभास देती है। इन गीतों की शैली का प्रभाव नाथ योगियों तथा सन्तों के गेय पदों पर भी बहुत पड़ा। गोरखबानी में बहुत से गीत राग-रागिनियों में बँधे हुए मिलते हैं। यद्यपि गोरखबानी के पदों में राग का नामोल्लेख नहीं है, किन्तु सबदी में संकलित पद गेय हैं इसमें शक नहीं।

सन्त-साहित्य का अति प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द 'शब्दी' गेय पदों के लिए ही प्रयुक्त होता है। कबीर दास के तथा अन्य संत कवियों के गेय पदों में रागों का निर्देश किया गया है। गुरु ग्रन्थ साहब में संकलित संत कवियों की रचनाओं में, जिनका विस्तृत परिचय हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं, पदों के राग निश्चित हैं। संतों के पद न केवल अपनी शैली, रागतत्व और गेयता आदि गुण-धर्म की दृष्टि से सूरकालीन अष्टछाप के कवियों के पदों के पूर्वरूप हैं बल्कि इनकी भाषा-अभिव्यक्ति सभी कुछ सूर कालीन व्रज पदों की पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करती हैं।

सूर कालीन पदों के अत्यंत परिष्कृत और पुष्ट रूप के निर्माण में संगीतज्ञ कवि खुसरो, बैजू बावरा, गोपाल नायक, हरिदास, तानसेन आदि का भी प्रचुर योग मिला है (देखिये § २३८)।

§ ४०६. कुछ विद्वानों की धारणा है कि पद लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों से चल कर पश्चिमी देशों की ओर आई है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की मान्यता का विरोध करते हुए लिखा है कि 'क्षेमेन्द्र कवि के दशावतार-वर्णन में एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी श्री कृष्ण मथुरा पुरी को चले गए तो वियोगविनिद्रया गोपियां गोदावरी के

किनारे पर श्री कृष्ण का गुण-गान करने लगीं। गोपियों का गान मात्रिक छन्द में लिखा है। गीत इस प्रकार है।

ललित विलास कला सुखखेलन
ललना लोभन शोभन यौवन
मानित नव मदने
अलिकुल कोकिल कुवलय कज्जल
कालकलिन्द सुता विगलजल
कालिय कुल दमने

इस पद्य का छन्द वही है जैसा *प्राकृत पैंगलम्* के पहले उधृत पद का है। *गीत की इस* मार्मिक रचना को देखते हुए यह कहना उचित नहीं है कि गीतों का प्रथम निर्माण पूर्वी प्रदेशों में ही हुआ। वस्तुतः गीत समष्टि मानव-मन की स्वभावोत्पन्न संपत्ति हैं। जैसे, जल, पवन, धरती किसी एक प्रदेश की वस्तु नहीं, आकाश में इन्द्रधनु और जल पर लहरें सर्वत्र बनती बिगड़ती रहती हैं वैसे ही गीतों का उदय मानवी-कंठ से आरंभिक भावोद्रेक की अवस्था में अनायास ही होता है। ब्रजभाषा में इस प्रकार के गेय मुक्तकों का कुछ विशेष महत्व है। वैसे अपनी अपनी भाषा किसे अच्छी नहीं लगती, किन्तु प्रत्येक भाषा का एक निजी छन्द होता है। संस्कृत के अनुष्टुप्, प्राकृत के गाथा, अपभ्रंश के दोहाछन्द की तरह पद ब्रजभाषा का निजी काव्य रूप है। सूरदास तो इस प्रकार के पदों के आचार्य ही थे। सूर सागर गीतों का भांडार है। शायद ही संगीत की कोई ऐसी प्रसिद्ध रागिनी बच गई हो जिसका प्रयोग सूरदास ने न किया हो। डा० मुंशी राम शर्मा ने लिखा है कि सूर के गान कुछ ऐसी रागरागिनियों में हैं *जिनमें कुछ के तो अब लक्षण भी प्राप्त नहीं हैं।*[2] *किन्तु इस अद्भुत कौशल, पूर्णता और अद्वितीय* अभिव्यक्ति-शक्ति के पीछे जयदेव से लेकर तानसेन तक की परंपरा का योगदान भी मानना चाहिए।

मंगल काव्य

§ ४०७. काम मानव-जीवन के चार पुरुषार्थों में अन्यतम है। भारतीय वाङ्मय में काम के उन्नयन और महत्व की अपूर्व अभ्यर्थना की गई है। वैसे तो विश्व के किसी भी देश में ब्याह-मंगल का महत्व है, किन्तु वैवाहिक संस्थाएँ और उनकी उपयोगिता ज्यों ज्यों नियमबद्ध और राज्य-संचालित व्यवस्था से आबद्ध होती जाती हैं त्यों-त्यों उनके सहज सौन्दर्य का रूप भी नष्ट होता जाता है, इसी कारण पाश्चात्य देशों में विवाहोत्सवों में वह उल्लास और कौतूहल नहीं रहा जो भारत में खासतौर से विदेशी-प्रभाव से मुक्त लोगों के विवाहोत्सवों में होता है। मंगल-काव्य मुख्यतः अपने प्रकार में लोकात्मक काव्य रूप है। आज भी हमारी लोक-भाषाओं में विवाह से सम्बद्ध सहस्रों लोकचित्तोद्भूत गीत वर्तमान हैं जिनकी विचित्र मार्मिकता और सौन्दर्य अप्रतिम है। भारतीय-विवाह की पद्धति कुछ इतनी उन्मुक्त साथ ही मर्यादित उल्लासपूर्ण साथ ही करुणा विगलित रही है कि इस वातावरण में किसी

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०८-९
2. सूर सौरभ, डा० मुंशीराम शर्मा, तृतीय संस्करण, पृ० १८१

भी सहृदय को शोकोल्लास की विचित्र अनुभूति अवश्य होती है। कवियों ने इसी असाधारण भावावेग को नाना प्रकार के छन्दों में बाँधने का प्रयत्न किया है। भारतीय विवाह के बारे में विचार करते हुए श्री दोई ने लिखा है कि 'विवाह हिन्दू-जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा सर्वव्यापक घटना माना जाता है, यह अनन्त वार्तालाप और लम्बी तैयारी के बाद निश्चित होता है। अविवाहित हिन्दू का समाज में कोई ऊँचा स्थान नहीं होता।'[1] इसी प्रसंग में दोई ने लिखा है कि जीवधारियों की बात तो दूर, हिन्दू वृक्ष, लता, कुएँ, पशु-पक्षी, गुड़िया तक की शादी करना अपना पवित्र कर्तव्य मानता है।[2] यह है महत्व विवाह का भारतीय जीवन में, इसी अद्भुत महत्वपूर्ण घटना को काव्य में प्रस्तुत करनेवाले प्रकारको मंगल, विवाहलो, माहरो आदि नाम दिए गए हैं।

मंगल काव्य बंगाल में भी लिखे गए हैं किन्तु उनकी परम्परा कुछ भिन्न प्रतीत होती है। बंगाल के मंगल काव्यों में देवताओं की शक्ति, अपने भक्त को असह्य कष्टों से बचाने की क्षमता और त्राणकर्त्री दया का परिचय देते हुए उनकी स्तुति गाई जाती है। इस प्रकार के मंगल काव्यों में मनसा मंगल अत्यन्त प्रसिद्ध है।

हिन्दी, राजस्थानी गुजराती आदि भाषाओं में मंगल काव्य का अर्थ विवाह-काव्य ही है। मंगल, धवल, विवाहलो, स्वयंवर, परिणय आदि के नाम से इस प्रकार के बहुत से काव्य लिखे गए हैं। गुजरात में जैन मुनियों ने अपने महापुरुषों के विवाहादि का वर्णन किया है। आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित' में सर्ग २ श्लोक ६६८-७९ में श्री ऋषभदेव और सुमंगला के लग्न का विशद वर्णन किया है। गुजराती-राजस्थानी में सैकड़ों की संख्या में इस प्रकार के काव्य लिखे गए हैं।[3]

हिन्दी में कबीर के लिखे हुए आदि मंगल, अनादि मंगल तथा अगाध मंगल नामक तीन काव्य मिलते हैं। हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत ब्रजभाषा में कई मंगल काव्य लिखे गए। इनमें पृथ्वीराज रासो के ४६वें समय का विजय मंगल, संवत् १४९२ विक्रमी में विष्णु-दास का लिखा हुआ रुक्मिणी मंगल, नरहरि भट्ट का रुक्मिणी मंगल, मीरां बाई का नरसी जी को माहरो आदि प्रसिद्ध रचनायें हैं। रासो का मंगल विवाह काव्य है जिसमें संयोगिता को उसकी गुरु-ब्राह्मणी वधू धर्म की शिक्षा देती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है विजय मंगल कोई पृथक् काव्य था जिसे बाद में रासो में जोड़ दिया गया।[4] विष्णुदास के रुक्मिणी मंगल में कृष्ण और रुक्मिणी के परिणय की कथा बड़े आकर्षक ढंग से कही गई है। लेखक ने रुक्मिणी को प्रभु की दासी और भक्त बताया है इसीलिए स्वाभाविक प्रेम प्रसंगों में असामान्यता के कारण भाव-सृष्टि मात्र होकर रह जाती है। प्रायः जैन मंगल काव्यों में आध्यात्मिक रंग बहुत गहरा हो जाता है और कहीं कहीं सांसारिक वृत्ति और आध्यात्मिक विराग में

---

१. हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरिमनीज़, लेखक, जे. ए. दोई, आक्सफोर्ड, तीसरा संस्करण, पृ० २०५

2, Ibid, An Areborous Wedding, pp 653

३. प्रो० मंजुलाल र० मजूमदार गुजराती साहित्य नां स्वरूपो, विवाहलो वेलि, पृ० ३६४-३९९, बड़ौदा, १०५४

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०३

उपसंहार

§ ४०८. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य के इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक की उस उच्छिन्न कड़ी को पुनः परम्परा-शृंखलित करना था, जिसके अभाव के कारण ब्रजभाषा और उसके साहित्य को सत्रहवीं शताब्दि में आकस्मिक रूप से उदित मानना पड़ता है। अपभ्रंश, अवहट्ठ, पिंगल तथा औक्तिक ब्रज के विभिन्न स्तर की रचनाओं की भाषा और साहित्य का विश्लेषण करने के बाद भाषा और साहित्य सम्बन्धी जो उपलब्धियां और निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, उन सबका उल्लेख कर पाना संभव नहीं मालूम होता, इसलिए यहाँ संक्षेप में कुछ विशिष्ट उपलब्धियों का ही संकेत किया गया है। भाषा-सम्बन्धी अध्ययन कई हिस्सों में बंटा हुआ है। अलग-अलग रचनाओं की भाषा का पूरा विवरण तत्तत् प्रसंगों में आया है। यहाँ केवल सर्वव्यापक कुछेक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जाता है।

§ ४०९. मध्यदेशीय भाषा की एक अविच्छिन्न साहित्य-परम्परा रही है। वैदिक भाषा या छन्दस् से शौरसेनी अपभ्रंश तक की महिमा-मंडित परम्परा अपने विकास क्रम में ब्रजभाषा को प्राप्त हुई। ब्रजभाषा के विकास में इन सभी भाषाओं का योगदान है। भाषा-निर्माण की कुछ स्थितियों जो सत्रहवीं शताब्दी की ब्रजभाषा की विशेषतायें कही जाती हैं वैदिक भाषा में ही वर्तमान थीं। स्वरागम, स्वरभक्ति, र् का विकल्प लोप तथा र-ल की परस्पर विनिमेयता (देखिये § २१) वाक्यविन्यास में कर्ता, कर्म, क्रिया की पद्धति भी वैदिक भाषा से ही मिलती है (देखिए § २२) ऋ का अ, इ, ई, उ, ए, ओ, आदि में परिवर्तन अशोक के शिलालेखों की भाषा में ही शुरू हो गया था (§ २४) इसी भाषा में आदि य लोप, अन्त्य 'अ' के ओ में परिवर्तन तथा न के ण रूप में परिवर्तन की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है (§ २४)।

§ ४१०. पालि मगध की नहीं मध्यदेश की भाषा थी (§ २६) स्वर-मध्यवर्ती-व्यंजन, स्वर संकोच, स्वरभक्ति, र ल की विनिमेयता तथा अस् धातु के विभिन्न रूपों के व्यवहार विशा

के रूप में प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम नव्य भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं पालि में ही शुरू हो गई थी। (§२७)

§४११. **महाराष्ट्री प्राकृत** मध्यदेश की भाषा थी यह मध्यदेशीया शौरसेनी की कनिष्ठ रूप थी (§ २६) ह्रस्व से दीर्घ और दीर्घ से ह्रस्व में परिवर्तन की स्वर-प्रक्रिया यहीं से शुरू हुई। मध्यग व्यंजनों का लोप, श्रुतियों का प्रयोग बढ़ने लगा (§ २८) कारकों की संख्या में न्यूनता, सम्बन्ध-सम्प्रदान का एकीकरण, भाषा में अश्लिष्टता का प्रावान्य 'रामाव कए दत्तं' जैसे रूपों में परसर्गों के आविर्भाव के संकेत इस भाषा में मिलते हैं (§ २६) ध्वनि-प्रक्रिया की दृष्टि से ब्रजभाषा पर **शौरसेनी अपभ्रंश** का घोर प्रभाव है (देखिये § ३३) कारक विभक्तियों का तीन समूहों में श्रेणी विभाजन, लुप्तविभक्तिक पदों का प्रयोग, परसर्गों के विविध, रूप, सर्वनामों के विकारी रूपों की वृद्धि, क्रिया और काल रचना में नई प्रवृत्तियां-कृदन्तों सहायक क्रियाओं का विधान अपभ्रंश में दिखाई पड़ता है (देखिये § ३४)।

§४१२. **हेम व्याकरण में संकलित दोहों की भाषा** ब्रजभाषा की निकटतम पूर्वज है, ध्वनिविकास और रूप विकास के प्रत्येक पहलू से यह भाषा ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। ल्ह, म्ह, न्ह जैसी ध्वनियों का प्रयोग हेम व्याकरण के दोहों की भाषा में प्राप्त है (§ ५३) सरलीकरण की प्रवृत्ति, व्यंजन द्वित्व का ह्रास (§ ५४) हिं विभक्ति का अधिकरण और कर्म में समान रूप से प्रयोग (§ ६०) परसर्गों का सविभक्तिक कारकों में प्रयोग जैसा ब्रजभाषा में वर्तमान है (§ ६१) सर्वनामों के हउं, हौं, मंइ, प्राकृतांश में मो (हेम० ८।३। १०६) मध्यमपुरुष के तुहुं, तुंव, तुज्झ, तंइ (ब्रज का तैं) का परवर्ती विकास पूर्णतः ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है (§ ६३) साधित रूप 'जा' (हेम० ४।३६५) भी यहां मिलता है। ब्रज में साधित जा, वा, का आदि का प्राधान्य है। सर्वनामिक विशेषण ज्यों के त्यों किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ ब्रज में गृहीत हुए (§ ६४) भूतकाल के निष्ठा रूप उ-ओ का तथा तिङन्त रूपों का ब्रज में सीधा विकास हुआ हेमचन्द्र के दोहों की भाषा में-इ-प्रकार के भविष्यत्कालिक रूपों का बहुत प्रयोग हुआ है (देखिये § ६५) भूतकृदन्त सहायक क्रिया के प्रयोग महत्वपूर्ण हैं। शब्दावली की दृष्टि से हेमचन्द्र के दोहों में प्रयुक्त तथा देशी नाममाला में संकलित बहुत से शब्द ब्रजभाषा में दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार करीब एक सौ शब्दों के समानान्तर ब्रज-प्रयोग इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ब्रजभाषा इस भाषा से कितने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है (§ ६८-७०)

§४१३. विक्रमी संवत् १२०० से १४०० के बीच ब्रजभाषा की तीन शैलियाँ प्रचलित थीं। अवहट्ठ, चारणशैली अथवा पिंगल तथा औक्तिक ब्रज (देखिये § ८४) अवहट्ठ, **पिंगल और औक्तिक ब्रज के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—**

(१) स्वर संकोचन (Vovel Contraction) की प्रवृत्ति का विकास (§८६, १३५)

(२) अकारण व्यंजन द्वित्व की प्रवृत्ति चारण शैली की ब्रजभाषा की मुख्य विशेषता है (§ ८८, § १३१)

(३) म् > वं का रूपान्तर (§ ६०, § १३६)

(४) ल्ह, म्ह जैसी कई ध्वनियों का प्रचुर प्रयोग (§ ६१)

(५) व्यंजन द्वित्व का सरलीकरण, यह नव्य आर्यभाषाओं की अत्यन्त व्यापक प्रवृत्ति है, ब्रज की तो यह एक प्रकार से आन्तरिक प्रवृत्ति है (§ ६२, ११२, १३०)

(६) मध्यग व का उ में परिवर्तन (§ ११५ तथा § ५८)

(७) अनुस्वार का ह्रस्वीकरण, क्षतिपूर्ति के लिए अनुस्वार का पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ भी हो जाता है (§ ११३)

(८) निर्विभक्तिक कारक रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति का बहुत विकास हुआ (§ ७१, § ९५)

(९) विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण मिलने हैं सन्देशरासक की भाषा में तथा (§ ९६) हेमचन्द्र के दोहों से यह प्रवृत्ति शुरू हुई (§ ७१।२)

(१०) परसर्गों में अभूत पूर्व वैविध्य और विकास दिखाई पड़ता है, तृतीया में सों, ते, सूं, सरिस चतुर्थी में लगि, तणउ, कारन, कारने षष्ठी में कै, कउ, तणे, केरि आदि सप्तमी में महँ, माँह, मज्झ, उपरि, पइँ आदि के प्रयोग महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। परसर्गों के रूप में बहुत से सार्थक शब्दोंके प्रयोग भी होने लगे। (§ १०३, १०७, ११६, १४२)

(११) कर्त्तकरण का 'ने' परसर्ग १०वीं शताब्दी की किसी भी रचना में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसके प्रयोग केवल कीर्त्तिलता में दिखाई पड़ते हैं (देखिये § १०७) रासो की भाषा में बीम्स ने इस तरह के प्रयोग बताये थे किन्तु उनकी प्रामाणिकता में सन्देह है (§ १४२)

(१२) सर्वनामों के विविध रूपों के प्रयोग। साधित रूपों जा, का, या से बने रूपों के प्रयोग प्राकृतपैंगलम् की भाषा में मिलते हैं (देखिये § ११८ तथा § १४३)।

(१३) ब्रजभाषा में प्रचलित सभी सर्वनाम रूप पिंगल, तथा अवहट्ठ में प्राप्त होते हैं देखिये (११८, § १४३)।

(१४) क्रिया में भूतनिष्ठा का ओकारान्त रूप मिलता है (देखिये § १२०) अ+उ= औ की एक मध्यन्तरित अवस्था भी थी अओ तथा एओ। इसी से–औ और– यौ रूप विकसित हुए (§ १०६, § १२६)।

(१५) रासो की भाषा में दीधो, कीधो, लिद्ध, किद्ध का प्रयोग (देखिये § १४५) प्रद्युम्न चरित तथा परवर्ती नरहरिभट्ट, केशव, आदि में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

(१६) सामान्य वर्तमान में तिङन्त रूपों का प्रयोग अपभ्रंश अवहट्ठ पिंगल, में समान रूप से होता है। निश्चित वर्तमान में ब्रज में तिङन्त+सहायक क्रिया का प्रयोग होता है। प्राकृतपैंगलम् में ऐसे बहुत से प्रयोग मिलते हैं (दे० § १२०)।

(१७) पूर्वकालिक-युग्म का प्रयोग-पूर्वकालिक क्रिया में कृ धातु के असमापिका रूप का प्रयोग टहेवि करि, जुरिकै आदि (देखिये § १२०, § ६६)।

(१८) भविष्यत् काल में -ह- वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है (§ १४४) -ग-

वाले रूपों का अभाव है। रासो के करिग, निरिग आदि से इसके विकास का अनुमान हो सकता है (§ १४५)

(१६) संयुक्त काल और संयुक्त क्रिया का प्रयोग (§ १०१, § १०३)।

(२०) नकारात्मक ण के साथ 'जाइ' के प्रयोग से क्रियार्थक संज्ञा से बने रूप कहण न जाइ आदि (§ १०२)।

(२१) वर्तमान काल में 'अन्त' वाले वर्तमानकालिक कृदन्त रूप का प्रयोग (§६८, १०७, १२०, १४४)।

यह संक्षेप में १२०० से १४०० विक्रमाब्द की ब्रजभाषा की मुख्य विशेषतायें हैं। मौखिक या बोलचाल की ब्रजभाषा के अनुमानित रूप की कल्पना की गई है, उसमें भाषा-सम्बन्धी निम्नलिखित संकेत-चिह्न प्राप्त होते हैं।

(२२) तत्सम शब्दों की बहुलता, (देखिये § १५४)।

(२३) संभवतः प्राचीन ब्रज में भी कभी तीन लिंगों का प्रयोग होता था, भाषा में कोई प्रयोग नहीं मिला परन्तु उक्ति वैयाकरणों ने ऐसा संकेत किया है (§ १५६।३)।

(२४) रचनात्मक प्रत्ययों का विकास और विविध रूपों में प्रयोग करतो, लेतो, करणहार, लेनहार, करिवो, लेवो, देवो आदि के प्रयोग (§ १५६)।

§ ११४. १४०० से १६०० तक की ब्रजभषा के अध्ययन की मुख्य उपलब्धियाँ—

(१) अन्त्य 'अ' सुरक्षित है, मध्यकालीन ब्रज की तरह इसमें लोप नहीं दिखाई पड़ता (§ २५७)।

(२) आद्य या मध्यग अ का इ में परिवर्तन (§ २५८)।

(३) आद्य अ का आगम (§ २५६)।

(४) अन्त्य इ परवर्ती ब्रज की तरह ही उदासीन स्वर की तरह प्रयुक्त हुआ है (§ २६२)।

(५) मध्यग इ का य् रूपान्तर (§ २६३)।

(६) सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति पूर्वी भाषाओं में ही नहीं पश्चिमी में भी है, प्राचीन ब्रज में ऐसे प्रयोग हुए हैं (§ २७०)।

(७) पदान्त अनुस्वार अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होता था (§ २७१)।

(८) मध्यवर्ती अनुस्वार सुरक्षित रहता था (§ २७२)।

(९) ण–न परस्पर विनिमेय हैं र–ड–ल में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है (§ २७४ तथा § २७५)।

(१०) ल्ह, न्ह, ह्ह तीनों महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग बहुतायत से होने लगा था (§ २७६)।

(११) त का कभी-कभी ज में रूपान्तर होता था (§ २७६)।

(१२) संयुक्त व्यंजन प्रायः सरलीकृत दिखाई पड़ते हैं (§ २८२)।

(१३) वर्ण विपर्यय—मात्रा, अनुनासिक, स्वर और व्यंजन चारों में होता था। (§ २८७)।

(१४) कर्ता कारक की ने विभक्ति का प्रयोग १५ वीं तक की लिखी रचना में प्राप्त नहीं है। (§ ३१४)।

(१५) 'नि' विभक्ति जो परवर्ती ब्रज में बहुवचन के रूप द्योतित करती है, १६ वीं शताब्दी के पहले की ब्रजभाषा में शुद्ध रूप में नहीं मिलती। वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता आदि में 'न्हि' रूप मिलता है। रासो में ऐसे रूप हैं, १६ वीं के बाद की ब्रजभाषा में इसका प्रयोग शुरू हो गया था (§ २६०)।

(१६) सर्वनाम प्रायः परवर्ती ब्रज की तरह ही हैं। १४११ संवत् के 'प्रद्युम्न चरित' में 'यद्द' रूप मिलता है जो काफी महत्वपूर्ण है (§ ३०२) मध्यमपुरुष के कर्तृकरण का 'तैं' रूप प्राप्त नहीं होता (§ २६६) निकटवर्ती निश्चय में 'इ' रूप मिलता है ये बाद में भी प्रयुक्त हुए (§ ३०३) किरो रूप केवल रासो की वचनिकाओं में आता है (§ ३०८) 'धावरे' १४६२ संवत् के रुक्मिणी मंगल में प्रयुक्त हुआ है (§ ३१०)।

(१७) परसर्गों की दृष्टि से प्राचीन ब्रजभाषा में कई महत्वपूर्ण प्रयोग हुए हैं। इसमें कई अपभ्रंश के अवशिष्ट हैं और परवर्ती ब्रज के परसर्गों के विकास की मध्यन्तरित कड़ी की सूचना देते हैं (§ ३१३–२१)।

(१८) क्रियाओं में कई महत्वपूर्ण रूप मिलते हैं जो परवर्ती ब्रज में नहीं हैं यद्यपि क्रियाएं पूर्णतः ब्रज के ही समान हैं (§ ३२२–३४१)।

इन विशिष्ट निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि १४वीं–१६वीं शताब्दी की ब्रजभाषा परवर्ती ब्रज से जहां एक ओर समानता रखती है, उसके विकास की प्रत्येक प्रवृत्ति के उद्गम स्रोत का पता बतलाती है वहीं वह इस बात का भी संकेत मिलता है कि इस भाषा की कई प्रवृत्तियां बाद में अनावश्यक समझकर छोड़ दी गईं। बहुत से ऐसे रूप, जो आवश्यक और अपेक्षित थे तथा जिनका प्राचीन ब्रजभाषा में अभाव है या अल्पता है, प्रयोग में आने लगे।

§ ४१५. सूर-पूर्व ब्रजभाषा-काव्य का अध्ययन कई प्रकार के तथ्यों का उद्घाटन करता है। सूरदास के पहले अज्ञात करीब बीस कवियों के काव्य का परिचय साहित्य के एक अलक्षित हिस्से के निर्माण में सहायक हो सकता है। प्राचीन ब्रज के संक्रान्तिकाल (१२००–१४००) के साहित्य के अध्ययन से यह मालूम होता है कि परवर्ती ब्रज की मुख्य धाराएं भक्ति, शृङ्गार और शौर्य-ब्रजभाषा के आरम्भ से ही मौलिक रूप में विकसित हो रही थीं। कृष्ण भक्ति का काव्य भागवत, गीतगोविन्द अथवा विद्यापति की प्रेरणा का ही परिणाम नहीं है। हेम व्याकरण के दोहों, प्राकृतपैंगलम् की रचनाओं में कृष्ण भक्ति के बीजांकुर वर्तमान हैं। भक्ति के कई पदों, स्तुति, प्रणति, निवेदन तथा इष्टदेव के रूप आदि का वर्णन इन रचनाओं में बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। शृङ्गार और भक्ति के सम्मिश्रण पर बहुत बार विचार होता है। जयदेव कवि के गीत गोविन्द में भक्ति और शृङ्गार के एकत्र सम्मिलन का जो प्रश्न हुआ है महत्वपूर्ण है, ब्रजभाषा की कृष्ण भक्ति-काव्य में शृङ्गारिक चेतना गीत गोविन्द का ही परिणाम नहीं

है बल्कि आरम्भिक ब्रज में इसकी काफी विकसित परंपरा थी जो सूरादि के काव्य में प्रतिफलित हुई। ब्रजभाषा–जैनकाव्य का यहां प्रथम बार विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ऐहितापरक तथा घोर शृङ्गार की परवर्ती प्रवृत्ति जो रीतिकालमें दिखाई पड़ी, वह भी आरम्भिक ब्रजभाषा में वर्तमान थी। जैन काव्यों में शृंगार के नखशिख वर्णन, वियोग-संयोग के चित्रणों ने परवर्ती काव्य को अवश्य प्रभावित किया। निर्गुन भक्तों की कविताओं में सगुण भक्ति के तत्व विद्यमान थे। संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों में कृष्ण भक्ति का बहुत ही सरस और मनोहारी रूप दिखाई पड़ता है।

§४१६. काव्यरूपों का विस्तृत अध्ययन हिन्दी में नहीं दिखाई पड़ता। मध्यकालीन काव्य रूपों का अध्ययन अन्य सहयोगी नव्य भाषाओं में प्रचलित समान काव्य रूपों के अध्ययन के बिना संभव नहीं है। गुजराती, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, तथा मैथिली आदि में प्रचलित काव्य रूपों के परिचय और विवरण के साथ ही आरम्भिक ब्रजभाषा के काव्य रूपों का सन्तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। रासो, चरित काव्य, कथा वार्ता, प्रेमाख्यानक, वेलि, विवाहलो या मंगल, लीला काव्य, विप्रमतीसी, बावनी आदि काव्य रूप शास्त्रीय और लौकिक दोनों प्रकार के काव्य-रूपों के सम्मिश्रण से बने हैं। इन काव्यरूपों की पृष्ठभूमि में तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक चेतना का पता चलता है।

परिशिष्ट

(चौदहवीं–सोलहवीं शताब्दी में लिखित
अप्रकाशित रचनाओं के अंश)

प्रद्युम्न-चरित[1]

सधार अग्रवाल, रचनाकाल १४११ संवत्, स्थान आगरा

सारद विणु मति कवितु न होइ, मकु आपर णवि बुझइ कोइ ।
सो सादर पणमई सुरसती, तिन्हि कहुँ बुधि होइ कत हुती ॥१॥
सबु कोइ सारद सारद कहई, तिसु कउ अन्त कोउ नहिं लहई ।
अठ दल कमल सरोवर वासु, कासमीर पुर मांहि निवास ॥२॥
हंस चढी करि लेखनि लेइ, कवि सधार सारद पणमइ ।
सेत वस्त्र पद्मावतीण, करइ अलावणि वाजइ वीण ॥३॥
आगम जाणि देइ बहु मती, पुणु हुई जे पणवइ सुरसती ।
पद्मावती दंद कर लेइ, जालामुखीव केसर देइ ॥४॥
अंबं मांहि रोहिणि जे सारू, सासण देवी नवइ सधारू ।
जिण सासन जो विघण हरेइ, हाथ लकुट दाणे सौ होइ ॥५॥
सरस कथा रस उपजइ घणउ, निसुणहु चरित पदूमह तणउ ॥१०॥
सम्वत चउदह सौ हुइ गयौ, ऊपर अधिक एगारह भयो ।
भादव वदि पंचमी सो सारू, स्वाति नखत्र सनीचर वारू ॥११॥
सायर मांहि द्वारिका पुरी, मयण अप्पु जो रचि करि धरी ।
वारह जोजण कौ विस्तारा, कंचण कलसति दीसइ दारा ॥१५॥
छाया चउवारे बहु भंति, सुद्ध फटिक दीसइ ससि कंति ।
मगंज मणि जाणौं जडे किमाड, सोहे मोती वन्दन माल ॥१६॥
इक सौ वने धवल आवास, मठ मंदिर देवल चउपास ।
चौरासी चौहट्ट अपार, बहुत भांति दीसइ सुविचार ॥१७॥
चहुंदिस खाई गहिर गभीर, चहुंदिस लहरि झकोलइ नीर ।
सो वासइ''''''आणियो, कोडिध्वज निवसहि वाणियो ॥१८॥

नारद आगमन :

निसुणि वयण रिसि मन विहसाइ, कुसल बात पूछी सतिभाइ ।
देइ असीस सो ठाडे भयऊ, कुनि नारद रनिवासहिं गयऊ ॥२८॥
तहँ सिंगार सतिभाम करेई, नयन रेख कज्जल संवरेई ।
तिलक ललाट ठवइ मसि लाई, पण नारद रिसि गो तिहि ठाई ॥२९॥
नारद हाथ कमंडलु धरइ, कालरूप अति देखत डरइ ।
सो सतिभामा पीछेउ ठियउ, दरपण मांझि विरूप देखियउ ॥३०॥

---

१. श्री बधीचन्द मन्दिर जयपुरके शास्त्र भाण्डारमें सुरक्षित प्रति से ।

सुभणु जननि गुणवइ उरिधरिउँ, सामइराज घरहिं अवतरिउँ ।
एरछ नगर बसन्ते जाणि, सुणिउँ चरित मोहिं रचिउँ पुराण ॥७०५॥
सावय लोग बसहि पुरमांहि, दस लक्षण' ति धर्म कराहि ।
दूसण मांहि न दूजो भेउ, भावहिं चित्त जिणेसर देउ ॥७०६॥
संवत् १६०४ वर्षे आसोज वदि मंगलवासरे श्री मूलसंघे
लिखायित श्री ललितकीर्ति सा चांदा, सा० सरणण सा ।
नाथू सा दशायोग्य दत्तं । श्रेयातु शुभामस्तु मांगल्यं ददातु ।

हरीचन्द पुराण[1]

कवि जाखू मणियार, रचना काल १४५३ सं०

शूलपाणि सत समरूं गणेस, स्वर मंडन मति देहि असेस ।
सिधि बुधि मति दे करउ पसाउ, ज्यु धुरि पयडौं हरिचंद राउ ॥१॥
ब्रह्मकुँवरि स्वामि स्वर माय, सुर किन्नर मुनि लागइँ पाँय ।
कियो सिंगार अलावण लेइ, हंस गमणि सारद वर देइ ॥२॥
सारद तूठे कथ्यो पुराण, पावी मति बुधि उपनो जाँण ।
करूँ कवित्त मन लाँवो वार, सतहरिचन्द पयडो संसार ॥३॥
चौदह सै तिरपनैं विचार, चैतमास दिन आदित वार ।
मन मँाहि सुमिर्‍यो आदीत, दिन दसराहै कियौ कवीत ॥४॥
किस्न दीपायन भारथ कीयो, आश्रम छाँडि रिषि नीसर्‍यो ।
जनमेजय के रावलि गयो, भेट्यो राउ हरिषि मन भयो ॥५॥
किस्न द्वीपायन कहै सुभाव, पाँडव चरित संभाल्यो राव ।
सिर धुनि नरवै पूछा कान, एह बोल म सभल्यों आन ॥६॥
गोत्र वध्यो उणि भारथ कर्ण, उन विसवासि वध्यो रण द्रोण ।
निर्‍णो रिषि यो केशव आणं, तिन्ह कौं कैसे सुणूं पुराण ॥७॥

आँचली

सुरिजवंस राज सपवित्त, धन हरिचन्द म मेल्हो चित्त ।
सुणो भाव धरि जाखू कहै, मासैं पाप म पीडो रहै ॥८॥
भणै रिषेस्वर संभल्यो राय, ...सुचिता भाय ।
जो तुम बाहुडि पूछो मोहि, किये न भारथ कहिहों तोहि ॥९॥

× × ×

चाल्यो राय तिन्हहि मन आप, कियो प्रणाम औ लाग्यो पाय ।
किस्न दीपायन किपा अब करौ, बेगि मोहि भारथ उधरौ ॥२२॥

---

१. अभय जैन ग्रन्थ भांडार, बीकानेर की प्रति गुटका में संकलित, श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित ।

विपरित रूप रिषि रिसउ ताम, मन विसमाद्यो सुन्दर वाम ।
रैणि कुडीया कियउ कुमाल, माति करन भायेउ वेताल ॥३१॥
घर्यो बार रिषि ठाढेउ भयउ, दुइकर जोडि रमणि सन कहियउ ।
अपनो कोर न सायो सहारि, तउ नारद रिषि चल्यो पचारि ॥३२॥
थिगडु पूर तु पाउ न चलई, ताकंह पूर मान तु मिलई ।
इकु रपाली इकु थीर्या खाई, इकु नारद भउ चल्यो रिसाइ ॥३३॥
नारद रिषि पग चल्यो रिसाइ, धौगिरि पर्वत चढ्ठे जाइ ।
मन मा पछुत्यो चिन्ताइ सोइ, कइसइ मान भंग या होइ ॥३४॥

प्रद्युम्न-वियोगः

नित नित मांजइ चिलगी खरी, काहे दुखी विधाता करी ।
इकु धावइ अरु रोवइ वयण, आंसू वहत न थाके नयण ॥१३६॥
की मइ पुरिष विछोही नारि, की दव घाली वणह मझारि ।
की मइ लोग तेल घृत हरउं, पूत संताप कवण गुण परउं ॥१३७॥
इमि सो रूपिणि मनहि विषाइ, तो हरि हलहर बइठउ आइ ॥१३८॥

प्रद्युम्न-कृष्ण युद्धः

इहि मोसों बोल्यो भगलाइ, अब मारउं जिन जाइ पलाइ ।
उपनेउ कोप भई चित कांणि, धनुष चढायेउ सारंग पाणि ॥४०२॥
अर्धचन्द्र तिहि साधिउ बाण, अब या कउ देषिअउं पराण ।
साधिउ धनुष उदीठउ वाम, कोपारूढ मयण भौ ताम ॥४०३॥
कुसुमबाण तव बोल्यो वयणू, धनु हरि छीनि गयउ मइ मइणू ।
हरि को चाप तूटि गो जाम, दूजिउ धनुष संचारेउ ताम ॥४०४॥
फुनि कंदपु सर दीन्हेउ छोडी, वहइ धनुष गयो गुण तोडी ।
किसन कोप रण ध्यायउ जाम, रूपिणि मन अवलोकइ ताम ॥४०५॥
दऊ मभारै मेरौ मरणु, जूझइ कान्ह परइ परदमणु ।
नारद निसुणि कहइ सति भाइ, अब या भयौ मीचु को ठाँइ ॥४०६॥
कोपारूढ कोप तब भयऊ, तीजउ चाप हाथ करि लयऊ ।
पमलइ वाण मयण सुजि चडिउ, सोउ वाण तूटि धर परउ ॥४०७॥
विष्णु सँभालइ धनहर तीनि, पिन परदमणू घालइ छीनि ।
हंसि हंसि बात कहै परदमनु, तो सम नाही छत्री कमणू ॥४०८॥
का पहं सीख्यो पोरिस ठाउण, मो सम मिलहि सोहि गुरु कउण ।
धनुस वाण छीनेउं तुम्ह तणे, तेउ राषि न सके आपणे ॥४०९॥
तो पतरिछु मैं दीठेउ आज, इहि पराण तउ भुंजिउ राज ।
फुनि परदमणू जंपइ तास, जरासंध क्यों मारिउ कांस ॥४१०॥

अन्तः

पंडित जन विनयउं कर जोरि, हउँ मति हीन म लावउ खोरि ।
अगरवाल की मेरी जाति, पुर आगरे मौंहि उतपत्ति ॥७०१॥

सुषणु जननि गुणवइ उरिधरिउँ, सामहराज घरहिं अवतरिउँ ।
एरछ नगर बसन्ते जाणि, सुणिउँ चरित मोहिं रचिउँ पुराण ॥७०५॥
सावय लोग वसहि पुरमांहि, दस लक्षण ति धर्म कराहि ।
दूसण मांहि न दूजो भेउ, भावहिं चित्त जिणेसर देउ ॥७०६॥
संवत् १६०४ वर्षे आसोज वदि मंगलवासरे श्री मूलसंघे
लिखायित श्री ललितकीर्ति सा चांदा, सा० सरणण सा ।
नायू सा दशायोज्य दत्तं । श्रेयातु शुभामस्तु मांगल्यं ददातु ।

हरीचन्द पुराण[1]

कवि जाखू मणियार, रचना काल १४५३ सं०

सूलपाणि सत समरूं गणेस, स्वर मंडन मति देहि असेस ।
सिधि बुधि मति दे करउ पसाउ, ज्यु पुरि पयडौं हरिचंद राउ ॥१॥
महाकुँवरि स्वामि स्वर माय, सुर किन्नर मुनि लागई पाँय ।
कियो सिंगार अलावण लेइ, हंस गमणि सारद वर देइ ॥२॥
सारद हूवे कथ्यो पुराण, पावो मति बुधि उपनो जाँण ।
करूँ कवित्त मन लाँवो वार, सतहरिचन्द पयडो संसार ॥३॥
चौदह सै तिरपनै विचार, चैतमास दिन आदित वार ।
मन माँहि सुमिन्यो आदीत, दिन दसराहै कियौ कवीत ॥४॥
किस्न दीपायन भारथ कीयो, आसम छाँडि रिषि नीसर्यो ।
जनमेजय के रावलि गयो, भेट्यो राउ हरिषि मन भयो ॥५॥
किस्न द्वीपायन कहै सुभाव, पाँडव चरित संभाल्यो राव ।
सिर धुनि नरवै पूछा कान, एइ बोल म सभल्यों आन ॥६॥
गोत्र वध्यो उणि मारय कर्ण, उन विसवासि वध्यो रण द्रोण ।
निरणो रिषि यो केशव जाणं, तिन्ह कौं कैसे सुणूं पुराण ॥७॥

आँचली

सूरिजवंस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त ।
सुणो भाव धरि जाखू कहै, नासैं पाप न पीडो रहै ॥८॥
भणै रिषेस्वर संभल्यो राय, ...सुचिता भाय ।
जो तुम बाहुडि पूछो मोहि, किये म भारय कहिहौं तोहि ॥६॥

× × ×

चाल्यो राय तिन्हहि मन जाय, कियो प्रणाम औ लाग्यो पाय ।
किस्न दीपायन क्रिपा अब करौ, बेगि मोहि भारथ उचरौ ॥२२॥

---

१. अभय जैन ग्रन्थ भांडार, बीकानेर की प्रति गुटका में संकलित, श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित ।

वैसम्पायन शिष्य हंकारि, किस्न दीपायन कहै विचारि ।
जन्मेजय भारथ सुणाव, ब्रह्म हत्या को फेरे पाव ? ॥२६॥
भारथ सुणायौं परव अठार, मिटी हत्या भयो जय जयकार ॥२७॥

वस्तु

जाई पातिक सयल असेस
होइ धरम बहु, दुक्खे हँणिज्जइ
देवप्रिया रन रंभावती ? एक लीइ हेम थूणीज्जइ
कृष्न दीपायन उच्चरइ जे यहि छन्द सुणन्तु
मनसा वाचा कर्मणा घोर पाप फीटन्तु

पत्नी-पुत्र वियोग

रोवइ कुँवर माइ मुह चाहि, मेलि मोहि चली कहाँ माइ ।
अवसि न चूकै जाइ पराण, फाटै हियो पर्सायो थान ॥
रोहितास मन झुरै घणै, मागो लाभ वच्छ तोहि तणै ।
धरि वाहड़ी नीराली करइ, तब-तब बालक हो आगे सरइ ॥
कलीयल कोहल करै अति घणै, चीरन मेल्है माई तणै ।
आन्यो थाप पड्यो मुरझाइ, पड़तां सांभल्यो बापड़ माय ।
भगु भगु दुष पड्यो अतिदाह, जाणे चन्द्र मिल्यो जिमि राह ॥

रोहिताश्व की मृत्यु

विप्र पुंछि वन भीतर जाइ, रानी अकली परी विललाइ ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ ॥
हा धिग हा धिग करै संसार, फाटइ हियो अति करइ पुकार ।
तोड़इ लट अरु फाड़इ चीर, देवै मुख अरु चौवै नीर ॥
दीठे पड़ियो जीवन आधार, सूनो आज भयो संसार ।
धरि उछंग मुख चूमा देय, अरे वच्छ किम थान न पेय ॥
दीपउ करि रोपेउ अधियार, चन्द विहुणि निसि घोर अंधार ।
वच्छ जु विण गौ जिमि कार ही आहि, रोहितास विणु जीवौं काहि ॥
तोहि विणु मो जग पाल्ट भयो, तोहि विणु जीवतंइ मारउ गयो ।
तोहि विणु मैं दुष दीठ अपार, रोहितास लायो अंकवार ॥
तोहि विणु नयन दल्है को नीर, तोहि विणु सोस ज्यों सुके सरीर ।
तोहि विणु बात न श्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पपाणो देइ ।
तोहि विणु धरंग न रहतों बाल, रोहितास लायो अकवाल ॥

वस्तु

नयण नीर झुरझुरइँ अपार ।
अवग ताल कर कंकल मूणइ, मरण हंसउ मोग मैंनहै ॥
एक कुंवर तोरी तणे विमहर हरयो पचारि ।
रहव अनागिनक मिटिव मन आणइ विचारि ॥

अंत

नगर अजोध्या भयो उछाह, पसू जाति लै चाल्यो राय।
प्रिय भगति घर कीजै घणी, परजा सुखी कीजै आपणी॥
महत पुरिष है दीजौ मान, गुरू वचन कीजौ परमाण।
मेल्हो कुंवर चाल्यो हरिचंद, कंचन पूरि भयो आणंद॥
पुहुप विवाण बैठि करि गयौ, हुयो बधावो आरती भयौ।
जिणि परिमिलियौं बाप पूत अरु भाय, तिणि परि मिलि यौ सबको राय
एहि कथा को आयो छेव, हम तुम जयो नारायण देव॥
इति श्री हरिचंद पुराण कथा, सम्पूर्ण

महाभारत कथा[1]

गोस्वामी विष्णुदास, रचनाकाल संवत् १४६२

विनसै धर्म किये पाखंडु, विनसै नारि गेह परचंडु।
विनसै रांडु पढाये पांडे, विनसै खेले ज्वारी डांडे॥१॥
विनसै नीच तनै उपजारू, विनसै सूत पुराने हारू।
विनसै मांगनौं जरै जु लाजै, विनसे जूफ होय विन साजै॥२॥
विनसै रोगी कुपथ जो करई, विनसै घर होते रन धरमी।
विनसै राजा मंत्र जु हीनू, विनसै नटकु कला विनु हीनू॥३॥
विनसै मन्दिर रावर पासा, विनसै काज पराई आसा।
विनसै विद्या कुसिषि पढाई, विनसै सुन्दरि पर घर जाई॥४॥
विनसै यति गति कीनै ब्याहू, विनसै अति लोभी नर नाहू।
विनसै घृत हीनें जु अंगारू, विनसै मन्दो चरै जटारू॥५॥
विनसै सोनूं लोह चढ़ायें, विनसै सेव करै मनभायें।
विनसै तिरिया पुरिष उदासी, विनसै मनहि हंसे विन हांसी॥६॥
विनसै रूख जो नदी किनारै, विनसै घर जु चलै अनुसारै।
विनसै खेती आरसु कीजै, विनसै पुस्तक पानी भीजै॥७॥
विनसै करनु कहे जे काम्, विनसै लोभी म्योहरै दाम्।
विनसै देह जो राचे वेस्या, विनसै नेह मित्र परदेसा॥८॥
विनसै पोखर जामें काई, विनसै बूढ़ो ब्याहे भई।
विनसै कन्या हर-हर हसयी, विनसै सुन्दरि पर घर बसयी॥९॥
विनसै विप्र विन षट कर्मा, विनसै चोर प्रजा से मर्मा।
विनसै पुत्र जो बाप लड़ायें, विनसै सेवक करि मन भायें॥१०॥
विनसै यश क्रोध जिहि कीजै, विनसै दान सेव करि दीजै।
इतो कपटु काहे को कीजै, जो पंडो बनवास न दीजै॥११॥

---

१. विनहाट, जिला आगरा के श्री चौबे श्रीकृष्ण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२९-३१, पृ० ६५३-५४)

अहंकार न होइ अकाजू, ऐसे आप तुम्हारो राजू।
होनि कीनिहूँ है दिन भारी, जम होमें नर बदन पसारी ॥१२॥

× × ×

किरपा कान्ह भयो आनन्द, जो पोसन समर्थ गोम्यंद।
हरि हर करत पाप सब गयो, अमरपुरी पार भव गयो ॥२१४॥
अविचल थोक सु उत्तिम थान, निश्चल वास पांडवन जान।
एकादशी सहस्र जो करै, अश्वमेध यज्ञ उच्चरै ॥२१५॥
तीरथ सकल करै असनाना, पंडो चरित सुनै दै काना।
वरिष दिवस हरिवंस पुरान, गऊ कोटि विप्रन कहं दान ॥२१६॥
सो फल मकर माघ असनाना, जो फल पांडव सुनत पुराना।
गया क्षेत्र पिंड जो भरै, सूर्य पर्व गंगाजी करै ॥२१७॥
पंडो चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनै।
एक चित्र सुनै दै कान, ते पावै अमरापुर थान ॥२१८॥
पंडो कथा सुनै दै दानु, तिनको होय प्रयागै थानु।
स्वर्गारोहण मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनै ॥२१९॥
रामकृष्ण लेखक को लिखी, बाँचै सुणै सो होसी सुखी।
श्री वल्लभ राम नाम गुण गाई, तिनके भक्ति सुदृढ़ ठहराई ॥२००॥

रुक्मिणी मंगल

(दोहा)

रिधि-सिधि सुख सकल विधि नवनिधि दे गुरुज्ञान।
गति मति सुति पति पाईयत गनपति को घर ध्यान ॥१॥
जाके चरन प्रताप ते दुख सुख परत न डिठ।
ता गज मुख सुख करन की सरन आवरे इठ ॥२॥

(पद)

प्रथम ही गुरु के चरण वंदत गौरी पुत्र मनाइये।
आदि है विष्णु जुगाद है ब्रह्मा संकर ध्यान लगाइये॥
देवी पूजन कर वर मांगत बुध श्री ज्ञान दिवाइये।
ताते अति सुख होय अंबे आनंद मंगल गाइये॥
गोरा लक्ष्मी खुरदहा सरस्वति तिनको सीस नवाइए।
चंद्र सूर्य दोऊ गंगा जमुना तिनको ते अति सुख पाइए॥
संत महंत की पग रज ले मस्तक तिलक चढ़ाइए।
विष्णुदास प्रभु पिया प्रीतम को रुकमनी मंगल बनाइए॥

(राग गौरी)

गुण गाऊं गोपाल के चरण कमल चित लाय ।
मन इच्छा पूरण करो जो हरि होय सहाय ॥
भीषम नृप की लाड़ली कृष्ण ब्रह्म अवतार ।
जिनकी अस्तुति कहत हौं सुन लीजै नर-नार ॥

(पद)

तुछ मत मोरी थोरी सी बौराई भाषा काव्य बनाई ।
रोम रोम रसना जो पाऊं महिमा वर्ण नहिं जाई ॥
सुर नर मुनि जन ध्यान धरत हैं गति किनहूँ नहिं पाई ।
लीला अपरंपार प्रभू की को करि सके बड़ाई ॥
वित्त समान गुण गाऊं स्याम के कृपा करी जादोराई ।
जो कोई सरन पड़े हैं रावरे कीरति जग में छाई ॥
विष्णुदास धन जीवन उनको प्रभुजी से प्रीति लगाई ।

(रागनी पूर्वी दोहा)

विदा होय घनस्याम जू तिलक करैं कुल नारि ।
तात मात रुकमन मिली अँखियन आँसू डारि ॥
मोहन रुकमिन ले चले पहुँचे द्वारका जाय ।
मोतियन चौक पुराय के कियो आरती माय ॥
आज बधाई बाजै आई वसुदेव के दरबार ।
मनमोहन प्रभु ब्याह कर आए पुरी द्वारका राजै ॥
अति आनंद भयो है नगर में घर-घर मंगल साजै ।
अंगन तन में भूषन पहिरे सब मिलि करत समाज ॥
बाजे बाजत कानन सुनियत गौवत घन ज्यूँ बाज ।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजै दुख भाज ॥
नाचत गावत मृदंग बाज रंग बसावत आज ।
विष्णुदास प्रभु को ऊपर कोटिक मन्मथ लाज ॥

(रागिनी धनासिरी दोहा)

पूजत देवी अम्बिका पूजत और गणेश ।
चन्द्र सूर्य दोउ पूज के पूजन करत महेश ॥
कुल की रीति अनु आइके बहुत करी अब सेव ।
मोहत सखियन खेल के और पुजी कुल देव ॥

(पद)

मोहन महलन करत विलास ।
कनक मंदिर में केलि करत हैं और कोऊ नहिं पास ॥

रुकमिन चरन सिरावै पिय के पूजो मन की आस।
जो चाहो सो अब्बे पावो हरि पत देवकी सास॥
तुम बिन और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकास।
निस दिन सुमिरत करत तिहारो सब पूरन परकास॥
घट-घट व्यापक अन्तरजामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दास[1]॥

स्वर्गारोहण

(दोहा)

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक वरदान।
स्वर्गारोहण ग्रंथ की वरनौं तत्व बखान॥

(चौपाई)

गणपति सुमति देहु आचारा। सुमिरत सिद्धि सो होइ अपारा।
भारत भार्यो तोहि पसाई। अरु सारद के लागौ पाई॥
अरु जो सहज नाथ वर लहहूँ। स्वर्गारोहण विस्तर कहहूँ।
विष्णुदास कवि विनय कराई। देहु बुद्धि जो कथा कहाई॥
रात दिवस जो भारथ सुनई। नासै पाप विष्णु कवि भनई।
यौं पांडव गरि गये हेवारे। कहौं कथा गुरु वचन विचारे॥
दल कुरुखेतहिं भारत कियौ। कौरव मारि राज सब लियौ।
जदुकुल में भये धर्म नरेसा। गयो द्वापर कलि भयो प्रवेसा॥
सुनहु भीम कह धर्म नरेसा। बार बार सुन ले उपदेसा।
अब यह राज तात तुम लेहू। कै भैया अर्जुन कह देऊ॥
राज सकल अरु यह संसारा। मैं छाँड़ौं यह कहै भुवारा।
बन्धु चार ते लये बुलाई। तिनसों कही बात यह राई॥
लै के भूमि भुगतु बरबीरा। काहे दुर्लभ होउ सरीरा।
ठाढ़े भये ते चारों भाई। भीमसेन बोले सिरनाई॥
कर जुग जोरे विनई सेवा। गयो द्वापर कलि आयो देवा।
सात दिवस मोहिं अमल गयऊ। टूटी गदा खंड द्वै भयऊ॥
हारो शुद्र न औसो आई। कलि जुग देव रह्यो ठहराई।
इतने वचन सुने नरनाथा। पाँचो बंधे चले इक साथा॥
नगर लोक राखें समुझाई। आगत कहवां न काहु की राई।
कंचन पुरी सु उत्तम ठाऊ। तहाँ बसै पांडव को राऊ॥

× × ×

---

१. गड़वापुर, जिला सीतापुर के पं० गंगानारायण दुबे की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२६–२८, पृष्ठ ७४९–५०)

एकादशि व्रत यो मन धरई। अरु जो अश्वमेध पुनि करई।
तीरथ सकल करै अस्नाना। सो फल पांडव सुनत पुराना॥
वर्ष द्वैस हरिवंश सुनाई। देइ कोटि विप्रन कौं गाई।
गया मध्य को पिन्ड भराई। अरु पट कर आचमन कराई॥
सूर्य पर्व कुरु खेत नहाई। ताको पाप सैल सम जाई॥
स्वर्गारोहण मन दै सुनई। नासे पाप विष्णु कवि भनई।
वित उनमान देहि जो दाना। ताको फल गंगा अस्नाना॥
यह स्वर्गारोहण की कथा। पढ़त सुन फल पावै जथा।
पांडव चरित जो सुनै सुनावै। अन्न धन्न पुत्रहिं फल पावै॥

(दोहा)

स्वर्गारोहण की कथा पढ़ै सुनै जो कोइ।
अष्टदशौ पुराण को ताहि महाफल होइ॥[1]

स्वर्गारोहण पर्व[2]

और जो जब सुन विस्तार कहै। कहत कथा कछु अद्भुल है॥
वाही समै हंसि बोलै जगदीसा। पांचों वीरहिं वह धीसा।
...तुम जिन हथिनापुर ठहराहू। पांचों वीरहिं वारै जाहूँ॥
तुम जिन वीर धरौ संदेहू। पूरव जन्म लहौ फल एहू।
सुनि कौंता विलखानी वैना। जल थल रूप भये ते नैन॥
जा धरती लगि भारथ कीना। द्रोणाण गंगे बेंपी लीना।
कमल फूल सेइ रमकारी। सो भैया चाले लिंघारी॥
मारे कर्न सक्ति संजूता। से घर छाड़ि चले अब पूता।
धरिती छांड़ि सर्ग मन धरिया। इतनी सुनी कौंता लरखरिया॥
विलखि परीछित राखि समझाई। बैठे राज प्रजा प्रतिपाला।
राज सहदेव नकुल कौं देहूँ। हमको संग आपने लेहू॥
तुमे छांडि मोपै रह्यौ न जाई। साथ तुम्हारे चलिहौं राई।
इतनी सुनि बोले नरनाथा। जुगति नहीं चलौ तुम साथा॥

× × ×

कायापलट भई उन देहा। पिछलौ उनकौं नाहिं सनेहा।
उनकी नाहिन सुरति तुम्हारी। अब तुमहिं कौं घरी है भारी॥

---

१. दरियावगंज, जिला एटा के लाला शंकरलाल पटवारी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १६२६-३१, पृ० ६५६-५७)।
२. अतमादपुर, जिला आगरा के पं० अजीराम की प्रति से (खोज रिपोर्ट सन् १६२६-३१ पृ० ६५७-५८)

कलि गोर्सा सुरपति जहाँ कहिया। ताको पाग छाड़िनो रहिया।
देव दृष्टि जन भये सारा। तुम्हें मांहि पहचानन बीरा॥
कलियुग देव पाप की रासी। साथ लोग छाडेंगे जासी।
कलि में ऐसी चलिहै राई। जाति बड़ी निरखा घर जाई॥
और कहीं सब कलिके भेषा। कहत सुनत जग चीतो देषा।
मचकुंद तुम करो अरनाना। और सयो तुम अमिरत पाना॥
देव गननि के बरी पाई। मुनि नारद को आई लिवाई।
अब तुमकौं पहिचानिहै राई। देखत चरन रहे लपटाई॥
तुव चरनन मैं मायो लावै। ऐसो इन्द्र जू कहि समुझावै॥

लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा[1]

कवि दामो, रचनाकाल १५१६ संवत्

(प्रारम्भ)

श्री श्री गणपति कुलदेव्यापा नमः
सुणउ कथा रस लील विलास, योगी भरण राय बनवास
पद्मावती बहुत दुख सहइ, मेलउ करि कवि दामउ कहइ
कासमीर हुँती नीसरइ, पंचन हूँ सत अमृत रस भरइ
सुकवि दामउ लागइ पाय, इम वर दीयो सारद माय
नमुं गणेस कुंजर सेस, मूसा वाहन हाथ फरेस
लाडू लावण अस भरि थाल, विघन हरण समरुँ दुंदाल।
सम्वतु पनरह सोलोत्तरा मझारि, जेष्ट वदी नवमी बुधवार
सत तारिका नखत्र दृढ जाणि, वीर कथा रस करूँ बखाण।
सरस विलास कामरस भाव, जाहु दुर्गम मनि हुऊ उछाह
कहइति कीरत दामो कवेस, पद्मावती कथा चिहुँ देस॥
सरसति आयसि दीवउ जांम, रच्यउ कवित कवि दामइ ताम।
लखण छंद गूढ का भाई, तेह ज दीउ हरिष करि माई॥
सिधनाथ योगी भो जाम, हीडउ घर पुर पाटण गाम।
खापर काती करि लइ डंड, इहि परि फीरइ सिद्ध नव खंड॥५
गढ सामौर हंस तिहाँ राय, योगी उपमि गयो तिमि ठाय।
सबद घालइ सो जपन जाई, पद्मावती दीठउ तिहि ठाय॥८
ससि वयणी नितु अमृत चवइ, पूछइ सिधु कुमरि ढिग जाय।
कइ तु वरणी कइ कुआरी अछइ, योगी कइ विलासण पछइ॥६
एक उतर सउ नखइ वहइ, सो मो वरइ कुमरि इमि कहइ।
बचन प्रमाण हीयइ दृढ लीय, धन-धन हंस राय की धीय॥१०

---

[1] बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित प्रति से

एकोतर सउ नरवइ मरइ, तउ कुमरीय सयंवर वरइ ।
सुकथो वचन योगी तिहि ठाय, सिधिनाथ विमाघण भाय ॥११॥

(वस्तु)

दिढ योगी दिढ योगी रूप बेर जरि तं घूम विधरणी परयो मनि मूंकी
चल नयनी ससि वदी वचन देहु नहु जीभ सूकी ।
तप जप संजम सहु रह्यो, नयन वाण कियो मारि ।
एक उतर सउ नर वहई सो नर परणइ नारि ॥१२॥

(चौपाई)

एतउ कहि पद्मावती जाई, जोगी पहुंचो पुहवी आई ।
करइ आलोच मरम आपणा, पुण लागे नवइ देवणा ॥१३॥
योगी सिधनाथ तिण ठाइ, सुरंग दीठी तिण कूऑ माँहि ।
गइ सामउर हंस की बाल, तिणि कारण नर भरइ भूपाल ॥१४॥
चन्द्रपाल भड सहास धीर, आण्यउ चण्डसेन वर वीर ।
आण्यउ अजयपाल धरवाल, हल हमीर आण्येउ हरपाल ॥१५॥
दंडपाल धर आण्यउ वली, मद करि घाल्यउ कूऑं नली ।
सहसपाल सामन्त सौं भेव ... ...

(अन्त)

हंसराय राणी प्रति कहइ, पदमावती उछंग लेइ रहइ ।
धीर हीर नेउर झुणकार, पदमावती करइ शृंगार ॥५५॥
दूजी चन्द्रावती सूं जाण, राजा लखमसेन अगेवाण ।
पाट बइसाणी अंचल जोड, तव हरख्यो तेत्रीसउ क्रोड ॥५६॥
हंसराय घरि विधि आचार, घरि बांध्यो तोरणिवार ।
दोइ कर जोडी बोलइ राय, अम्ह लखणउती देहु पठाय ॥५७॥
इम बोलइ सब हरख्यो राय, हय गय वर दीन्हो पलणाय ।
दीधी पेई भरीय संजूत, मणि माणिक आणीयो बहूत॥५८॥
सासू जुहारण चाल्यउ राय, धीय उछंग धरी छइ माय ।
लखणसेन चाल्यउ ततखणा, सयरि लोक मिलि वलीया घणा ॥५९॥
दोई राजा मिलिया तिणि काल, नयन नीर वहइ असराल ।
हंसराय पाछौ वाहुडि गयौ, लखमसेन पयाणउ कीयउ ॥६०॥
घरि चाल्यउ लखणउती राय, ततखण चल्यउ नीसाणे घाय ।
जिणि मारगि संचरयउ पयालि, तिणि मारगि बहुडयो भुआलि ॥६१॥
तव दीठी लखणउती राय, अति अणंद हरख्यउ मन माय ।
कहइ वधावउ आयउ राई, तव तिन लाधउ बहुत पसाई ॥६२॥
लखम सेन लखणोती गयउ, राज मांहि वधावउ भयउ ।
वंभण भाट करइ कइ वार, मिलियो वेगि सहु परिवार ॥६३॥

कलि खोटौ सुरपति जहाँ कहिया। ताको
देव दृष्टि उन भये सरीरा। तुम्हें
कलियुग देव पाप की रासी। साप
कलि में ऐसी चलिहै राई। जानि
भीर कहीं सब कलिके भेया। कहत
मचकुंद तुम करो अस्नाना। औरु
देव गननि के बन्दी पाई। मुनि
अब तुमकौं पहिचानिहै राई। देम
तुव चरनन में मायो लावै। ऐसे

सुनै कथा नर पातग हरै। ज्यौं वैताल बुद्धि बहु करै।
विक्रम राजा साहस करै। कह 'मानिक' ज्यों जोगी मरै॥
संवत् पन्द्रह सै तिहिकाल। और बरस आगरौ छियाल।
निर्मल पाख अगहनु मास। हिमरितु कुम्भ चन्द्र को वास॥
आठै ओसु वार तिहि भानु। कवि भाषै वैताल पुरानु।
गढ़ ग्वालियर थानु अति भलौ। मानुसिंह तोंवरु जा बलो॥
संघई खेमल बीरा लीयो। 'मानिक' कवि कर जोरैं दीयो।
मोहि सुनावहु कथा अनूप। ज्यों वैताल किये बहु रूप॥

× × ×

कायथ जाति अजुध्या वासु। अमऊ नाऊ कवित को दासु।
कथा पचीस कही वैताल। पोहोचो जाइ भाव के पताल॥
ताके वंस पांचइ साख। आदि कथनु सो मानिक भाखि।
ता 'मानिक' सुत सुत को नंदु। कविता वन्त सुननि को चंदु॥
जैसे भानु दुर्क्यौ पाताल। ज्यों मांग्यो विक्रम भुवाल।
जैहि विधि चित्ररेख बस करी। ओर आपनी आपदा हरी॥

× × ×

मति ओछी थोरी ग्यान। करी बुद्धि अपने उनमानु।
अक्षर कटे होइ तुक भंग। समझो जाइ अर्थ को अंग॥
जहां जहां अनमिली बात। तहं चौकस कीजो तात।
जो पढ़ि है वैताल पुरानु। ओर संत सुनि दैहैं कान॥
तिनि के पुत्र होहि धन रिधि। ओर सहस्र जितों सब सिधि।
कर जोरैं भाखे सावन्तु। जै जै करनु संत को संत॥
विक्रम कथा सुनै चित कोइ। कायर सो नर कबहू न होइ।
रात साहसु पुरषारथ धरे। जो यह कथा चित्त अनुसरे॥
सो पण्डित कवि होइ अपार। बानी बुद्धि होइ बिस्तार॥

छिताई वार्ता[1]

कवि नरायन दास कृत, रचनाकाल संवत् १५५० के आसपास

आरंभ के पांच पत्र नष्ट हो गए हैं—

सुमरि गनेस गाहि लेखनी, लागौ बुधि रचन आपनी।
प्रथम रचौ सरसती सरूप, चकित चित्त जिमि होइ अनूप॥१२०॥
नैषधि निरखति लिख्यौ संयोग, नल दमयन्ती तणो वियोग।
भारद्य रामायन चित्रयो, मृगया महा मनोहर कीयो॥१२१॥
लिख्यौ कोक चौरासी भांति, चारि प्रकार नारि की जाति।
पदमिनि चित्रनि गज संखिनी, चित्रति महा मनोहर बनी॥१२२॥

---

१. प्रति श्री अभय जैन ग्रन्थागार, बीकानेर में अगरचन्द नाहटा द्वारा सुरक्षित

अरु गज पर नगर-सुवार, चारि तुरग चढ़ि आकार ।
कवियन कहै नरायन दास, अब लागी चित्रन आवास ॥१२५॥
देषन लोग नगर को आई, चितइ चित्र तन रहई भुलाई ।
ऐसा पंडित चतुर सुजान, तहिं आनि देषई दिन मान ॥१२६॥
इक दिवस की कहन न जाइ, बसइ छिपाई वकुकइ आइ ।
भामिन यूं सुन्दरि तुरि गई, देषि चितेरी मुग्धा भई ॥१२७॥
रही चितेरी मनहिं लगाइ, बहुरि न कबही मंडइ आइ।
जब जब सुनो होइ अवास, तब तब देषनि आवइ बास ॥१२८॥
ती कत दिन निरखै चारि, रचि रचि राग संवारि संवारि ।
काम निधा तन भई उदास, आई देषन चित्र अवास ॥१२९॥
गज गति चली मदन सुरझाइ, सखी पांच कइ साथ लगाइ ।
देषन चली चित्र की सार, लिख्यो चित्र जहां विविध प्रकार ॥१३०॥
लिखति चितेरे दीनी पीठ, तिह मेवर सुनि फेरी दीठ ।
कही छिपाई की सुर ओइ, इहै रंभा कइ अवसर होइ ॥१३१॥
देषति फिरति चित्र चहुं पासि, बीन सबद सुनि श्रवन निवास ।
देषी कोक कलाति पांति, चउरासी आसन की भांति ॥१३२॥
आसन देखत सखी लजाइ, अंचल मुख दीन्हेउ मुस्काइ ।
सखी दिखावइ बांह पसारि, कहो काहि अरु कहो विचार ॥१३३॥
देषै चित्र सुरत विपरीत, बाल भरम भयौ भयभीत ।
देखी नाटक नाटारंभ, लिखो चित्र चउरासी खंभ ॥१३४॥
चतुर चितोरे देषी तिसी, करि कागज महि चित्री तिसी ।
चितवनि चलनि मुरनि मुसक्यानि, चतुर चितोरे चित्री आनि ॥१३५॥
सुन्दरि सुघर सुघर परवीन, जोवन आनि बजावइ बीन ।
नाद करत हरि की मन हरई, नर बाउरा कहा धुं करई ॥१३६॥
इक सुन्दर अरु सवन शरीर, मिश्री मिश्रित भो जिमि पीर ।
इकु सोनों इकु होइ सुगन्ध, लहइ परस प्रिया गइ कंध ॥१३७॥
चित्र देषि बहुरी चित्रनी, आलस गति गयंद गुवंनी ॥१३८॥
कवियन कहै नरायन दास, गई छिताई बहुरि अवास ।
पहिरौ अंग कुसुंबी चीर, गोर वर्न अति सुवन सरीर ॥१४०॥
कुच कंचुकी सो सोहइ स्याम, मनहू गुदरी दीन्हीं काम ।
मृग चेटवा लगाए साथ, आपन लए हरै जो हाथ ॥१४१॥
तिन्हहिं चरावति बाह उचाइ, कुच कंचुकी संद तिह जाइ ।
तब कुच मोरि चितौरे देष, काम घटा जनु ससि की रेष ॥१४२॥

अन्त

श्री संवत् १६४० वर्षे माघ वदि ६ दिन लिषंत । वेला करमसी । साह राम जी पठनार्थं शुभम् भवतु ।

पंचेन्द्रिय बेलि[1]

कवि ठक्कुरसी, रचनाकाल १५५०

दोहड़ा

वन सरुवर फल खात फिरयो पइ पीवतो सुछिन्द ।
परसण इन्द्रिय परयो सो, बहु दुख सह्यो गयन्द ।।२।।

बहु दुख सह्यो गयन्दो, तइ होइ गई मति मन्दो ।
कागद कुंजरि को काजै, पड़िया सक्यो नहि भाजै ।।४।।
तेह सही घणी तिस भूषा, कवि कौण कहै बहु दूषा ।
रखवालण वल गयो जाणो, बेसासि राइ घर आणो ।।६।।
बघे पग सांकल घालै, त्यो कि वै सकइ न चालै ।
परसणे परयो दुख पायौ, नित आंकुस घावा घायौ ।।८।।
परसण रस रावण नामो, मारियो लंक श्री रामो ।
परसणि रस संकर राच्यौ, तिय आगे नट ज्यों नाच्यौ ।।१०।।
परसणि रस कीचक पूरयौ, गहि भीम सिला तल चूरयौ ।
परसणि रस जे नर पूता, ते सुरनर घणा विगूता ।।१२।।

दोहड़ा

केलि करन्तो जन्म जलि, गाल्यो लोभ दिखालि ।
मीन मुनिष संसार सर सों काढ्यो धीवर कालि ।।१४।।

सो काढ्यो धीवर कालि, हि गाली लोभ दिखालि ।
मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तिहि दीठै ।।१६।।
इहि रसना रस के घालै, थल आइ मुवै दुख सालै ।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौण कुकर्म न कीयौ ।।१८।।
इहि रसना रस के ताई, नर मुसै बाप गुरु भाई ।
घर फोड़ै मारै बाटा, नित करै कपट धन घाटा ।।२०।।
गुपि झूठ साच बहु बोलै, घरि छोड़ि देसाउर डोलै ।
इहि रसना विषय अकारी, बसि होई भोगनि गारी ।।२२।।
जेहि इर विषै वस कीयो, तहि मुनिष जनम फल लीयो ।
जिन जइर विषै वस कीते, तिन्ह मुनिष जनम विगूते ।।२४।।

दोहड़ा

कंवलिय पइठ्यो भंवर दलि घ्राण गंध रस रूदि ।
रैनि पड़ी सो संकुच्यौ, नीसरि सक्यौ न मूदि ।।२६।।

नीसरि सक्यौ न मूदो अति घ्राण गंधरस रूदो ।
मनि च्यंतै, रैनि सवाई, रस लैस्यों आजि अघाई ।।२८।।

---

१. आमेर भंडार जयपुर, और अभय जैन ग्रन्थागार बीकानेर की प्रतियाँ ।

जब उगै ली रवि भलो, सरवरि विकसैलौं कवलौं ।
नीसरियो इ तब छोडि, रस लैस्यौं आइ बहोडि ॥३०॥
यौं चितवत ही गज आयौ, दिनकर उगिवा नहि पायौ ।
जल पैठि सरोवरि पीयौ, नीसरत कमल पुढि लीयौ ॥३२॥
गहि सुंडि पाव तलि चंपियौ, अलि मरिगो थरहरि कंपियो ।
इहि गंध विषै छै मारौ, मन देख्यो मूढि विचारौ ॥३४॥
इहि गंध विषै वस हुआ, अलि ज्यौं उन घुटि मूआ ।
अलि मरण कारण दिठि दीजै, अति गंध लोभ नहु कीजै ॥३६॥

दोहड़ा

नेह अथागल तेल तसु वाती वचन सुरंग ।
रूप ज्योति पर त्यजहि सो पड़हित पुरुष पतंग ॥३८॥

सो पड़हित पुरुष पतंगो, पडि दीवै दहतो अंगो ।
पडि होइ जहां जिव पावै, मूरखि दीठि पैचि न राखै ॥४०॥
दिठि देषि करै नर चोरी, दिठि लषि तकै पर गोरी ।
दिठि देषि करै नर पापो, दिठि देषि परै संतापो ॥४२॥
दिठि देषि अहल्या इंदो, तन विकल भई मति मंदो ।
दिठि देषि तिलोत्तम भूल्यो, तप तप्यो विधाता डोल्यो ॥४४॥
ये लोइन लम्पट मूठा, बरज्यो तैं होइ अपूठा ।
जिन नैनन होइ वस कीता, से मानुष जनम जूगीता ॥४६॥
ज्यौं वरज्यो त्यौं रस वाया, रंग देषे अपने माया ।
ये नैन दुवै वसि रावै, सो हरत धरत सुप चावै ॥४८॥

दोहड़ा

वेगि पवन मन सारि कै सदा रहै भयभीत ।
वधिक बाण मारै मृगां, कानि सुणन्ता गीत ॥५०॥

यौं गीत सुणन्तो काणि, मृग लड्यो रहै हैरानि ।
धनु पैचि वधिक सर हन्यो, रस बांध्यो बाण न गिण्यो ॥५२॥
यौं नाद सुणन्तो सांपो, विल छोडि नीसरो आयो ।
पापी धरि घालि फिरायौ, फिर फिर दिन दुष्पि दिषायौ ॥५४॥
बींदरी नाद रंगु लागी, जोगी होइ भिषा मांगी ।
सो रहै नहीं समझायौ, फिरि आइ घर घर आयौ ॥५६॥
इ ना द र तसु रंग्यो ऐसो, यो महा विषै जगि जैसो ।
इ नाद अकै मारी भीलिया, नर मारौ बानै मीलिया ॥५८॥
इ नाद अकै रंगि राती, मृग गिणै नहि भ्रित आती ।
मृग घाव उपाइ विचारै, अति सुवणे नाद निवारै ॥६०॥

दोहरा

अलि गज मीन पतंग हरिन एक एक दुप दीय।
न्या हति ? मैं मै दुप सहै जेहि वस पद्मम कीय ॥६३॥

ए जेहि वस पञ्चम किरिया, ये पञ्च इन्द्रिन औगुन भरिया।
जे जप तप संयम खोयी, सुकृत सलिल समोयी ॥६४॥
ये पञ्च वसै इक अंगे, ये अवर अवर ही रंगे।
चषि चाहै रूप जो दीठो, रसना रस भावै मीठो ॥६६॥
अति न्हाले घ्राण सुगंधो, कोमल परसन रस बंधो।
अति स्रवण गीत जो हरै, मनो पंच पापी फिरै ॥६८॥
कवि घेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रकट ठकुरसी नावों।
सो वेलि सरस गुन गायो, चित चतुर पुरस समझायो ॥७०॥
सम्वत पन्द्रह सौ पच्चासी, तेरह सुदि कातिग मासो।
इ पांचो इन्द्रिय वस राखै, सो हरत घरत फल चाखै ॥७२॥
इति पंचेन्द्रिय वेलि समाप्त। संवत् १६८८, आसोज वदि दूज, सुकरवार लिखितम् जोता पारणी, आगरा मध्ये।

रासो, लघुतम संस्करण का गद्य

चन्दबरदाई, रचनाकाल १५५० संवत् के पूर्व

१. वार्ता—हिव कनउज का राजा की बात कहइ छइ।

२. वार्ता—राजा मिह आइ, राजा की पटरानी पधारि चित्रसाली दिखावन लागी, तिहां कर्णाटी दासी के महान कैलास के कह सो भोग जानियइ। गन गंधर्व मुनिय'''किन्नर कहत की कैलास हि कइ इम्मई वे ही उगरइ।

३. वार्ता—भेक बाण तो राजा चूक्यो, चौथे काल विधि आयात भयो, कइमास पाम डारि दिये।

४. वार्ता—दूसरउ बाण आन दियउ।

५. वार्ता—राजा देखतो दाहिमो कयमास परयो है, देखड दासी के निमित्त कैमासहि अहमिति होइ, भविष्यनु न मिटै।

६. वार्ता—पांचइ तत्व की देवता, दुइ, चोर न मानइ।

७. वार्ता—राजा महिल आरंभे मर्कीय टौर ठौर प्रारंभे। मूछा सामंत बोले औम चावै दुर्लोचा प्रधानेन खोडे। सुन्दर पत गीत सिंहासन सोवे, महांसूरा सामंतन हूं आसन दीने।

८. वार्ता—कैलास कन्म चोर पामि आइ टारी रही, देखि चोर मूं महाबंत बरहावे, इमन भो राजा पै बार दुवार, चोर राजा पहि चल्यिवे को हरषम कियउ, चोर की पी पेट पकिरी, देखि चंद।

९. वार्ता—हिव चन्द बरदायी कहै।

१०. वार्ता—तब चांद बोलयउ।

११. वार्ता—हिव राजा प्रिथीराज चांद सूं कहतु हइ।

१२. वार्ता—सांवंत टारिवन लागे, कुग-कुग!

१३. वार्ता—राजा प्रिथीराज चालंता शकुन होइन हइ।

१४. वार्ता—राजा कूं इह उतकंठा भयी, सांवंतन की पाखिन्ही आमा गयी, राजा नै आइस दीन्हीं जे ठाकुर पंगुराय प्रगट है ताकी आधीन हुइ के रूपे दुरावो, वाकी कैसे रूप ही साथि आवउ। सामंतनु मानिया निमा जुग भ्रेवा रजनी।

१५. वार्ता—राजाइ गंगा आइ देखी।

१६. वार्ता—राजा स्नान कीयो, सावंत ने स्नान कीयो, तब राजा गंगा को समरनु करत है।

१७. वार्ता—तब लगि भरनोदय भयो। गंगोदक भरिबै के निमित्त आनि ठाढ़ी भयी, मानो प्रकृति तीरथ भव की तीरथ दोऊ संकीरन भये, यों जानियतु है।

१८. वार्ता—ते किसी-भके पनिहारि है!

१९. वार्ता—अबहि नगर देखत है।

२०. वार्ता—चाँद राजा के दरबार ठाढो रह्यो।

२१. वार्ता—राजा ने पूछ्यो-दंड आडंबरी भेखधारी सु कम्बां क्यारि प्रकार भट्ट प्रवर्तंतु है, देखो धौं जाइ इनमें को है।

२२. वार्ता—छहै भाखा नो रस चाँदु कहतु है।

२३. वार्ता—अब चाँद भाट राजा जैचंद को वर्णवतु है।

२४. वार्ता—देख्यो भे अवरयत् दरिद्र को छत्तु लिये फिरै चौहान को बोल याके मुहि क्यों निकसैं।

२५. वार्ता—राजा पूछइ ते चंद ऊत्तर देत हइ।

२६. वार्ता—देखे भलो भाट है, जाको लून-पानि खात है ताको पूरउ बोलत है, राजा मनि चितवंत है।

२७. वार्ता—चाँद को पान देवै कै ताँई राजो उठि धवलग्रिहा कूँ आइ।

२८. वार्ता—ता खवास की दासी सुगन्धादिक तंबोलादिक घनसार म्रिगमद हेम—संपुट रतनहि जटित ले चली। सु कैसी है।

२९. वार्ता—राजा अनेक हास्य करन लागे, अनेक राजान के मान-अपमान सगि भँवर वै दिनयर अदरसे।

३०. वार्ता—अहनिसा तौं राभो जोग वीत्राही लिखा पांगुरहि क्यों आती है!

३१. वार्ता—पात्र-नाम। दर्पकांगी, नेह चंगी, कुरंगी, कोकाची कोकिलरागी, से भागवानी अंगाल लाज डोल अके बोल अमोल पुष्पांगुली पंगासिर आइ जयति विय कामदेव।

३२. वार्ता—राजा कइसी नींद बिसारि।

३३. वार्ता—रात्र गते थे, राजा अर्क सो देखियतु है।

३४. वार्ता—राजा आइसु दियो, ते गांज सोधा चहुवान को भट्ट आयो है, ताहि इतनो दियो।

१५. वार्ता—राजा प्रिथीराज कनवजहि फिरि आवतु हइ, इतने सामंतन सूँ पंगु राजा को कटकु सज्ज होई लरतु है।
१६. वार्ता—ओ तो राजा कूँ सुख प्रापत भयो, सावंतन को कुण अवस्था हइ।
१७. वार्ता—तउलूँ राजा आर देखइ, जैसो मदोमस्त हस्ती होइ।
१८. वार्ता—राजा कहै—संग्राम विसै स्त्री विवर्जित है।
१९. वार्ता—राजा प्रिथीराज कोऊ बाँधत है, अमरावली छंद इहाँ बाँचीइ।
२०. वार्ता—पहिलो सामंत सूर भूझे तिनके नाउँ अरु वरणनु कहतु है।
२१. वार्ता—अेते कहे तैसुनिकार दासी आइ ठाढ़ी भइ।
२२. वार्ता—राजा प्रिथीराजा के सेना कहतु है।
२३. वार्ता—बिरदावली किसी दीन्हीं
२४. वार्ता—इतनी बात सुणते तातार खाँ, रुस्तम खाँ, माय खाँ, बिहद खाँ, अे चारि खान सदर वजीर आनि खरे होइ अरदास करी।
२५. वार्ता—हम तमासगीरहा, आइ बेठु जब खाइ वसी इसके साहिब जूँ दास हथ राखि गरही कराउ। राजा छइ दिखाउ किस्यो देख्यो।
२६. वार्ता—राजा हे समस्या माहि आसीर्वाद दीन्हउ।
२७. वार्ता—सुरतान जलालसाह की दोहितीन फुरमान भइ दिउँगा।
२८. वार्ता—चंद फुरमाण माँगिवे-कूँ जाइ-गोरी बादसाहि। प्रिथी राज फुरमाण मागइ। तवहि फुरमाण देवे कूँ वादिसाहि हजूर हुउ, तब चाँद राजा, सूँ कह्यो-राजा प्रिथीराज। सच देश्वर सुरताण संइमुख फुरमाण देत हइ।

भगवत गीता भाषा[1]

थेघनाथ, रचनाकाल १५५७ संवत्, स्थान ग्वालियर

चौपाई

सारद कहु बन्दो करि जोर। पुनि सिमरौं तैंतीस करोर।
रामदास गुरु ध्याऊँ पाइ। जा प्रसाद यह कवितु सिराइ ॥१॥
मूंदिनि को है विष वहुरी। गुनियनि को अम्रति मंजरी।
थेघनाथ अम्रत विस्तरै। विनती गुनी लो सौं करै ॥२॥
आगि माहि डारियै स्वर्ण। बुरे भले को लीजै मर्म।
तैसें संत लेहु तुम जानि। मैं जु कथा यह कही बखानि ॥३॥
पंद्रह सै सत्तावनि भानु। गढु गोपाचल उत्तम थानु।
मानसाहि तिह दुर्ग निरिंदु। जनु अमरावती सोहै इंदु ॥४॥
नीत पुंन सो गुन आगरो। वसुधा राखन कौं अवतरो।
जाहि होइ सारदा सुवुद्धि। कै बृह्मा जाकैं हिय सुद्धि ॥५॥

१. आर्यभाषा पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की प्रति से

एकनि कै जिय भावै बीरु । जौ अरि देखति साहिस धीरु ।
कहै भान मो भावै राम । जातें ज्यौ पावै बिश्राम ॥२४॥
इहि संसार न कोऊ रह्यौ । भान कुवरु येयू सौं कह्यौ ।
माता पिता पुत्र संसारु । यहि सब हांसी माया जारु ॥२५॥
जाहि नाम ना कलजुग रहै । जीवै सदा सुखी की कहै ।
कहा बहुत करि कीजै आतु । जो आनै गीता को ध्यानु ॥२६॥
जो नीकै करि गीता पढ़ै । सब तजि कहिबे को नहि चढ़ै ।
गीता ग्यान हीन नरु इसो । सार माहि पसु बांधौ जिसो ॥२७॥
यातें समझै सारु असारु । बेग कथा करि कहे कुमारु ।
इतनो बचन कुवरु जब कह्यौ । धर्मक मनु धोखे परि रह्यौ ॥२८॥
सायर कौं बेरा करि तरै । कोऊ जिन उपहासहि करै ।
जौ मेरे चित गुरु के पाय । अरु जौ हियैं बसैं जदुराय ॥२९॥
तौ यह मोपै ह्वै है तैसें । कह्यौ करन अर्जुनकौं जैसें ।
सुनहि जे प्रानी गीता ग्यान । तिन समानि दूजौ नहि आनि ॥३०॥
संजय लीने अंध बुलाई । ताकौं पूछनि लागे राई ।
धर्म खेत्र कुरु जंगल जहां । कैरौं पांडव मेले तहां ॥३१॥
कैसे जुध कहा तह होई । मो सो बरनि सुनावो सोई ।
मेरे सुत अरु पंडो तनें । तिनकी बात सुमंजय भने ॥३२॥

संजय उवाच

दोउ दल चढ़ि ठाढ़े भये । जिर्जोधन गुरु पूछन लये ।
विरम अर्नी यह कही न जाई । आचारजहि दिखावै राई ॥३३॥
तेरे सिष्य पंडु के पूत । कुटल बचन तिन कहे बहुत ।
धृष्ट दमनु अरु अर्जुनु भीमु । मिवुन्तु सहदेराऊ भीमु ॥३४॥
राउ विराट द्रुपदु वर बीरु । कुन्त भोज रन साहस धीरु ।
धृष्टकेतु कासीश्वर राउ । कह्यौ न जाइ जिनहि बढ़वाउ ॥३५॥
महारथी द्रोपदी के पूत । एते दामै सुभट बहुत ।
मेरे दल मै जिते जुझार । सुनो द्रोन गुर कहौ भुवार ॥३६॥
पहिलै तू सब ही गुन सूरु । अरु भीषम रन साहस धीरु ।
कृपाचार्जु जयद्रथु चमूं । राजा सत्र गुरहान अनुकर्म ॥३७॥
अस्वत्थामा अरु भगदंत । बहुत राइ को जानै अंत ।
भांति अनेक गहहि हथयार । जानहि सबै जुद्ध को सार ॥३८॥
सब जोधा ए मेरे हेत । तजि जीवनि आए कुरुखेत ।
तिन महि भीषम महा जुझार । सबहि सैना को रखवार ॥३९॥
तीन भवन में जोधा जिते । भीषम की नहि सरवर तिते ।
इतने कहे राइ जब बैन । ठाढ़े सुने तहां गुर द्रोन ॥४०॥

अति आनंद पितामहि भयौ। उपज्यौ हरष संख करि लयौ।
सिंघनाथ गर्ज्यौ वर बीर। संकनु सुत रन साहिस धीर ॥४१॥
पूरे पंच सब्द तिन धने। नारायनि अर्जुन तन सने।
सेत तुरी रथ चढ़े मुरार। पंथ लिये गोविन्द हकार ॥४२॥
पंचजनेनु संख करि लिये। देवदत्त अर्जुन कों दिये।
आन जुझार पंड दल जिते। संखनि पूरन लागे तिते ॥४३॥
सुनि करि शब्द अंध सुत डरे। विनतौ पंथ क्रस्न सौं करै।

अर्जुन उवाच

कैरों पांडव को दल महा। मेरो रथ लै धारो तहां ॥४४॥
पहिलै इनहि देखौं पहिचानि। को मो सो रन जोधो आनि।
ए दुबुद्धि अंध के पूत। अब इन कीनीं कुमति बहूत ॥४५॥
संजै काया अंध सौं कहै। इतनी सुनि तब अर्जुन कहै।
लै रथ क्रस्न थापियै तहां। दोऊ दल रन ठाढ़े जहां ॥४६॥
देखे अर्जुन भीषम द्रोन। कर्न महाभट बर्नै कोनु।
भैया ससुर देख सब पूत। पंथहि बिथा भई जु बहूत ॥४७॥

अर्जुन उवाच

ए सब सुहृद हमारे देव। कै रन मंडौं बिनवों सेव।
सिथिल भयो सब मेरी अंग। कांपै हाथ करत रन रंग ॥४८॥
सूकै मुख अरु कंपहि जांघ। बहुत दुरा ता उपजै मन मांझ।
इष्ट मित्र क्यौं सकि यह मारि। गोपीनाथ तुम हिदैं बिचारि ॥४९॥
बरु पंडव के यूटै राज। मानो सुरी जुधिष्ठर भाजु।
हौं न क्रस्न अब जुधहि करौं। देखति हो क्यौं कुल संघरौं ॥५०॥
देखा सगुन कैसे बर बीर। ए बिपरीत जु गहर गंभीर।
सोऊ मौंको देखहि देव। होइ दुष्ट गति विनवौं सेव ॥५१॥
अर्जुन बोलै देव मुरारि। जिहि हौं जुगह तह होइ न हारि।
हौ न बिजी चाहौं आपनै। अरु सुख राज जुधिष्ठर तनै ॥५२॥
कहा राजु आवनु यह भोग। भैया बंध हनै सब लोग।
जिनकै अर्थ जोरियै दर्ब। देखति जिनहि होइ अति गर्ब ॥५३॥
राज भोग सुख जिनकै काम। तैं कैसे बधियै संग्राम।
द्रोन पितामहि बहुत कुवार। सार ससुर ते आदि अपार ॥५४॥
मातुल संबंधी हैं जिते। हौं गोविंद न मारौं तिते।
इन मारै त्रभुवन को राजु। जौ मेरै घरि आवै आजु ॥५५॥
हौं न धाउ धालौं इन देव। मधसूदन सौं बिनवौं सेव।
इन मारैं हमकौं फल कौन। अर्जुन कहै क्रस्न सौं बैन ॥५६॥

याही लगि हौं सेवौं बीर। इन मारौं सुख होइ सरीर।
अरु हम लोगन देई लोक। इनहि वधै बिगरै परलोक ॥५७॥
तातै हौं न इनहि संघरो। माधौ तुम सौं विनती करौं।
ए लोभी सुनि अरजन मुरारि। कछू न सूझै हिये मझारि ॥५८॥
कुरवा बधै दोष अति मान। मित्र दोष कै पाप समान।
कै यह पापु निवर्त्तौं हरी। पंथ अरजन सों विनती करी ॥५९॥
कुल षय भयै देखियै जबही। विनसै धर्म सनातन तबही।
कुल षय भयो देखिये जाई। बहुरि अधर्म होइ नव आई ॥६०॥
जब अरजन यह होइ अधर्म। तब यै सुन्दरि करैं कुकर्म।
दुष्ट कर्म वै करिहैं जबही। वर्ण मलदु कुल उपजैं तबही ॥६१॥
परहि पितर सब नर्क मझार। जौ कुटम्ब घालियै मार।
नारिन को नरु रषकु कोई। धर्म गये अपकीरत होई ॥६२॥
कुल धर्महि नरु बाटै जबही। परै नर्क संदेह न तबहीं।
यह मैं वेदव्यास पहिं सुन्यौं। बहुरि पंथ अरजन सो भन्यौ ॥६३॥
सोई एक अचम्भे मोहि। है करि जोरैं बुझौं तोहि।
तेरे संनिधान जो रहै। पापु न भेदै अर्जुन कहै ॥६४॥

छीहल बावनी[१]

कवि छीहल अग्रवाल, रचनाकाल १५८४ संवत्

ओंकार आकार रहित अविगति अपरम्पर।
अलप अजोनी संभ सृष्टिकर्ता विश्वंभर॥
घटि घटि अंतर बसइ तासु चीन्हइ नहिं कोई।
जल थलि सुरगि पयालि जिहाँ देख तिहँ सोई॥
जोगिन्द सिद्ध मुनिवर जिके प्रबल महातप सिद्धयउ।
छीहल कहइ तसु पुरुष को किण ही अन्त न लद्धउ ॥१॥
नाद श्रवण धावन्त तजइ मृग प्राण ततषिण।
इन्दी परस गयंद वारि अलि मरइ विचषण॥
लोयण लुबुध पतंग पडइ पावक पेषन्तउ।
रसना स्वादि विलगि मीन बज्झइ देखन्तउ॥
मृग मीन भँवर कुञ्जर पतंग ए सभ विणसइं इक्क रसि।
छीहल कहइ रे लोइया इन्दी राखउ अप्प वसि ॥२॥

---

१. अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, अतिशय क्षेत्र भांडार जयपुर, अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर लेखक द्वारा संपादित

याहीं लगि हौं सेवौं वीर । इन मारौं सुख होइ सरीर ।
अरु हम लोगन देई लोक । इनहि वधै बिगरै परलोक ॥५७॥
ताते हौं न इनहि संघरो । माधौ तुम सौं बिनती करौं ।
ए लोभी सुनि कृस्न मुरारि । कछू न सूझै हिये मझारि ॥५८॥
कुरवा वधै दोष अति मान । मित्र दोष कै पाप समान ।
कै यह पापु निवर्त्तौ हरी । पंथ कृस्न सौं बिनती करी ॥५९॥
कुल षय भयै देखियै जबही । बिनसै धर्म सनातन तबही ।
कुल षय भयो देखिये जाई । बहुरि अधर्म होइ नव आई ॥६०॥
जब कृस्न यह होइ अधर्म । तब वै सुन्दरि करैं कुकर्म ।
दुष्ट कर्म वै करिहैं जबहीं । वर्ण मलदु कुल उपजैं तबहीं ॥६१॥
परहि पितर सब नर्क मझार । जौ कुटम्ब घालियै मार ।
नारिन को नरु रषकु कोई । धर्म गये अपकीरत होई ॥६२॥
कुल धर्महि नरु बाटै जबही । परै नर्क संदेह न तबही ।
यह मैं वेदव्यास पहिं सुन्यौं । बहुरि पंथ कृस्न सो भन्यौ ॥६३॥
सोई एक अचम्भे मोहि । द्वै करि जोरैं बुझौं तोहि ।
तेरे संनिधान जो रहै । पापु न भेदै अर्जुन कहै ॥६४॥

छीहल बावनी[1]

कवि छीहल अग्रवाल, रचनाकाल १५८४ संवत्

ओंकार आकार रहित अविगति अपरम्पर ।
अलख अजोनी संभ सृष्टिकर्ता विश्वंभर ॥
घटि घटि अंतर बसइ तासु चीन्हइ नहिं कोई ।
जल थलि सुरगि पयालि जिहाँ देख तिहँ सोई ॥
जोगिन्द्र सिद्ध मुनिवर जिके प्रबल महातप सिद्धयउ ।
छीहल कहइ तसु पुरुष को किण ही अन्त न लद्धउ ॥१॥
नाद श्रवण धावन्त तजइ मृग प्राण ततखिण ।
इन्द्री परस गयंद बारि अलि मरइ बिचक्षण ॥
लोचन लुबुध पतंग पडइ पावक पेखन्तउ ।
रसना स्वादि बिलग्गि मीन बज्झइ देखन्तउ ॥
मृग मीन भँवर कुंजर पतंग ए सब बिणसइं इक्क रसि ।
छीहल कहइ रे लोइया इन्द्री राखउ अप्प बसि ॥२॥

---

१. अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, अभिदय जैन भंडार जयपुर, अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर लेखक द्वारा संपादित

ईस ललाट मज्झि गेह कीयो सु निरन्तर।
चहु दिस सुरसरि सहित वास तसु कीजइ अन्तर॥
पावक प्रबल समीपि रहइ रखवाल रयणि दिन।
प्रतिहार विसहर बलिष्ट सोवइ नहि इकु षिण॥
अतिहिं जतन छीहल कहै ईस मस्तक हिम कर रहइ।
पूर्व सौं लिख्यो चुकइ नहीं तवसि राह ससि कौं ग्रहइ॥९॥

उदरि मज्झि दसमासु पिण्ड देखियै बहुत दुष।
उर्ध होई दुइ चरण रयणि दिन रहइ अधोमुष॥
गरभ अवस्था अधिक जाणि चिन्ता चिंतै चित।
जइ छूटउँ इकवारि बहुरि करिहौं निज सुकृत॥
बोलइ ज बोल संकडु पडइ बहुडि जन्म जग महि भयौ।
लागी जु वाउ छीहल कहै सबै सुद्धि बीसरि गयौ॥१०॥

ऊसरि फागुण मास मेघ बरसइ घोरंकरि।
विधवा प्रतिव्रत तणौ रूप जोवन आनन परि॥
कवियण गुण विस्तार नृपति अविवेकी आगे।
सुपनन्तर की लच्छि हाथ आवइ नहिं जागे॥
करवाल कृपण कायर कराइ सुनि मेह दीपक ज्युं (?)
छीहलु अकारण ए सवै विनय जु कीजै नीच स्युं॥११॥

रितु ग्रीषम रवि किरण प्रबल आगमइ निरन्तर।
पावस सलिल समूह अधर भिल्लउ धाराधर॥
सीतकाल सीतल तुषार दूरन्तर टाल्यउ।
पत्त सही दुरवस्थ अधिक मिसप्पण पाल्यउ॥
रे रे पलास छीहल कहै धिक धिक जीवन तुझ तणो।
फूलीयौ मूढ अव पत्त तजि ए अयुत्त कीयउ घणो॥१२॥

रीतौ होइ सो भरै भरौ षिण इक मै ढालै।
राई मेर समाणि मेर जड सहित उपालै॥
उदधि सोषि थल करै थलि जल पूरि रहै अति।
नृपति मंगावइ भीख रंक कूं थपै छत्रपति॥
सत्र विधि समर्थ भाजन घडन कवि छीहल इमि उच्चरै।
निमिष मांझि करता पुरुष करण मतो सोई करै॥१३॥

लिखा तणइ परमाणि राम लच्छण वनवासो।
सीय निसाचर हरी भई द्रोपदि पुनि दासी॥
कुन्ती सुत वैराट गेह सेवक हुई रहियउ।
नीर भन्यउ हरिचन्द नीच घरि बहु दुष सहियउ॥
आपदा परै परिग्रह तजि भग्यो इकेलउ नृपति नल।
छीहल कहइ सुर नर असुर कर्म रेख व्यापइ सकल॥१४॥

लीनह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोम करि ।
करि रासभ आरूढ़ घालि आणियउ गूण भरि ॥
दे करि लत्त प्रहार मूढ़ गहि चक्कि चढ़ायौ ।
पुनरपि हाथहिं कूटि धूप धरि अधिक सुखायौ ॥
दीनी अगिनि छीहल कहइ कुंभ कहइ हउं सहिउ सब ।
पर तरुणि आइ टकराहणीं ये दुख सालेइ मोहि अब ॥१५॥

ए जु पयोहर जुगल अमल उरि मज्झि उवन्ना ।
अति उन्नत अति कठिन कनक घट जेम रवन्ना ॥
कहइ छिहल पिण एक दिट्ठि देखइ जे चतुर नर ।
धरणि पडइ मुरझाइ पीडउ उपजी चित अन्तर ॥
विधना विचित्र विधि चिंत कर ता लगि कीन्हउ किसन मुख ।
होइ स्याम वदन तिह नर तणौ जौ पर हिरदय देइ दुख ॥१६॥

अइ भइ तूं दुमराय न्याय गरु अत्तगतेरउ ।
प्रथम विहंगम लख आइ, तहँ लेइँ बसेरउ ॥
फल भुजंहि रस पीवइ अवर सतोषइँ काया ।
दुख सहइ तनि आप करइ अवरन कूं छाया ॥
उपकार लगी छीहल कहइ धनि धनि तू तरुवर सुपग ।
संचइ जु संपइ उदधि पर कजि न आवै ते कृपण ॥१७॥

अमृत जिमि सुरसाल चवति शुनि वदन सुहाई ।
पंखिन महँ परसिद्ध लहँ सो अधिक बड़ाई ॥
अंब वृच्छ मनि बसइ असइ निर्मल फल सोई ।
एहि गुण कोकिल माँहिं पेपि वन्दइ नहिं कोई ॥
पापिष्ठ नीच खंजन सुकर करत सदा क्रमि मल सुगति ।
छीहल्ल ताहि पूजइ जगत करम तणी विपरीत गति ॥१८॥
कबहूँ सिर धरि छत्र चढ़वि सुख आसन धावइ ।
कबहुँ इकेलउ भमइ पाव पाणही न पावइ ॥
कबहि अठारह भख करइ भोजन मन वंछित ।
कबहि न खलु संपजइ क्षुधा पीडित कलइ चित ॥
कबहि न तृण को साथरो कबहि रमइ तिय मात्र रसि ।
यहु भाइ छन्द छीहल कहइ नर नित नच्चइ देव वसि ॥१९॥
अहनिस मज्जन मच्छ कच्छ जल मझि रहइं नित ।
मीन सहित वग ध्यान रहइ लिउ लाइ एक चित ॥
उदर गुफा निवास मुंड गाडरी मुडावइ ।
पवन अहारी सर्प भसम खउ गदह चढ़ावइ ॥
दुगि मांहि कहउ किण यह लहउ कहा जोग साधइ जुगति ॥
छीहल कहइ निष्फल सबै भाव बिना नहु हुई सुगति ॥२०॥

खत्तिय रणि भंजणो विप्प आचार विहीणो।
तप तउ जीति कइ अंगि, रहै चित लालच लीणो॥
अबला सु तीय मिलउजे लज्ज तजि घरि घरि डोलइ।
सभा माँहि मुख देखि साखि जउ कूड़ी बोलइ॥
सेवक स्वामी द्रोह करि संग्राम न रहै एक छिण।
छीहल कहइ सु परिहरउ नृपति होइ विवेक विण॥२१॥

अन्त

लंछण ससि कउ दियउ किन्ह खार अति उदधिजल।
सफल एरंड धतूर नाग वल्ली सो नीफल॥
परमल विणु सोवन्न वाग्म कस्तूरी विविध परि।
गुणियन सम्पति हीण बहु लच्छिय कृपण घरि॥
तिय तरुणि बेस विधवापणउ सज्जन सरिस वियोगदुख।
एतले ठाँइ छीहल कहैं कियो विवेक न विधि पुरुष॥४०॥
होइ धनवन्त आलसी तउ उद्यमी पर्यपइ।
कोपवंत अति चपल तउ थिरता जग जंपइ॥
पत्त कुपत्त जनि लखइ कहइ तसु इच्छा चारी।
होइ बोलण असमत्थ ताइ गुरुअत्तण भारी॥
श्रीवन्त लक्ख अवगुण सहित ताहि लोग गुण करि ठँवइ।
छीहल कहै संसार मँहि संपत्ति को सहु को नँवइ॥५२॥
चउरासी अग्गल सइ सु पनरह संवच्छर।
सुकुल पक्ख अष्टमी कातिग गुरु वासर॥
हृदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो।
सारद तणइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो॥
नातिग वंस सिनाथु सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि॥५३॥

इति छीहल कवि बावनी सम्पूर्ण समाप्त संवत् १७१६ लिखितं पंडि भीष्म लिखतै व्यास हरि राय मइला मध्ये राज्य श्री सिवसिंघ जी राज्ये। संवत् १७१६ का वर्षे मिति बैसाख सुदि ५ शनि सुर वार में शुभं भवतु।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी

१ अकबरी दरबार के हिंदी कवि	सरजू प्रसाद अग्रवाल, लखनऊ।
२ अलंकार शेखर	केशवचन्द्र मिश्रकृत,सम्पादक शिवदत्त १९२६ ई०
३ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय	डा० दीनदयाल गुप्त, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००४।
४ आबे हयात	मुहम्मद हुसेन आजाद
५ उक्तिव्यक्ति प्रकरण	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, सं० मुनिजिन विजय।
६ उर्दू-शहपारे	डा० मोहिउद्दीन कादरी
७ उत्तरी भारत की संत-परंपरा	पं० परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग, २००८ संवत्।
८ उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
९ ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह	अगरचन्द नाहटा तथा भंवरमल नाहटा, कलकत्ता, संवत् १९९४।
१० ओझा निबन्ध संग्रह (प्र० भाग)	उदयपुर सन् १९५४।
११ कविप्रिया	केशव ग्रन्थावली खण्ड १ सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, १९५४।
१२ कबीर ग्रन्थावली	चतुर्थ संस्करण सं० बाबू श्यामसुन्दर दास संवत् २००८।
१३ कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद २०११ संवत्।
१४ काव्य निर्णय	भिखारीदास
१५ काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
१६ काव्यालंकार	रुद्रट
१७ काव्यादर्श	दण्डी
१८ काव्यालंकार	भामह
१९ क्रिसन रुकमिणी बेलि	नरोत्तम स्वामी द्वारा सम्पादित।
२० कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा	डा० शिवप्रसाद सिंह, प्रयाग सन् १९५५।
२१ कुमार पाल प्रतिबोध	गायकवाड़ सीरिज नं० १४ सम्पादक मुनि जिनविजय।
२२ कुंभनदास-पदसंग्रह	सम्पादक ब्रजभूषण शर्मा, विद्याभवन, कांकरौली, संवत् २०१०।
२३ खिलजी कालीन भारत	ले० सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, अलीगढ़ १९५८।

२४ गाथा सप्तसती	हाल
२५ गोरखबानी	डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
२६ गीतगोविंद	मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा सम्पादित बम्बई १९१३।
२७ गुरुग्रन्थ साहब	तरनतारन संस्करण, भाई मोहन सिंह
२८ चन्दबरदाई और उनका काव्य	डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी प्रयाग, १९५२।
२९ चिन्तामणि दूसरा भाग	रामचन्द्र शुक्ल, काशी, संवत् २००२।
३० जयदेव चरित	लेखक रजनीकान्त गुप्त, बांकीपुर।
३१ जायसी ग्रन्थावली	सम्पादक रामचन्द्रशुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा। संवत् १९८१।
३२ ढोला मारु रा दूहा	सम्पादक नरोत्तम स्वामी, ना० प्र० सभा, काशी १९९७ संवत्।
३३ दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य	ले० श्री राम शर्मा, हैदराबाद, १९५४।
३४ दशम ग्रन्थ	गुरुगोविन्द सिंह, अमृतसर।
३५ देशी नाम माला	द्वितीय संस्करण सं० परवस्तु वेंकट रामानुज स्वामी, पूना १९३८।
३६ नाट्य दर्पण रामचन्द्रकृत	ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट बरौदा १९२९।
३७ नाथ सम्प्रदाय	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी,हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग।
३८ पउम चरिउ	स्वयंभूदेव, सम्पादक हरिवल्लभ भायाणी, सिंघी जैन ग्रंथ माला, बम्बई।
३९ पउमसिरिचरिउ	धाहिल रचित, विद्याभवन बम्बई २००५।
४० परमात्मप्रकाश और योगसार	योइन्दुकृत सम्पादक, ए० एन० उपाध्ये। सिंघी जैन ग्रन्थमाला १९३७।
४१ पद्मावत	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, झाँसी, २०१२।
४२ प्रबन्धचिन्तामणि	सं० मुनिजिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला।
४३ प्राकृत व्याकरण	डा० पी० एल० वैद्य सम्पादित, बम्बई संस्कृत प्राकृत सिरीज १९३६।
४४ प्राकृत पैंगलम्	सम्पादक मनमोहन घोष, बिब्लिओथिका इण्डिका १९०२।
४५ प्राचीन गुर्जर काव्य	गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज नं० १३ सं० चिम्मनलाल डी० दलाल १९१९।
४६ पुरातन प्रबन्ध संग्रह	सम्पादक जिनविजय मुनि, सिंघी जैन ग्रंथमाला।
४७ पुरानी हिन्दी	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, ना० प्र० सभा काशी संवत् २००५।

४८ पुरानी राजस्थानी	तेसीतोरी, ना० प्र० सभा हिन्दी संस्करण १९५६।
४९ पृथ्वीराज रासो	सम्पादक मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ना० प्र० सभा, काशी १९१२।
५० पृथ्वीराज रासो	कविराज मोहन सिंह, उदयपुर, २०११ संवत्।
५१ बनारसी विलास	बनारसी दास जैन, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित सन् १९५५।
५२ बाँकीदास ग्रन्थावली	ना० प्र० सभा काशी, चतुर्थ संस्करण।
५३ ब्रजभाषा	डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४।
५४ बिहारी रत्नाकर	सम्पादक, जगन्नाथदास रत्नाकर, काशी।
५५ बीसलदेव रास	सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग, १९५३ ई०
५६ व्यास वाणी	प्रकाशक राधाकिशोर गोस्वामी, वृन्दावन १९९४ संवत्।
५७ भक्तमाल	नाभादास, सम्पादक श्रीसीतारामशरण भगवान् प्रसाद, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १९५१।
५८ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी	डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, हिन्दी संस्करण १९५४ दिल्ली।
५९ भोजपुरी भाषा और साहित्य	डा० उदयनारायण तिवारी, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४।
६० मध्यदेश और उसकी संस्कृति	डा० धीरेन्द्र वर्मा, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४।
६१ मध्यदेशीय भाषा	हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर २०१२।
६२ मानसिंह और मानकुतूहल	हरिहर निवास द्विवेदी।
६३ महाराणा सांगा	हरविलास शारदा, अजमेर १९१८।
६४ मीराबाई की पदावली	सं० परशुराम चतुर्वेदी।
६५ मीराबाई का जीवन चरित	मुंशीदेवी प्रसाद, लखनऊ।
६६ युगल शत	श्रीभट्ट देव, सम्पादक श्री ब्रजविहारी शरण, वृन्दावन, २००६ संवत्।
६७ राजस्थानी भाषा और साहित्य	मोतीलाल मेनारिया, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २००६ विक्रमी।
६८ राधा का क्रम विकास	शशिभूषणदास गुप्त, हिन्दी संस्करण सन् १९५६ काशी।
६९ राजपूताने का इतिहास दूसरा खण्ड	महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचन्द ओझा,
७० रैदास जी की बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
७१ राजस्थानी भाषा	डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, उदयपुर १९४९।

७२ राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज — मुंशीदेवी प्रसाद, संवत् १९६८।

७३ रागकल्पद्रुम — कृष्णानन्द व्यास देव द्वारा संकलित, वंगीय साहित्य परिषद् द्वारा १९१४ ई० में प्रकाशित।

७४ विद्यापति पदावली — सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी, लहेरिया सराय, पटना।

७५ संगीतज्ञ कवियों की हिंदी रचनायें — सम्पादक नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, साहित्य भवन, प्रयाग १९५५ ई०

७६ संतकाव्य संग्रह — परशुराम चतुर्वेदी

७७ साहित्यदर्पण — कविराज विश्वनाथ

७८ सूरदास — रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित सरस्वती मन्दिर जतनबर काशी, संवत् २००६।

७९ सूर साहित्य — नवीन संस्करण डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी १९५६ बम्बई।

८० सूरसागर — सम्पादक नन्ददुलारे वाजपेयी, ना० प्र० सभा, काशी संवत् २००७।

८१ हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल छठां संस्करण, काशी संवत् २००७।

८२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल — डा० हजारी प्रसाद, द्विवेदी पटना १९५४।

८३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा, संशोधित सस्करण १९५४।

८४ हिन्दी भाषा : उद्‌गम और विकास — डा० उदयनारायण तिवारी, भारती भंडार, प्रयाग, संवत् १९५५।

८५ हिन्दी भाषा का इतिहास — डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग।

८६ हिन्दी काव्यधारा — राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग १९५४।

८७ हिन्दुई साहित्य का इतिहास — (तासी) हिन्दी संस्करण, डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय।

८८ हिन्दी साहित्य की भूमिका — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, प्रथम संस्करण १९४०।

गुजराती

१ काव्यासार — डा० हरिवल्लभ भायाणी, भारतीय विद्या भवन बम्बई १९५४।

२ वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास — श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री।

३ भालण कृत दशम स्कन्द — सम्पादक इ० द० कांटावाला, बड़ौदा १९१५।

४ गुजराती साहित्य ना स्वरूपो — डा० मंजुलाल मजूमदार, बड़ौदा, १९५४।

५ प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ	सम्पादक मुनि जिनविजय, गुजरात विद्या अहमदाबाद, १९८६ संवत् ।
६ प्राचीन गुर्जर काव्य	केशवलाल हर्षदराय ध्रुव बी० ए०, गु वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद १९८३ ।
७ जैन गुर्जर कवियो	मोहनलाल दलीचंद देशाई,जैन श्वेताम्बर बम्बई, ई० सन् १९२६ ।
८ आपणां कवियो खण्ड १ (नरसिंह युगनों पहेलां)	केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात। वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद १९४२
९ बुद्धि प्रकाश	अप्रिल, जून १९३३ ।
१० रामचन्द्र जैन काव्यमाला	गुच्छक पहेलों ।
११ हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक	११ नवम्बर बम्बई १९४६ ।

असमिया

१ बरगीत, महापुरुष श्री श्री शंकरदेवेर आरु श्री श्री माधवदेवेर विरचित	सम्पादक श्री हरिनारायण दत्त बरुआ बलरा असम ई० १९५५ ।
२ श्री शंकर देव	डा० महेश्वर नेओग, गुवाहाटी ।

हिन्दी पत्र-पत्रिकायें

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका	ना० प्र० सभा, काशी ।
२ विश्व भारती	खण्ड ६ अंक २
३ सम्मेलन पत्रिका	पौष १९९६ संवत्
४ हिन्दी अनुशीलन	वर्ष ७ अंक ४, १९५५ ई०
५ राजस्थान-भारती	भाग १, अंक २, ३
६ त्रिपथगा	अंक १०, जुलाई, १९५६ ई०
७ आलोचना (त्रैमासिक)	अंक १६, १९५६ ई०
८ कल्पना	सितम्बर १९५४, जुलाई-अगस्त १९५६
९ विशाल भारत	मार्च १९४६
१० नवनीत	अप्रैल १९५६
११ सर्वेश्वर	वर्ष ४ अंक ६
१२ राजस्थानी	कलकत्ता जनवरी १९४०
१३ ब्रज-भारती	मथुरा ।

कोष और खोज-विवरणादि

१ विश्वकोश खण्ड १	
२ प्रशस्ति संग्रह	सं० कस्तूरचंद कासलीवाल, [illegible], प्रकाशक, अतिशय क्षेत्र जयपुर, १९५० ई०

३ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ — सम्पादक, वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रकाशक ब्रजमण्डल, मथुरा।

४ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज का विवरण — १९०० से १९४६ तक—ना० प्र० सभा

५ आमेर भाण्डार की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची — भाग १, सम्पादक कस्तूरचंद कासलीवाल अतिशय क्षेत्र, जयपुर १९५४।

६ राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रन्थप्रशस्ति — भाग १, सम्पादक कस्तूरचंद कासलीवाल अतिशय क्षेत्र, जयपुर १९५४।

हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

१ प्रद्युम्न चरित — सधार अग्रवाल, रचनाकाल १४११ वि० प्रति श्री बधीचंद जैन मंदिर जयपुर में श्री कस्तूरचंद कासलीवाल के पास सुरक्षित है।

२ रविवार व्रत कथा — कवि भाऊ अग्रवाल, आमेर भाण्डार, जयपुर की प्रति।

३ हरिचंद पुराण — जाखू मणियार, रचनाकाल संवत् १४५३, प्रति अभय जैन ग्रन्थ पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित है।

४ महाभारत कथा — विष्णुदास, रचनाकाल वि० १४९२ प्रति दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित है।

५ स्वर्गारोहण पर्व — ” ”

६ रुक्मिणी मंगल — विष्णुदास, रचनाकाल वि० १४९२ प्रति वृन्दावन के गोस्वामी राधाराम चरण के पास सुरक्षित है।

७ लखमणसेन पद्मावती कथा — कवि दामो, रचनाकाल १५१६ वि०, प्रति अभयजैन पुस्तकालय बीकानेर में।

८ डूंगर बावनी — कवि डूंगर उपनाम पद्मनाभ, रचनाकाल वि० १५३८, प्रति अभयजैन पुस्तकालय, बीकानेर में।

९ बैताल पचीसी — कवि मानिक, रचनाकाल वि० १५४९, प्रति कोशी कलां मथुरा के पंडित रामनारायन के पास सुरक्षित है।

१० पंचेन्द्रियबेलि — कवि ठक्कुर सी, रचनाकाल १५५०, प्रति अतिशय क्षेत्र जयपुर के संग्रह में।

११ नेमराज मतिबेलि — कवि ठक्कुरसी, रचनाकाल १५५०, प्रति अतिशय क्षेत्र जयपुर के संग्रह में।

१२ छिताई वार्ता	कवि नरायनदास, रचनाकाल १५५० के लगभग, प्रति अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित है।
१३ गीता-भाषा	कवि थेघनाथ, रचनाकाल १५५७ वि० प्रति याज्ञिक संग्रह आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी।
१४ मधुमालती कथा	चतुर्भुजदास कायस्थ, रचनाकाल, १५५० के लगभग, प्रति उमाशंकर याज्ञिक, लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। ग्वालियर में इसकी कई प्रतियों के होने की सूचना मिली है।
१५ नेमीश्वर गीत	चतरुमल, रचनाकाल १५७१ संवत्, प्रति आमेर भाण्डार में सुरक्षित है।
१६ धर्मोपदेश	धर्मदास, रचनाकाल १५७८ प्रति आमेर भाण्डार में।
१७ पंच सहेली	कवि छीहल, रचनाकाल १५७८, प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी के राजस्थानी सेक्सन में। नं० ७८, नं० १४२, नं० २१७, नं० ७७–चार प्रतियाँ उपलब्ध।
१८ छीहल बावनी	कवि छीहल, रचनाकाल, १५७८ प्रतियाँ आमेर भाण्डार, जयपुर, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर तथा अनूप संस्कृत लायब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित।
१९ रतनकुमार रास	वाचक सहज सुन्दर, रचनाकाल १५८२, प्रति अभयजैन ग्रंथ पुस्तकालय बीकानेर में।
२० प्रह्लाद चरित	कवि रैदास रचित, रचनाकाल १५ वीं शताब्दी, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित। 'प्रह्लाद लीला' नाम से एक अन्य प्रति भी प्राप्त।
२१ हरिदासजी की परचई	हरिरामदास, रचनाकाल अज्ञात, हरिदास निरंजनी सम्बन्धी विवरण के लिए महत्त्वपूर्ण। प्रति दादू महाविद्यालय के स्वामी मंगलदास के पास।
२२ हरिदास के पद और साखियाँ	कवि हरिदास निरंजनी, रचनाकाल १६ वीं शताब्दी, प्रति डा० बड़थ्वाल के निजी संग्रह में।

२३ युगल सत	कवि श्री भट्टदेव विरचित, रचनाकाल १६ वीं शती, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है।
२४ परसुराम-सागर	कवि परशुराम देवाचार्य। रचनाकाल १६ वीं शती, ग्रन्थ में १३ रचनायें संकलित, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में। दूसरी प्रति श्री कुंज वृन्दावन के श्री ब्रजवल्लभ शरण के पास। पं० मोतीलाल मेनारिया के सूचनानुसार तीसरी प्रति उदयपुर में प्राप्त जिसमें बाइस रचनायें संकलित हैं।
२५ नरहरि भट्ट के फुटकल पद और वाद संज्ञक रचनायें	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
२६ वेलि क्रिसन रुक्मिणी की रसविलास टीका	कवि गोपाल, रचना संवत् १४४०। अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में प्रति सुरक्षित।

अंग्रेजी

1. A Grammar of the Braj bhakha. — By Mirza khan, Ed. By Sri Ziauddin, Shantiniketan 1934.
2. An Outline of the Religious Literature of India. — Dr. J. H. Farquhar.
3. A Grammar of the Hindostani Language with Brief notes of Braj and Dakhini Dialects. — By J. R. Ballentyne, London, 1842.
4. Ancient History of Near East. — H. R. Hall, London 1943.
5. Avesta Grammar. — A. B. W. Jackson.
6. A Short Historical Survey of Music of Upper India. — V. N. Bhatkhande.
7. Aspects of Early Assamese literature. — Ed. By Banikant Kakati, Guahati, 1953.
8. Assamese literature. — Dr. B. K. Barua, P. E. N. Bombay, 1941.
9. A History of Indian Literature. — H. Winternitz, Calcutta, 1933.
10. Annals and Antiquities of Rajasthan. — By. Col. James Tod.
11. A Comparative Grammar of the Gaudian Language. — By R. Hoernle, London, 1880.
12. A Grammar of Hindi Language. — By. S.H. Kellogg London, 1893.
13. A Comparative Grammar of Modern Aryan Languages of India. — J. Beames London 1875.
14. Bhavisatta kaha. — Harmann Jacobi.
15. Bhavisatta kaha of Dhanpal. — P. D. Gune, G. O. S. Baroda 1923.
16. Buddhist India. — T. W. Roydeveis, London 1903.
17. Classical poets of Gujrat. — G. M. Tripathi, Bombay.
18. Dictionary of world Literary Terms. — Joseph. T. Shipley, London, 1955.
19. Essays on the Sacred Languages, writings, Religions of Parsis and Aitareya Brahmana. — Martin Haug London 1860.
20. Encyclopaedia of Religion and Ethics. — James Hestings, London.
21. Gujrati Language and Literature. — N. V. Divatia Bombay 1921.

22. Gujrat and its literature. K. M. Munshi, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay 1954.
23; Hindi and Brajbhakha Grammar. J.R.Ballentyne London, 1839.
24. History of India. A.R. Hoernle and H. A. Stark Calcutta, 1904.
25. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits. M.A. Mahandale Poona, 1948.
26. Historical Grammar of Apabhramsa. G. V. Tagare Poona, 1948.
27. Indo Aryan and Hindi. S. K. Chatterji, Ahmedabad, 1942.
28. Literary Circle of Mahamatya Vastupal and Its contribution to Sanskrit literature. B. J. Sandeara S. J. S. No. 33.
29. Linguistic Survey of India. G.A.Grierson Vol.IX, Calcutta 1905.
30. Life aud work of Amir khusro. M. B. Mirza.
31. Life in Ancient India in the age of Mantras. P.T.Srinivas Ayangar,Madras, 1912.
32. Memoirs of the Archeological Survey of India No. 5. Sri Rrm Pd. Chanda.
33. Morawall Inscription. Epigraphica Indica, Report of the Archeological Survey of India, For Kankaliteela Excavation 1889-91.
34. Medieval Mysticims of India. K. M. Sen.
35. Milestones in Gujrati literature. K. M. Jheveri, Bombay 1914.
36. Music of Southern India. Capt. Day.
37. Method and Material of literary Criticism. Galay.
38. Origan and Development of the Bengali Language. S.K. Chatterji, Calcutta, 1926.
39. On the Indo Aryan Vernaculars. G. A. Grierson.
40. Preliminary Report on the Operation in Search of Manuscripts of Bardic Chronicles. H. P. Shastri.
41. Pali Grammatik (German) W. Griger, 1913.

42. Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legends. — New York, 1950.
43. Scientific History of Hindi Language. — S. S. Narula, 1955
44. Sandesa Rasaka. — Edited by Muni Jin Vijaya Linguistic Study by Dr. H. B. Bhayani. Bombay 1946.
45. Sidha Sidhant Paddhati — Dr. Kalyani Mallik, Poona 1954.
46. The lyrical poetry of India. — In India New and Old by E. W. Hopkins.
47. The ten Gurus and their Teachings. — Baba C. Singh.
48. The History of India, as told by its own Historians. — Henery Illiot.
49. The Linguistic speculations of Hindus. — P. C. Chakraborty, Calcutta.
50. The Ruling chiefs and Leading personages in Rajputana. — VI Edition.
51. Vedic Grammar. — Dr. Macdonell IV Edition 1955.
52. Vedic Index. — Macdonell & Keith 1912.
53. Varnaratnakar of Jyotirishwar. — Bibliotheca Indica Edited by Chatterji and Babuaji Misra, Calcutta, 1940.
54. Vaishnavism, Shaivism and other minor Religious Systems. — R. G. Bhandarkar.
55. Wilson's Philological Lectures. — R. G. Bhandarkar.

ENGLISH PERIODICALS

1. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal—1875; 1908.
2. Bulletin of the School of Oriental Studies—Vol. I, No. 3.
3. Journal of the Department of Letters of Calcutta University—Vol 23, 1933.
4. Proceedings of the Eighth Oriental Conference Mysore, 1935
5. Viena Oriental Journal—Vol. VII, 1893.
6. Indian Culture, 1944.
7. Proceedings of the Asiatic Society of Bengal January 1893
8. The Calcutta Review, June 1927.

अनुक्रमणिका

नामानुक्रम

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठ सं०	पंक्ति	शुद्ध
१८२	[५]	१६	१५८२
सूरका	[८]	३	सूरकी
सनेह सीला	८	२१	सनेह लीला
मध्यप्रदेश	१५	१	मध्यदेश
ऐसे आन	१६	२२	एसे आन
भारतीत	३३	२६	भारतीय
yogagara	३६	३५	yogasara
Dhavisatta	३६	३६	Bhavisaytta
आनन्द	४७	३४	आन द
तीर्थंकर	४८	१५	मुनि
सुपार्श्व	४८	१५	जम्बूस्वामी
जन्मभूमि	४८	१५	निर्वाण भूमि
प्राकृति	८७	१२	प्राकृत
Inuroduction	८७	३५	Introduction
Morophologs	६४	२६	Morphology
राजेश्वर	६७	१	राजशेखर
प्रचोन	६७	१४	प्राचीन
चन्द्रमोहन	६६	३२	मनमोहन
Sinplification	१०३	५	Simplification
वलया	१०४	३१	वलया
Short	१२५	३४	Sort
विक्रर्का	१६६	२१	विक्रमी
यतनकुमार	१७२	१	रतनकुमार
हनुमाम्	१८०	२७	हनुमान्
में भाषारूप है।	१६२	७	में
भुषवल	२३२	६	भुजबल
स्याम	३३४	२८	स्याम
तुम ये	२६७	११	तुम पै